



समय की रेत पर



ज्योतिष जोशी

समय की रेत पर

समय की रेत पर

ज्योतिष जोशी



खेत्र मुकाबला

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। किसी भी रूप में इसके संपूर्ण या किसी अंश के पुनरुत्पादन के लिए प्रकाशक/लेखक की पूर्वानुमति आवश्यक है।

ISBN : 978-93-93758-60-6

प्रकाशक : सेतु प्रकाशन प्रा.लि.
सी-21, सेक्टर-65
नोएडा (उत्तर प्रदेश) 201301

शाखा : लक्ष्मी पुस्तकालय, नवीन कोठी, खुदाबख्शा लाइब्रेरी के सामने,
अशोक राजपथ, निकट—स्टेट बैंक चौहट्ठा, पटना-800004

Web : www.setuprakashan.com
Email : setuprakashan@gmail.com

मूल्य : ₹499

© ज्योतिष जोशी

प्रथम संस्करण : 2023

10 9 8 7 6 5 4 3 2 1

आवरण : प्रियंका सिन्हा। शीर्षक—‘अनफ्रेम्ड’
आकार—26×26 से.मी. माध्यम—एक्रिलिक, वर्ष 2020

मुद्रक : थॉमसन प्रेस
18/35, दिल्ली-मथुरा रोड, फरीदाबाद 121007 (हरियाणा)

SAMAY KI RET PAR (*Novel*)
by Jyotish Joshi

सहधर्मिणी विमला मिश्र के लिए

आरम्भिक

पिछले दिनों लखनऊ प्रवास के दौरान चौक की एक गली से गुजरते हुए फटी हुई और चिन्दी-चिन्दी होकर बिखरी एक पुरानी डायरी पड़ी मिली। उसमें तरतीब से कुछ भी न था। अलग-अलग पृष्ठों पर कुछ वाक्य थे और जगह-जगह काट-छाँट के निशान। उनको जोड़कर, कुछ बुद्धि और कुछ कल्पना से जो कथा उभरी, उसे यहाँ एक क्रम में रखने का प्रयास है। कथा कितनी वास्तविक है, कितनी काल्पनिक, इसका अपना कोई दावा नहीं है। अपना काम तो बस इतना ही रहा है कि बिखरे हुए पनों को मिलाकर उसमें रंग भर दिया जाए।

एक

वह जी रहा है। इस बीच उसने बहुत कुछ झेला है, बहुत कुछ छूट गया है, कुछ है जो अब भी शेष है, जी रहा है—इसी उधेड़बुन में जी रहा है कि शायद उसका भवितव्य अब भी उसे कोई ठौर दे पाये, अपने पर भरोसा है और किंचित आत्म-विश्वास भी, कि शायद अब भी कुछ ऐसा घटे जो जीवन पर उसे यकीन दे सके। शायद यह हो, शायद ऐसा ही हो। वह अक्सर ऐसा ही सोचता है—अपने में खोते जाने की पुरानी आदत है उसकी। गनीमत है कि वह खो न सका, बचा रह गया है, इसीलिए तो वह है, वर्ना इसकी भी सम्भावना थी कि वह रहता ही नहीं। अक्सर उसे इसी तरह सोचते देखा गया है। अपने पर झुँझलाते, बरसते, लोगों के बीच भी अकेले हो जाने और कहीं और टिकने का उसका स्वभाव किसी को अच्छा नहीं लगता। वह कब कैसा रहेगा, कैसा व्यवहार करेगा, किस क्षण उसमें क्या घटित होगा, यह उन बरसाती बादलों की तरह होता जो क्षण में बरसते हैं और क्षण में ही विलुप्त हो जाते हैं जैसे कि उनका कोई आसरा ही न हो। ऐसा न समझें कि वह इसी तरह का है। वह बहुत सच्चा और खरा है। आप उस पर यकीन कर सकते हैं, पर उसे अपने पर ही यकीन नहीं होता। कोई राह भी नहीं इसकी कि वह अपने में पक्का हो सके। टूट-टूटकर बार-बार बिखरने के बाद वह बचा रह सका है तो शायद यह उसकी शक्ति ही है, कोई दूसरा होता तो ऐसा भी रहता, कहना कठिन है। कई बार ऐसा हुआ है कि वह अपने से ऊबा है, खुद पर झल्लाकर

उसने जीवन खत्म करने की सोची है, पर हिम्मत बटोरकर जिन्दा रहना तय किया है तो इसमें उसकी दृढ़ता की कम, जिम्मेदारियों की भूमिका अधिक है। जिम्मेदारी, हाँ, जिम्मेदारी। माँ-बाप, भाई-बहन, पत्नी-बच्चे। सबकी देख-रेख और उनके लिए जीने के शगल ने ही उसको जिलाए रखा है वरना तो...

‘नहीं नहीं। ऐसा भी नहीं है कि मैं परिस्थितियों से लड़ नहीं सकता। टूट नहीं सकता कभी मैं अन्तिम क्षण तक। लेकिन कब तक कोई लड़ता ही रहे। कभी तो अन्त हो इसका। सब तरफ अँधेरा ही अँधेरा तो है।’ वह ऐसा कहकर सिर झटकता और फिर किसी बीते दिन में डूब जाता। 2004 की बात है, जब उसके पिता ने अपनी अन्तिम साँस ली थी। करीब छह महीनों की लगातार भागदौड़ और सेवा-सुश्रुषा के बावजूद वह उन्हें बचा नहीं पाया था। दिल्ली के सफदरजंग अस्पताल के निजी वार्ड के कमरा नम्बर 63 में अस्पताल से छुट्टी के ठीक एक दिन पहले अचानक वे बेसुध हो गये। देह का बायाँ हिस्सा निस्पन्द हो गया। साँसें बेतरतीब हो गयीं। लगातार भागदौड़ करने के बाद डॉक्टरों ने उन्हें आई.सी.यू. यानी गहन चिकित्सा कक्ष में दाखिला दिया। उसकी साँसें चढ़तीं, दिल बैठता जाता। अज्ञात की आशंका से वह अन्दर से काँप उठता। पर हुआ वही जो होना था। डॉक्टरों की भरपूर मेहनत के बावजूद उन्हें बचाया न जा सका और वे चले गये। उनका जाना उसके लिए एक बड़ी विपदा का कारण बना। घर टूट रहा था। भाई सँभाले नहीं सँभल रहे थे। उनकी पत्नियों के बीच कहा-सुनी और ईर्ष्या-द्वेष की आग सब कुछ झुलसा देने पर आमादा थी। वह क्या करता? पिता के पार्थिव शरीर को अग्नि के हवाले कर, अन्तिम कर्म सम्पन्न कर श्राद्ध के लिए गाँव गया। अपनी बची-खुची पूँजी से लोकापवाद से बचने की जो भी युक्ति हो सकती थी, उसने की। घर को बचाने की कोशिश भी और अपने को टूटने से बचाने की भी। पागलों जैसी हालत में रोता-पिटता दिल्ली लौटा पर अब वह खाली था। इस बीच उसने पिता की बीमारी

में लाखों लुटा दिये, घर चलाने की मुश्किल सामने थी। उसने फिर हिम्मत की, मेहनत से फिर गृहस्थी जमायी पर पिता के गुजरने का गम कभी जाता नहीं। कहीं भी वह बिलखने लगता, उसका रोना सुन शायद ही कोई होता, जिसका सीना चाक न होता। वह कहता—‘पिता थे तो लगता था कि सब कुछ है। कहीं कोई दुख नहीं, कोई बोझ नहीं अपने सिर। अब जबकि वह नहीं हैं, सब कुछ अपने ही कन्धों पर है। अँधेरा है, कुहासों से भरे दिन हैं, सब तरफ अवसाद बिखरा है—और एक अकेला मैं, सिर्फ अकेला सबसे लड़ने को छोड़ दिया गया हूँ।’

हम कहते—‘सबके पिता जाते हैं। कोई यहाँ रहने नहीं आया। हम सब एक दिन चले जाएँगे। कहीं कुछ न होगा। बस हम न होंगे। पर ऐसा भी क्या था तुम्हारे पिता में कि तुम उनके न होने से खुद की ज़िंदगी को बोझ बना देने पर तुले हो?’

वह पहले तो चुप्पी ओढ़ लेता। फिर धीरे-धीरे नपे-तुले शब्दों में बोलता—‘नहीं, ऐसा नहीं कि मेरे पिता कोई नायाब थे। ऐसा भी नहीं कि उन्होंने एक पिता का कर्तव्य भी कायदे से निभाया हो। फिर भी वे पिता थे, मेरे पिता।’

हमें आश्चर्य होता, हम समझ न पाते। प्रश्न करते, उसकी बातों पर चौंकते। वह धीरे-धीरे फिर बोलने लगता—

‘पिता थे मेरे। गरीब माँ-बाप की सन्तान। दादा को बँटवारे में मिली ज़मीन देसी रियासत के कर्ज में नीलाम हो गयी थी। दादा ने अपनी दो बड़ी बेटियों की शादी जैसे-तैसे करके मुक्ति पायी। अब उनके पास कुछ न बचा था। जो ज़मीन बची थी, उसमें गुजर भर के अनाज हो जाते लेकिन पेट भरने के अलावा दूसरी जरूरतों के लिए अधन्नी भी न होती। ऐसी हालत में पिता पढ़ न सके और ग्यारह साल की उम्र में घर से आसाम गये जहाँ काम करके कुछ कमा सकने की सम्भावना थी। यह बात 1940-45 की रही होगी। तब आसाम और बंगाल पूरबियों के लिए जीने का आसरा थे। लोग कलकत्ता भी खूब जाते थे। चटकल मिलों और दैनिक मजदूरी के दूसरे कामों में

आदमियों की माँग होती। पर कलकत्ता न जाकर पिता ने आसाम की राह ली। सिल्चर, घुबरी, नौगाँव, ग्वालपाड़ा जैसी अनेक जगहों पर बन रहे पुलों, सड़कों के कामों में मजदूरी कर घर चलाते पिता ने अपनी ज़िंदगी गर्क कर गृहस्थी सँभाली। फिर उनकी शादी हुई। इस तरह वे अनेक जगहों पर रहे, खूब मेहनत की और एक-एक पाई जोड़कर ज़मीन खरीदी। घर बनवाया और एक से एक आए बवाल झेले।'

उसने फिर चुप्पी साथ ली। हम सोच में पड़े रहे और इन्तजार करते रहे कि वह इसके आगे कुछ बोलेगा। वह चुप रहा। हमने उसकी तन्द्रा भंग करने की चेष्टा की—‘देखो, यही जीवन है। आसमान पर टँगे बादलों को देखो। कितने रंग हैं इनके। सफेद, काले, धूसर, मटमैले, न जाने कितने। हवा के साथ ये खेलते हुए चलते हैं और न जाने कहाँ लय हो जाते हैं। लेकिन जब तक वे होते हैं, धरती की प्यासी छाती को सींचते हैं। धरती की कोख से जन्मी प्रकृति बादलों के बलिदान से लहलहाती है। आसमान टँगा रहता है, उसको धरती से ईर्ष्या होती है और कारण होते हैं बादल, जो धरती को जीवन देते हैं और मिट जाते हैं। लेकिन हम उन्हें भूलते नहीं। हमारे पिता बादल ही हैं। हम भी बादल होंगे, हमारे बच्चे भी और एक दिन हम सबको हवा के साथ खेलते मिट जाना है—बादल फिर होंगे, बारिश फिर होगी, धरती रहेगी और उसकी कोख से जन्मी प्रकृति भी जो सबको जीवन देती है।’

‘मेरा मतलब इसी से था। बहुत दुख उठाये, मुसीबतें झेलीं। कभी जीवन का सुख न जाना पिता ने। और जब थोड़े आराम का समय आया तो...’ कहते-कहते वह फिर छलछला उठा और फूट-फूटकर रोने लगा।

कुछ समय बाद स्वतः शान्त होकर बोल पड़ा—‘दादा के मरने के कुछ वर्ष पहले से बाहर जाने का काम बन्दकर पिता ने खेती-गृहस्थी में ही खुद को लगाया। दादा की हर बात मानी। उनकी उस

अप्रतिम पितृभक्ति का उदाहरण मेरा विवाह है जिसे दादा की आज्ञा से तब किया गया जब मेरी उम्र 11 साल की थी और मैं सातवीं में पढ़ता था।'

हम फटी आँखों से विमूढ़ होकर उसे देख रहे थे। वह क्या कह रहा है! इस उम्र में कोई विवाह होता है? और पिता, जिनकी याद में यह डूबा जा रहा है, उन्हें क्या पड़ी थी यह करने की?' दादा की अकल भी ठिकाने नहीं थी क्या? ओफ...। अजीब हैं सब। कैसे सुधरेगा समाज, जब घर के बड़े-बूढ़े ही इस तरह के क़दम उठाते रहेंगे?

'मेरे विवाह को लेकर पिता को जल्दी नहीं थी। दादा पोते का विवाह देखना चाहते थे। माँ बीमार रहती थी। ऐसे में निर्णय हो गया कि विवाह हो। हमें तब क्या पता था कि व्याह क्या होता है! और वह हुआ।'

'खूब धूम-धड़ाका। बाजे-गाजे, नाच पार्टी और देहाती तामझाम के साथ विवाह का रस्म पूरा हुआ। घर के सारे माल-असबाब बेटे के विवाह में उड़ा पिता खाली हो गये। गृहस्थी चलानी मुश्किल होने लगी। खेतों में पैसा झोंके बिना अनाज नहीं होता। पैसा झोंकना हो तो बाहरी आमदनी हो या खेत बेचा जाए। मेरे घर में बाहरी आय न थी और खेत भी इतने न थे कि उन्हें बेचकर गृहस्थी सुधारी जाती। बसर मुश्किल हुई। किसी तरह दिन कटते। जाड़े में सर्दी सहते और बरसात में लू के थपेड़ों से भी कठिन, आए दिन की जिंदगी भविष्य की राह को भयानक बनाती। घर में व्याहता, बाहर चिल पों। एक-एक चीज़ की कमी। अभाव में दिन झेलते बरस बीते, पढ़ाई की रस्म पूरी होती रही और एक दिन ऐसा भी आया कि जब उसने मैट्रिक की परीक्षा प्रथम श्रेणी से पास की। घर में जश्न। पता नहीं बेटा अब क्या-क्या बनेगा। उत्साह में लोग बौराये जाते। किसी के पैर ज़मीन पर न पड़ते। पिता की आँखों में चमक आ गयी थी। दादा पहले से अधिक वाचाल हो गये थे। माँ अब अकेले में भी सोहर गाने लगी थी।

ये वे दिन थे जब नयी हवा चली थी। यह कोई और मौसम था जिसमें धूप नहीं लगती। लू के थपेड़े शीतल हवा के झोंके लगते। प्रचण्ड गर्मी में शीतलता आ गयी थी। एक अदृश्य शक्ति ने पूरे घर को स्फूर्त कर दिया था। जुलाई 1981 की वह घटना आज भी उसे रोमांच से भर देती है और वह सब कुछ भूलकर उन दिनों में खो जाता है। कैसे दिन, ओह, कितने सपनीले और कितने सुहाने।'

ऐसा होता है। वर्तमान के त्रासद जीवन में जब भविष्य की कोई उम्मीद बँधती है तो हम एक नये संसार में दाखिल हो जाते हैं। दिन छोटे हो जाते हैं, रातें बिला जाती हैं और एक-एक पल खुशी के झोंके जैसे आते हैं और उसमें हमारी मुर्दनी गुम हो जाती है। होता यह भ्रम ही है पर उम्मीद जीवन का दूसरा नाम है। वह एक प्रति संसार गढ़ती है जिसमें हम शामिल होने की कल्पना मात्र से ही वर्तमान के दुख को भूल से जाते हैं। दुख का वजन हल्का हो जाता है और आँखों की कोरो में कहीं छुप सा जाता है। खुशी कुछ और भले न दे, वह आँसुओं में दुख को बहा ले जाने का यत्न करती है। मुझे उसकी बातें सुनकर ऐसा ही लगा और महसूस हुआ कि एक गरीब परिवार इस एक सफलता मात्र में ही अपने दुख का निवारण देख रहा है, तो बुरा क्या है?

यह समय इन्दिरा जी की वापसी का था। अधिनायकवादी काँग्रेसी राजनीति, आपातकाल, जयप्रकाश आन्दोलन और उसके बाद की बदली स्थितियों ने परिवर्तन की बयार को गति दी थी। पर सत्तालोलुप राजनीति के चलते सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा विफल हुआ और जनता पार्टी बिखर गयी। इन्दिरा गांधी के समर्थन से एक जमाने के कदावर समाजवादी सोच के किसान नेता चरण सिंह सत्तासीन हुए और भारतीय इतिहास में, वे पहली बार इस कलंक के भागी बने कि प्रधानमन्त्री रहते लोकसभा में अपना विश्वासमत न पा सके। 1980 में इन्दिरा गांधी सत्तासीन हो चुकी थीं। जनता पार्टी के रूप में संगठित विपक्ष बिखर चुका था। इसके पहले जनता सरकार के कुछ लोककारी

निर्णयों से जनता को राहत मिली थी, वह अब न रही। काँग्रेस का दबदबा बढ़ा। महँगाई और लूट का खेल भी बढ़ा। जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी और काँग्रेस कोरे सब्जबागों को दिखाकर जनता को भरमाने में सफल हो रही थी। चीनी और किरासन तेल की जमाखोरी बढ़ी, वे अब ज्यादा पैसे देने पर भी मुश्किल से मिलते। नौकरशाही का आतंक अलग रंग में था तो पुलिस का अनाचार अलग ढंग में। बदनाम तो पूरा देश ही था, पर यह बिहार सबसे अधिक था। वैसे यह बदनामी आज भी क्या कम है। ज़रा भी कम होती है, हमारे कर्णधार उसकी चिन्ता में मरे जाते हैं और ऐसे-ऐसे कारनामे कर गुजरते हैं कि रातोंरात बिहार शेरैफेहरिश्त हो जाता है। सड़क, बिजली, स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार की बुनियादी सुविधाओं के अभाव के बावजूद यहाँ के किसान हार न मानते। मेहनत कर घर चलाते और जी-जान एक कर अपनी सन्ततियों में बेहतर भविष्य का सपने देखते। सपने देखना कोई बुरी बात नहीं। उसे देखने का अधिकार सबको है। पर यदि सपने में ही जीवन समा जाए तो बुरा होता है। सपने चाहें जैसे भी हों, उम्मीद जगाते हैं, नयी राह के लिए तैयार करते हैं, नयी राह पर हमें डालते भी हैं, पर यदि सपने से हमारे अपने सच का सन्तुलन नहीं बैठ पाता है तो अनर्थ होता है और तब सपने ही नहीं टूटते, जीवन की उम्मीद भी दरकने लगती है।

पिता ने सपना देखा। बेटा पटना पढ़ने गया है। पढ़कर वह बड़ा आदमी बनता है। घर से दुख-दारिद्र्य दूर हो गये हैं, सुख ही सुख है—दुख की छाया भी नहीं बची है। ऐसे ही सपने दिखने चाहिए—रंगीले, चटखदार, नयी उम्मीद से भरे, जादू करते सपने। काश...वे सपने ही सब कुछ ठीक कर देते तो यह आलजाल न होता। न झँझट, न झँमेला, न जूझना, न मरना—सब ठीक हो जाता। जैसे जादू से क्या से क्या हो जाता है।

पिता ने पैसे जुटाये और घर में सबकी सहमति से राय बनायी कि बेटे को पटना पढ़ने भेजना चाहिए। यह कोई मजाक की बात न

थी। इस बेटे के परिणाम से पुरानी परम्परा टूटी थी। इसके पहले गाँव का कोई भी व्यक्ति मैट्रिक पास नहीं हुआ था। लोग जहाँ से सुनते, बधाई देने चले आते। कोई-कोई तो उस इलाके के मशहूर बिसराम का नाच मँगाने को कहता। नाच हो, गाँव-भर को जिमाया जाए और बरम बाबा को गाय के दूध से नहलाया जाए तो घर के साथ गाँव का भी भाग्य फिर जाए। पढ़नेवाले लड़के आगे जाकर फेल न हों, यह भी बड़ी बात होगी। पर गाँठ में इतना दाम कहाँ था कि नाच पार्टी आती और पूरे गाँव को जिमाया जाता। बड़ी मुश्किल से तो तीन सौ रुपये का जुगाड़ हुआ कि बेटा जाकर किसी नामी कॉलेज में दाखिले का फॉर्म भर आए। जब सूची में नाम आएगा तब दाखिले सहित किताब-कॉपी और रहने के बन्दोबस्त के लिए पैसे जुटाये जाएँगे। कुछ भी न होगा तो कोई खेत बेच दिया जाएगा, पर लड़के को हाकिम बनाकर ही दम लेना है। बेटा प्रफुल्लित होता। उसके मन में जाने क्या-क्या होता। पटना जाने के नाम पर वह जैसे हवा हो चला था। लगता जैसे कि अब उड़ा कि तब। सीना उछलता, दिल जोर-जोर से धड़कता। गला सूखने लगता। ख्यालों में सड़कों की धक्कम-पेल दिखती। बड़ी-बड़ी इमारतें, इधर-उधर दौड़ती गाड़ियाँ। गाड़ियों को हाथ हिला-हिलाकर आने-जाने का इशारा करते पुलिसवाले। पटना का रेडियो स्टेशन। आह। न जाने कितनी बार चौपाल, रसमंजरी, बाल-मण्डली जैसे कार्यक्रम वह अपने यहाँ के कठई रेडियो पर सुनता आ रहा था। वाह, कैसे लोग होते हैं जो रेडियो पर बोलते हैं—क्या किस्मत है उसकी, वह पटना जा रहा है। वह कोई ऐसा-वैसा नहीं रहा। पटनहिया कहलायेगा। लोग डरेंगे, वह बड़ा बन जाएगा और फिर पटना में ही रहेगा। पटनावालों से सब डरते हैं। सबकी बड़ी रसूख होती है। वहाँ कोई भी विधायक, मन्त्री, मुख्यमन्त्री से मिल लेता है। अभी परसों की ही तो बात है, रघुनाथ चाचा कह रहे थे कि वे जगन्नाथ मिश्र से मिलकर आए हैं। वे यह भी कह रहे थे कि इन्दिरा जी उन्हें अपना बेटा समझती हैं। यही कारण है कि जगन्नाथ जी चाहे

कुछ भी कर दें, कोई उनका कुछ न कर सकेगा। कितने घोटाले हुए, क्या-क्या उनके बारे में कहा गया, पर कुछ नहीं हुआ उनका। मुख्यमन्त्री हैं, चहेते हैं इन्दिरा जी के, उनका क्या बिगड़नेवाला है। धत् वह भी क्या-क्या सोचने लगता है। उसे क्या करना है यह सब सोचकर। अभी तो उसे पढ़ना है—फिर सबसे मिलना है, बड़ा होकर दिखा देना है।

वह दिन आखिर आ ही गया जब उसे पटना जाना था। घर-भर के लोगों की असीसें लेकर भिनसारे ही उसने यात्रा की। तब पटना का महात्मा गांधी सेतु नहीं बना था। विशालकाय घाटवाली गंगा पर स्टीमर चला करते थे। उन दिनों पहलेजा घाट पर स्टीमर लेना होता था जिससे महेन्द्र घाट तक का सफर होता। महेन्द्र से उतरकर अपने-अपने गन्तव्य तक लोग अपनी-अपनी सुविधा की सवारियों पर जाते थे। तब गाँव से पटना जाना दस-बारह घण्टे का सफर होता था।

वह सुबह का चला करीब दस बजे श्रीकृष्णपुरी स्थित अपने परिचित के कमरे पर पहुँचा। महेन्द्र से रिक्षा लिया, फिर आँटो की भीड़ भरी सवारियों में ठूँसकर गन्तव्य की यात्रा की। श्रीकृष्णपुरी इलाके की एक तंग गली में महिमा शरण का मकान आसानी से मिल गया जहाँ उसके गाँव का एक आदमी अनुबन्धित चपरासी का काम करता था। वह सचिवालय के एक बाबू की सेवा में था जहाँ चाय पिलाने, पानी देने के साथ-साथ उसके घरेलू कामों को करना पड़ता। कभी-कभी वह उसकी पत्नी के साथ चितकोहड़ा सब्जी बाज़ार जाकर सब्जियाँ भी ढोता और यदा-कदा बाबू के घर में झाड़ू-पोंछा का काम भी। उस दिन रविवार था और वह तत्काल ही बाबू के घर से लौटा था, ज्ञाहिर है, जगा ही था और उसे पहले से ही उसके आने की सूचना चिट्ठी के जरिये मिल गयी थी, सो वह कह सकते हैं, इन्तजार में था। उसे देखते ही वह खिल उठा और उत्फुल्ल होकर अँकवार लेकर बोला—‘कहे होते तो हम महेन्द्र आ गये होते। चलो, अब आ तो गये। कोई चिन्ता की बात नहीं। अपना सामान रखो। हाथ-मुँह

धोकर कुछ खा पी लो और थोड़ा सो लो । कल अपना काम करना ।'

उसने अपना सामान सीलन भरे कमरे के कोने में पटका । कपड़े बदलकर लूँगी पहना और हाथ-मुँह धोकर खाने के लिए फर्श पर बिछे बोरे पर बैठा । बड़ी भूख लग आयी थी । थाली में आलू-बैगन की सब्जी के साथ रोटी का मेल अच्छा था । रोटियाँ तीन ही थीं, पर भूख के स्वाद से पेट भर गया । थोड़ी देर हाल-चाल हुआ और फिर थकान से पस्त देह ऐसी सुस्त पड़ी कि वह करवट लिए बिना ही सोया रहा ।

सुबह का उजाला तीखा था । जुलाई की उमस से तर-बतर देह का हाल मत पूछिये । उस पर आँख मिचौली करती बिजली चर्च-चर्च करते पंखे को रूला रही थी । गली में पंक्तिबद्ध कमरे थे और पाँच कमरों पर एक सार्वजनिक शौचालय । जैसे-तैसे काम सम्पन्न कर उसने ए.एन. कॉलेज का पता पूछ वहाँ की राह ली । इण्टर में दाखिले के फॉर्म के लिए खिड़की पर भारी भीड़ थी । फॉर्म लेकर, उसे भरकर पास पड़े बक्से में डालकर उसने राहत की साँस ली । उम्मीद बनी कि दाखिला मिल जाएगा । फिर क्या था, खुश-खुश लौटा था । चार बजे ही आया कमरे पर । आज उसके गँवई बन्धु को छह बजे के पहले लौटना था । तय हुआ था कि कोई सिनेमा देखेंगे । जो भी दिख जाए । कोई पसन्द जैसी बात न थी । तब सिनेमा हॉल लगता जैसे कोई देवस्थान हो । उसे बड़ी चाह होती कि वह ऐसी जगह रहे जहाँ सिनेमा हॉल हो । वह फिल्में देखता रहे और अपनी सुन्दर कल्पनाओं में डूबकर जीता रहे । सिनेमा जैसे उसके रोम-रोम में उतर जाने वाला कोई नशा हो । गँवई बन्धु के कमरे पर लौटते ही उसकी बाँछें खिल गयीं । पौने छह हो रहे थे । उस बन्धु ने पेट-दर्द का बहाना कर जल्दी छुट्टी ले ली थी वरना 6 से 9 बजे वाला शो न मिल पाता । 9 से 12 बजे का रातवाला शो खतरे से खाली न था; क्योंकि गली में बेशुमार आवारा कुत्ते थे जो काट खाने को उद्यत रहते । उन्हें सन्नाटा मिलता तो वे शेर हो जाते । लेकिन जब तक गली में चहल-पहल होती, वे दुम

दबाये इधर-उधर दुबके रहते। गँवई बन्धु बता रहा था कि परसों की रात देर तक फेरी करके केला बेचनेवाला रामधन जैसे ही देर से लौटा, कुत्तों ने उस पर हमला बोल दिया। ऐं-ऐं करते रामधन का पैर न जाने कैसे एक कुत्ते के कपाल पर लगा और तब कुत्ते ने उसके दाहिने पैर को काट खाया। बेचारा हस्पताल में पड़ा-पड़ा कराह रहा है और उसके पेट में तड़ातड़ सूईयाँ घुसेड़ी जा रही हैं। गरीब का धन्धा भी गया और देह की साँसत जो हो रही, सो अलग।

बाप रे! उसकी घिग्धी बँध गयी। कुत्ते के काटने से उसे बड़ा डर लगता है। उसे याद हो आयी ऐसी ही एक घटना, जो एक कुत्ते के काटने से जुड़ी है। वह मुश्किल से सात-आठ साल का रहा होगा। अपने आँगन में बैठा थाली में भात और दही खा रहा था। तब तक पड़ोस के रामहरि बाबा का पोसा हुआ झबरा कुत्ता भीतर घुसकर थाली में मुँह दे मारा। वह ढीठ कुत्ता था। किसी के घर में घुसकर कुछ भी खा लेता। शिकायत करने पर रामहरि बाबा बिगड़ जाते, कहते—‘घर में किवाड़ लगाकर रहो। कुत्ता है तो जाएगा ही। रात-रात भर चोरों से टोले की हिफाजत करता है, चार दाना खा लेगा तो क्या आफत आ जाएगी?’ उनके मुँह कोई न लगता। ब्रासलेट की धोती, डोरा गंजी और कन्धे पर बनारसी अँगोछे में वे कोई टुटपूँजिया जर्मिंदार लगते। वैसे हाल खस्ता था पर रोब ऐसा दिखाते मानों हथुआ रियासत के मालिक हों। बहरहाल, उसने कुत्ते के नथुने पर पैर मार दिया जिसके नतीजे में वह कुत्ता आक्रामक हो उठा और दाहिने पैर की घुघुची में अपने पैने दाँत गड़ा दिये। उसके उस पैर में आज भी कुत्ते के काटे का निशान मौजूद है, वह गङ्गा कभी भर न पाया। कुत्ते के काटने के बाद सात कुओं को झाँकना, सूई का लगना, हफ्तों घाव का रिसते रहना उसे आज भी याद है।

जल्दी-जल्दी करते छह बजने में पाँच मिनट रह गये। अब कहीं दूर जाने का अवसर न था। पास में ही एक सिनेमाघर था—पर्ल टॉकीज, जिसमें गुजरे दौर के पिटे हुए अभिनेता गोगा कपूर की

फिल्म लगी थी—‘गंगा माँग रही बलिदान’। यह फिल्म पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गोरी की ऐतिहासिक कथा पर आधारित थी जिसमें मसाला मिलाकर देशराग जगाने और फिर बजाने का पूरा तामझाम था। टिकट लेकर हॉल में दाखिल हुए। फिल्म शुरू होने में देर थी पर विज्ञापन शुरू हो गये थे। अभी पनामा सिगरेट का विज्ञापन चल रहा था। उसको पीते हुए धुएँ के कश में मदहोश होता चरित्र सुन्दर शक्ति में दैत्य लग रहा था जिसके कश के साथ उड़ते धुएँ में सब कुछ धुँधला हो चला था। फिर साबुन आए—पहले सनलाइट, फिर लाइफबॉय। सनलाइट तो अब रहा नहीं। पर तन्दरुस्ती की रक्षा करता हुआ लाइफबॉय अब भी बाज़ार में बना हुआ है। कहते हैं कि हिन्दुस्तान लीवर का यह उत्पाद यूरोपीय मुल्कों और अमेरिका में कुत्तों को नहलाने के काम आता है। पर वह हमारे यहाँ पुरुषों-स्त्रियों और बच्चों के नहाने का प्रिय साबुन है—गन्दगी अधिक होने और बजबजाती नालियों के बीच बसर करने के कारण हो सकता है कि हमारे लिए कुत्तों के साबुन ही किटाणुनाशक रह गये हों—न भी हों तो भी उसको क्या। उसने जो सोचा, कह दिया। लीजिये, अब फिल्म शुरू होती है। देशभक्ति से ओतप्रोत फिल्म गोगा कपूर की गर्जना से चकित करती है। पृथ्वीराज लगातार माफियाँ देते हैं। गोरी बार-बार हमले करता है। अन्त में पृथ्वीराज की उदारता उन्हें ले डूबती है। बेड़ियों और हथकड़ियों में बँधे पृथ्वीराज यानी गोगा कपूर धीरे-धीरे चलते हैं। पीछे से सैनिकों की टोली है। पाश्व में गीत बजता है—‘गंगा माँग रही बलिदान/यमुना ने माँगी कुर्बानी है। आज देश पर मरनेवाला सच्चा हिन्दुस्तानी है ॥’

गीत सुनकर उसके किशोर शरीर में भी गर्मी आ गयी। वह आगे तीसरे दरजे की कठई सीट पर बैठा हुआ कसमसा रहा था। यह तो कहिये कि गँवई बन्धु ने उसे बैठे रहने की सख्त हिदायत दी थी, नहीं तो वह कुर्सी पर खड़ा होकर खूब चीखना-चिल्लाना चाह रहा था—‘हम कुर्बानी देंगे/हम बलिदान देंगे।’ उपर्युक्त। वह अब पुराने दिनों को

यादकर हँस पड़ता है। तब से अब तक लगभग पैंतीस-चालीस सालों में न जाने कितने लोगों ने कुर्बानियाँ दी हैं। देश को बचाये-बनाये रखने के नाम पर ही तो सब कुछ छोड़-छाड़कर लोग पार्टियों में जाकर अपना माल-असबाब बेचकर टिकट पाते हैं, जीतते हैं, सरकार में मन्त्री बनते हैं और अपना बलिदान देते हैं। गंगा और यमुना नामक महान् नदियाँ उनकी कुर्बानियों से धन्य होती हैं और देश का भाग्य नित-नित जगता रहता है। देश की जनता गवाह है, इन बलिदानियों ने देश को किस तरह के विकास की राह पर डाल दिया है, देश की सीमाएँ कितनी सुरक्षित हैं और देशप्रेम के उन्माद से क्या-क्या नयी उपलब्धियाँ हासिल हो रही हैं।

वह गँवई बन्धु के साथ खुशी-खुशी कमरे पर लौट आया। खुश था कि पटना में सिनेमा देखा। उसने सिनेमा की अधकटी टिकट अपनी जेब में सँभालकर रख लिया ताकि गँव में दिखा सके कि उसने पटना में सिनेमा देखा है। यह तो उसकी किस्मत में था ही नहीं कि अमिताभ बच्चन, विनोद खन्ना या देवानन्द की कोई फिल्म देखता। इसका मलाल उसे अवश्य था। बेचारे को फिल्म भी मिली तो गोगा कपूर की, जिसे बाद की फिल्मों में सिर्फ मार खाने और चौड़ी पीठ पर लात खाने के लिए ही रखा जाता था।

वैसे इस बौने समय में पिटे हुए मोहरों का ही राज है। जो शान और हेठी से रहने का आदी है, उसे पूछता कौन है। देखते ही हैं कि बाँस-बल्ली पर चढ़कर, दूसरे के कन्धों का सहारा लेकर लोग कहाँ से कहाँ पहुँच रहे हैं। गोगा कपूर की किस्मत भले न बदली हो, पर समाज और राजनीति के इलाकों में गोगाओं की वैसी फौज तैयार हुई है जो किसी को भी मात दे दे। बस, गोगा को चोगा पहनाइये और देखिये तमाशे। यह चोगे का युग है, असल की शक्ल में नकल का राज। इसमें केवल भ्रम है, भ्रामकता है, हवा है, असल में है कुछ नहीं।

वह जैसे-तैसे आया। बेतरतीब से पड़े सामान को किनारे कर

बैठा। सूखी रोटी और आलू की सब्जी के साथ मिर्च की चटनी खाकर डकार लिया और फर्श पर पड़ी चटाई पर लेट गया। गँवई बन्धु भी बगल में ही पड़ी झूला बन चुकी चारपाई पर लेट रहे। कुछ देर गाँव-गिराँव की चटक-मटक बातों के साथ नन्हकू हरिजन की बात चल पड़ी जो हाल ही पूना से अपनी पत्नी के लिए पाँच सौ की साड़ी लाया था। साड़ी में दम था वरना पटना में क्या मजाल कि उसकी चर्चा होती। उसने कहा—‘फगुवा के दिन रंग-अबीर के बाद जब नन्हकू की मेहरी उस साड़ी को पहनकर निकली तो बभनान की औरतें लजाकर लाल हो गयीं। तरह-तरह की बातें करते लोग नन्हकू को भला-बुरा कहते।’ कहते कि दिनभर मजूरी करनी है और पहननी है बेशकीमती साड़ी। बलेसर की बहू बिदक गयी यह सुनकर। बोली—‘हमके मारकिन पहिनाव आ दुआरे-दुआरे तास के खेल कर।। नाव जर्मीदारी बाबा माल गुजारी चार आना। खाली बाधन बनले से काम चली का। जिनिगी बीति गईल कलकत्ता के ताँतवाली सड़िया ना मिलल।’ सुनकर बलेसर मारने दौड़ा और मेहरी को जमकर दो थप्पड़ रसीद कर दिया। गनीमत थी कि उर्मिला चाची के यहाँ महिला पंचायत जमी थी और दौड़कर सब ने इस प्रकरण पर बलेसर को फटकारा तब जाकर मामला नरम पड़ा। लेकिन इसका असर तो बभनान की लगभग सारी औरतों पर था। सब अपने-अपने पति को कोसतीं और कहतीं—घर छोड़कर दो पैसे की जुगत करने जाना है नहीं और केथरी पहनाकर प्यार दिखाना है। मर्द सबसे थक हार जाते तो इसे नन्हकू की बेवकूफी कहकर उसे भला-बुरा कहते—‘अकल होती तो महीनों की कमाई के पैसे को मेहरी की साड़ी में लुटाता ससुरा। दिनभर तो बैलों की तरह खटते हैं तब कहीं जाकर दो पैसे नसीब होते हैं और यहाँ आकर अभागे नवाबी झाड़ते हैं।’

नन्हकू था भी उन्मादी। साल में दो-चार महीने कहीं जाकर कमाता और साल के बाकी महीने हरि काका के यहाँ चिलम पीकर पड़ा रहता। उसकी मेहरी रजमतिया खेतों में मजदूरी न करती तो

वह खाये बिना मर जाता। पर इस बार महँगी साड़ी का उपहार देकर नन्हकू ने रजमतिया का दिल जीत लिया था। बात-बात में गाली देकर झाड़ू से नन्हकू को खदेड़नेवाली रजमतिया बहुत खुश थी। तीसी जैसे गाढ़े साँवले रंग पर गुलाबी कढ़ाईवाली साड़ी पहनकर जब वह निकलती, पैरों के छागल झनाझन बजते, तब कथित ऊँच्ची जातियों की औरतें जल जातीं। वह प्रायः दूसरे दिन इसे पहनकर इठलाकर चलती और कोई फिल्मी गीत गाती हुई मटकती जैसे दिग्विजय के लिए निकली हो।

प्रसंग बहुत थे, प्रपंच और बतकुचन भी बहुत। पर गँवई बन्धु की आँख लग गयी और वे मुँह बाये ज़ोर-ज़ोर से खर्टे लेने लगे। ऊपर पंखे की चर्र-चर्र और नीचे बन्धु की फर्र-फर्र, कैसे वह सोये, क्या करे। अन्ततः उसे भी नींद आयी। वह सोया तो इत्मीनान था—उम्मीद से भरी एक दुनिया थी। उसे पढ़ना था। आगे की राह कठिन थी फिर भी वह चलने को तैयार था। कितना कुछ करना है। सब कुछ बिखरा पड़ा है। अभाव और असुविधा में दिन गुजरते जमाना हुआ। अब वही एक आसरा है घर का। उसका कुछ हो तो बदले हाल। शायद ऐसा हो। ऐसा हो शायद।

दो

वह गाँव लौट आया है। पर पटना की खुमारी बनी हुई है। बड़ी-बड़ी इमारतें, खुली सड़कें, मोटर गाड़ियों का हुजूम, रात भर जगमगाती बत्तियाँ। और वह सीलन भरा बदबूदार कमरा, जो गली के अन्दर जाकर है और वह कुत्ते, रामधन, पर्ल टॉकिज और गोगा कपूर—धत, यह भी कोई भूलने की बात है—वह अकेले में भी हँस देता। जब से पटना से लौटा है, ज्यादातर अकेले ही रहता है। कम बोलता है, आहिस्ता कदम बढ़ाकर चलता है। उसने नयी शैली में अपने बालों को भी सँवारना शुरू किया है। साथ के दोस्त उससे ईर्ष्या करने लगे हैं। घर में उसका मान बढ़ गया है। बात-बात में बिगड़ जाने वाले पिता उसमें कोई साहब देखने लगे हैं, इसलिए सँभलकर बोलते हैं, दादा अब उसके साथ बदजुबानी नहीं करते और माँ। यह तो चाहती भी नहीं कि एक पल के लिए भी वह कहीं जाए। जब तक है तब तक है, फिर परदेशी हो जाएगा। और घर में बैठी मेहरी। उसे तो बस चाकरी बजानी है। उसे सुबह से शाम तक नधे रहना है—वह तो जान भी न पाती कि इस घर की व्याहता है कि कोई बन्धुआ दासी। कई बार सोचती कि शायद शादी होती भी इसलिए होगी कि ससुराल में आकर व्याहता घर का सारा काम सँभाल ले और सास-ननद को कामकाज करने से बरी कर दे। उसके पिता ने भी उसे यही समझाया था कि सास-ससुर की सेवा करना, अपने कामकाज से सबको खुश रखना। कोई शिकायत आयी तो खैर नहीं। बिन माँ की बेटी ने बाप

की सीख को पल्लू में बाँध लिया और चाहे जितने भी दुख आए उठाया, कटुकितयाँ सुनीं, अनाचार सहे, पर कसम जो जबान खोली हो। उसे यह भी सीख थी कि पति से बोलने-बतियाने की आदत ठीक नहीं। लोक-लाज का ख्याल रखना ही अच्छी बहू के लक्षण हैं। वह इसका पूरे मन से पालन करती। पति सपने में विचरता, पत्नी घर की चक्की में पिसती रहती। सब कुछ ठीक चल रहा था। सब बढ़िया होनेवाला भी था। उम्मीद आसमान छू रही थी, सपना सच हो रहा था। बरम बाबा की दया से अब कोई चिन्ता की बात नहीं थी। लेकिन कहते हैं न कि होनी जो होती है, होकर रहती है। दादा की लिखाई पाँच बीघे ज़मीन सधान-पटान के हवाले हो गयी। हुआ यह था कि उसके दादा निछाट हुज्जती और अक्ल के पैदल ठहरे। उन्होंने उसके पिता की गाढ़ी कमाई से आए रुपयों से अपने ही गाँव के पट्टीदारों से जरपेशगी ज़मीनें खरीद लीं। ज़मीन पर पैसे रख दिये, कच्ची रजिस्ट्री हुई और पैसे का पट्टा बन गया जिस पर चार अलग-अलग लोगों के अँगूठे के निशान लग गये। ज़मीन की कीमत पचास हजार तय हुई। यह ज़मीन वे तब लेते जब पैसे चुकाकर पट्टा अपने घर ले जाते। पर वे अब्बल दर्जे के बेर्इमान लोग थे और किसी खास मौके की ताक में रहते। इस बीच गरीब बटाईदारों के लिए बिहार सरकार ने यह कानून बनाया कि जिस गरीब की ज़मीन जरपेशगी पर बेची गयी है, अब इस कानून की मदद से वह अपने साहूकार को रुपये दिये बिना ज़मीन पर कब्जा ले सकता है। कानून तो गरीबों के लिए बना था, पर उनमें से कोई भी गरीब अपनी जरपेशगी ज़मीन का कब्जा न ले सका। पर इस कानून का फायदा राज्य के भूमिहारों और ब्राह्मणों ने उठा लिया जिनके लिए यह कानून बना ही नहीं था। अपने बाजुओं के जोर से इन्होंने जबरदस्ती ज़मीनों पर कब्जा कर लिया और खेतों में भाले गाड़कर ‘जय बजरंग बली’ का नारा लगाकर खेत की मेड़ों पर लाठियाँ भाँजते रहे। अपने ईमान-धर्म को घर की अलगनी पर टाँगकर आए इन बेर्इमानों ने पैसे देकर ज़मीन पर कब्जा करना उचित

नहीं समझा। बूढ़े दादा और पिता के अलावा घर में सिर्फ बच्चे ही थे, माली हालत ऐसी भी न थी कि पुलिस तक जाया जाए या कोर्ट-कचहरी हो। गाँव के लोगों के बीच खिल्ली उड़ रही थी, ऐसे में घर में मातमी सन्नाटे के सिवा क्या होना था। जो जहाँ था, वहीं निढाल पड़ा था। चेहरे कालिख थे और आँखों से झर-झर आँसुओं की बरसात हो रही थी। शब्द फूटते न थे। केवल हाय ही हाय था। उसे याद है, उसके पिता ने अपनी छाती में जोर का मुक्का मारा था और फफक-फफक कर रो पड़े थे। सब लुट गया था। दादा पत्थर हो गये थे। उन्हीं के किये की सजा आज सभी भुगतने को लाचार थे। यह ज़मीनें उपजाऊ थीं। इसमें खूब धान, गेहूँ और गन्ना होते। इनसे घर का काम निकल जाता। शेष ज़मीनें दूर-दराज की थीं जिन पर ज्यादा निर्भरता न थी। पर अब उसका क्या। वह गरज-गरज कर अपने द्वार पर उन सबको गालियाँ देता रहा। पटना तक लड़ायेंगे। सारे निशानी काग़ज कचहरी में देंगे। एक-एक को देखेंगे। उसकी माँ दुर्गा माई से उनकी मौत का बुलावा माँग रही थीं। बाकी सब खामोश, पत्थर और बूत। घर में कोई खाया नहीं। इतना अफसोस शायद ही किसी के मरने पर होता हो जितना ज़मीन को लेकर हुआ। ज़मीन जबरदस्ती जोत ली गयी। फसलें काट ली गयीं। अब तक जो ज़मीन अपनी थी, पराई हुई। पर वह आँखों के सामने रहकर हमेशा मथती रहेगी। वे लोग भी मूँछ पर ताव देते अपनी कमीनगी पर इतरायेंगे—पूरे इलाके में डुग्गी पिटेंगे, हमने दखल-दहानी कर ली। डर से कोई सामने तक न आ सका। जय बजरंग बली के जयकार के आगे किसकी मजाल जो खड़ा होता।

उसे याद हो आता कि कैसे उसके दादा के पास भीगी बिल्ली बने रिस्याते वे आते। कभी भूखमरी, कभी जचगी, कभी दवा-इलाज, कभी घर की मरम्मत का रोना रोते रहते और सादे काग़ज पर अँगूठे के निशान देकर पैसे लेकर चलते बनते। वह बच्चा था, कुछ जानता भी न था। माँ को कुछ पूछने का हक भी तब कहाँ था। दादा इसी तरह

बेटे की हाड़-तोड़ मेहनत की कमाई को यूँ लुटाते जैसे कोई अन्धा सफेद कबूतर उड़ा शाहजहाँ होने का ख्वाब देखता है। बात-बात में हजार बातें बोलनेवाले दादा को काठ मार गया था। उनकी बूढ़ी देह काँपने लगी थी—क्या सोचा था, क्या हो गया। कभी जो उनके पाँव छोड़ते न थे, आज पगड़ी का सौदा कर चले। अब केवल हाय थी, अन्दर से उठती बदुआओं में आग कम लपट ज्यादा थी—क्या होना था इससे। कुछ भी तो नहीं। लोग इसी तरह सीनाजोरी के बल सब कुछ कर लेते हैं। ताकत हो तो इनका मुँहतोड़ जवाब दीजिये या चुप्पी ओढ़कर अजपा जाप कीजिये।

गाँव का कोई आदमी इस अनाचार पर कुछ न बोला। सब या तो अपने में मगन रहे या खुश होते रहे। इस घटना ने घर की व्यवस्था भंग कर दी और आगे की योजनाओं के लिए सम्भावनाएँ कम हो गयीं। इसी हाल-हवाल में दो-चार दिन बीते ही थे कि पटना से खबर आ गयी। ए.एन. कॉलेज में दाखिले की सूची में उसका नाम आ गया था। महज एक हफ्ते का वक्त था। घर का माहौल ऐसा था ही नहीं कि इस पर कोई चर्चा हो। खबर तो सबको हो गयी थी, पर किसी को दिलचस्पी इसमें दिख नहीं रही थी। वह खुद भी परेशान था। अन्ततः उसने अपनी माँ को टटोला। माँ ने जो बात कही उससे वह बुरी तरह निराश हो गया। माँ को उसके पिता ने कहा था कि अब लड़के को नौकरी के लिए तैयार करो। कुछ भी करे, दो पैसे लाये, नहीं तो अब घर चलने को नहीं है। जो हालत हो गयी है उसमें उसे पढ़ाना-लिखाना सम्भव नहीं है। उसने सुना तो लगा चक्कर आ गया। ‘अब क्या होगा, वह क्या करेगा’ जैसे प्रश्न उसके किशोर मन पर हथौड़े की तरह बजने लगे।

समय एक-सा नहीं रहता। वह प्रतिक्षण बदलता है। उसका बदलाव हम नहीं देख पाते, अपने में ही देखते हैं क्योंकि बदलते हम स्वयं हैं—प्रभाव उसका ही होता है। यही कारण है कि मनुष्य को नहीं, समय को बलवान कहा जाता है। एक क्षण में आसमान

छूता मनुष्य कब धूल धुसरित हो जाता है, पता भी नहीं चलता। क्या तो वह समय था जब उसे पटना भेजकर पढ़ाने की खुशी थामे नहीं थमती थी और अब यह हाल कि पढ़ाई पर ही ग्रहण लग जाने के आसार दिखने लगे। घर का माहौल गमगीन था। उदासी और निराशा की हालत में एक दिन उसके एक रिश्तेदार आ धमके। उनकी बड़ी आवभगत हुई। वे गण्डक योजना की एक परियोजना में क्लर्क थे। उनसे घरवालों की मिन्नत देखकर उसे रोना आ रहा था। पिता बोले—‘पहुना घर की हालत ठीक नहीं। लड़के का कोई जुगाड़ लगाते तो घर की गाड़ी पटरी पर आ जाती।’ उसकी माँ को आगे न पढ़ाने की पीड़ी थी पर वे क्या करतीं। कहने लगीं—‘मन तो बहुत था पहुना कि लड़का आगे भी पढ़ता पर अब हिम्मत टूट गयी समझिये। घर में पतोहू आ गयी है। अफरात खर्चा है। उसमें भी अभी कई बच्चे छोटे हैं। मालिक घर बैठ गये हैं। गृहस्ती से अब कुछ होता नहीं। लड़के का कहीं काम लग जाए तो समझिये बेड़ा पार हो।’ पाहुन जी सामने रखी मिसरी की डली को कुर्र-कुर्र कुतरते और हल्क को पानी से तर करते हुए बोले—

‘समय बड़ा खराब है। नौकरी मिलना समझिए भगवान से भेंट करना है।’

‘सो तो है, इसीलिए तो कह रहे हैं कि कुछ कीजिये।’ पिता जी की आवाज़ भरा रही थी।

कुछ समय खामोशी के बाद पाहुन ने अपने धोती-कुर्ते को गौर से निहारा और कन्धे पर रखे गमछे से मुँह पोंछकर खँखारने के बाद धीरे से कहा—

‘बात तो ठीक है, पर हाईस्कूल लड़के की नौकरी तो कठिन है। छोटी-छोटी नौकरी के लिए बी.ए., एम.ए. वाले भी लाइन लगाये खड़े रहते हैं, फिर भी बात नहीं बनती।’

‘तो बात तो फिर भी बनती ही होगी।’ उसके पिता ने भर्ये स्वर में कहा।

पाहुन ने मौके की गम्भीरता को भाँपा। लोगों की सूरत को बदलते और आँखों की कोरों को पनीला होते देखा। अब शब्द न थे। या तो भाव थे या भारी होते पलकों की थकान थी। अपने मन माफिक अवसर को ताड़ते हुए पाहुन ने चुप्पी तोड़ते हुए कहा—

‘जुगाड़ निकल आएगा लेकिन चपरासी का ही काम मिलेगा। दफ्तर में चाय-पानी कराना, साहब के लिए पान-सुर्ती लाना और कुर्सी-मेज की सफाई कोई बुरी बात नहीं। धीरे-धीरे तरक्की होगी। क्लर्क बनवा देने का जिम्मा हमारा। पर मोटी पेशगी देनी पड़ेगी।’

पाहुन की बात सुनकर उसके पिता की आँखों से अँटके हुए आँसू बाहर आ गये। क्या सपना देखा था और क्या होने लगा। उसकी माँ पत्थर बनी पाहुन का मुँह देखने लगी जो अब पान दाबे कचर-कचर कर पीक फेंकने की तलाश में थे।

‘कितनी पेशगी होती होगी पहुना?’ उसके पिता ने खामोशी तोड़ी। पाहुन को शायद इसी मौके की तलाश थी। पान की पीक को थूक कर इत्मीनान के साथ वे बोले—

‘कम से कम दस हजार की पेशगी तो देनी ही पड़ेगी। दो साल लड़का टेम्परेरी काम करेगा, उसके बाद पक्का हो जाएगा काम।’

‘मिलेगा कितना वेतन में?’

पिता ने पूछा।

‘हजार रुपये तो बनेंगे ही। इसमें कम भी हुआ तो सौ-पचास ही कम होगा।’ पाहुन ने बेहद सधे लहजे में कहा।

‘यानी साल भर में तो वह पेशगी चुकाएगा और साल भर इस इन्तजार में रहेगा कि नौकरी पक्की हो जाए।’

पिता के कहे पर पाहुन ने सिर हिलाया और घड़ी देखी। कलाई पर काले फीते में बँधी टाइटस घड़ी की तेज टिक-टिक तीन बजा रही थी। उन्हें अभी अपने ससुराल जाना था जहाँ उसका ननिहाल था। उसके मामा के दामाद लगते थे पाहुन, जो बहुत गुजारिश के बाद उसके द्वार पर अपनी नयी रोबिनहुड साइकिल से आए थे। वे उठने

को तत्पर हुए तो उसके पिता ने निवेदन किया—

‘पहली बार तो मेरे घर आए। दामाद लगेंगे मेरे भी आप। ऐसे कैसे जाएँगे बिना खाये-पिये।’

पाहुन ने अपनी व्यस्तता जताई। उन्हें बेहद जल्दी थी, इसलिए नयी धोती और नेगचार के पैसे देकर उन्हें विदा कर दिया गया और यह कहकर बात को जिन्दा रखने की कोशिश की गयी कि इस पर सोच-विचारकर जल्दी ही खबर की जाएगी।

पाहुन चले गये पर घर में एक गहरा विषाद दे गये। अब वह गुस्से में था। न पढ़ाओ भले, पर क्या वह चपरासी बनने के लिए ही पैदा हुआ है? घर जिसको देखना हो देखे, जिम्मेवारी जिसे उठानी हो, वह उठाये, वह तो अभी कोई नौकरी नहीं करेगा। उसने यह भी ऐलान कर दिया कि खबरदार जो कोई उसकी नौकरी के लिए किसी से कुछ कहा तो। एक से एक ऐरे-गैरे अब उसे नौकरी देने चले हैं जिनका अपना ही कोई ठिकाना नहीं। मालूम तो है कि दस हजार रुपये की कीमत कितनी है? दो बीघे ज़मीन की कीमत तो होगी ही। यह कहाँ से आएगा? वह भी चपरासी की कच्ची नौकरी के लिए? नहीं, उसे यह नौकरी नहीं चाहिए। अब कोई उसकी नौकरी की बात न करे तो अच्छा। उसके प्रतिवाद से घर का माहौल गरम हो गया था। कहाँ-सुनी देख गाँव के खुराफाती लोग बतकुच्चन का रस लेने द्वार पर जमा हो गये थे। मौके की नजाकत देख वह चुपके से कहीं निकल गया कि बात आगे न बढ़े। सबको चुप देख गँवई लोग दफा हुए। माहौल थोड़ा हल्का हुआ। शाम ढली, रात हुई। दिन के उजाले के इन्तजार में आँखें जो लगीं वह पौ फटने पर ही खुल पायीं।

सुबह का उजाला तीखा था। घर में अजीब सी मुर्दनी छायी थी। कोई किसी से न बोलता। उसके नौकरी न करने के फैसले से लोग हैरान थे। वह खुद भी चुप-चुप रहता और खाता-पीता न था। उसके इस तरह के तेवर से घर के लोग परेशान थे। माली हालत अच्छी न होने से स्थिति अधिक खराब थी। पर उसकी जिद के कारण पिता ने

बात मानी और गाँव से तीस किलोमीटर दूर एक कस्बे के कॉलेज में इण्टर में उसका एडमिशन हो गया। कॉलेज में हॉस्टल था, पर वह रसूख वाले लड़कों को ही मिलता था। उसने दूसरे अनेक लड़कों की तरह किराये का एक कमरा लिया और उसी में रहकर पढ़ाई करने लगा। वह शुक्रवार की शाम को घर आता और सोमवार की सुबह साइकिल से अनाज और जरूरी सामान लेकर हथुआ निकल जाता, जहाँ उसका कॉलेज था। तब कॉलेजों में मामूली फीस होती थी, खर्चे भी कम होते थे, पर उसका चलना भी आसान नहीं होता था, क्योंकि पैसों की तंगी बहुत थी।

वह जैसे-तैसे काम निकालता और कोशिश करता कि पढ़ाई अच्छी तरह कर सके। वह छोटी-मोटी कठिनाइयों को नज़रअन्दाज कर पढ़ाई में जुटा रहता। वह इस ताक में भी रहता कि छोटा-मोटा कोई काम भी उसे मिल जाए तो करके अपना खर्च निकाले, पर ऐसा नहीं हो सका। दिन बीतते गये और जैसे-तैसे उसने इण्टर पास कर लिया। परीक्षा परिणाम आने के बाद बी.ए. में नामांकन की बात आयी तो फिर हो-हल्ला हुआ। लेकिन इस बार उसकी माँ ने अपने जेवर को गिरवी रखकर उसके दाखिले का इन्तजाम किया। बचे-खुचे पैसों से उसने किताबें खरीदीं और इस तरह पढ़ाई का सिलसिला चल निकला। वह मन से पढ़ता। अखबारों-पत्रिकाओं में भी कुछ-कुछ लिखने का शौक हुआ तो उसमें भी हाथ आजमाया। धीरे-धीरे उसका विश्वास बढ़ने लगा और उसे लगने लगा कि शायद वह कुछ अच्छा कर पायेगा, ऐसा समय अवश्य आएगा। इसी शायद में हम जीते जाते हैं और जीवन को एक उम्मीद में देखते भी जाते हैं। अगर जीवन को उम्मीद में हम नहीं देख पाते तो जीवन में कुछ भी शेष नहीं रहता। यही उम्मीद और शायद हमारी ज़िदगी का आधार होते हैं, आसरा भी—क्योंकि इन्हीं के सहारे हम जीवन काटते हैं और भविष्य के सुनहरे सपने देखते हैं।

वह हथुआ के गोपेश्वर कॉलेज का छात्र था। यह वही हथुआ

है जहाँ भारत के पहले राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद का बचपन बीता था। उनके दादा रियासत के दीवान हुआ करते थे। छोटे से कस्बे में भी बड़ी-बड़ी इमारतें सबको मुँह चिढ़ाती थीं। राजे-रजवाड़े भले खत्म हो गये हों, पर उनकी हैसियत बरकरार है। हैसियत तो सम्पत्ति से बनती है और भले ही उनकी जागीरदारी छीन ली गयी हो पर माल-असबाब तो उनके पास ही है। देश की आजादी के बाद भी वे ही कर्णधार बने बैठे हैं क्योंकि वे ही पार्टियों को करोड़ों के चन्दे देते हैं, उम्मीदवारों की जीत सुनिश्चित करते हैं। यहाँ के लोगों में अब भी राजा-रानी का प्रभाव है। उनके एक इशारे पर मर मिटने को तैयार आजाद भारत की जनता आज भी अपने को रियाया ही मानती है। कुछ भी नहीं बदला है और कुछ भी बदलने की सूरत नहीं दिखती।

धीरे-धीरे समय बीता और उसने बी.ए. की परीक्षा भी दे डाली। परिणाम आने में काफी समय लगने की उम्मीद थी। इस बीच उसने मय सामान गाँव लौटने का मन बनाया। पर उसके लिए मुश्किल सवाल की तरह खड़ा था बालेश्वर सोनार का बकाया किराया, जो पिछले छह महीनों से नहीं दिया गया था। डेढ़ सौ रुपये माहवार के कमरे का किराया नौ सौ पर आ टिका था। वह दे भी दिया होता, पर अलग-अलग जिन लोगों को उसने कमरे में रखा था, वे पैसे दिये बिना चलते बने थे। अन्ततः उसने एक दोस्त की सहायता से इस समस्या का रास्ता निकाला। उसके एक सहपाठी ने सलाह दी कि सामान बाँधकर रात को कमरा खाली कर निकल लो और चाबी किसी को पकड़ा जाओ। जब पैसे होंगे तो दे जाना, नहीं तो कोई बात नहीं। बालेश्वर में इतना साहस कहाँ कि वे गाँव में जाकर कमरे का किराया वसूलें। फिर क्या था, उसने इसी जुगत को आजमाते हुए रात में ही सामान की पोटली तैयार की और पड़ोसी को चाबी सौंपकर साइकिल से रातोंरात गाँव पहुँच गया। इस तरह इण्टर से बी.ए. तक की पढ़ाई का प्रकरण पूरा हुआ। इस पढ़ाई में उसने कितना झेला, क्या-क्या समस्याएँ आयीं और किस-किस तरह से उनसे निकलते

हुए उसने अपनी यात्रा जारी रखी, यह अधिक बताने की नहीं, समझने की बात है। कुल जमा यह कि वह अब गाँव लौटा कि उसका भविष्य बेहतर होगा—परीक्षा परिणाम आने पर उसे ग्रेजुएट कहा जाएगा। वह घर तो लौट आया, पर घर की किच-किच जस की तस जारी रही। वह न खेतों में काम करने जाता और न अपने हमउम्र दोस्तों के साथ उठता-बैठता। पिता उस पर हमेशा तने रहते, माँ पक्ष लेतीं, पर कितना लेतीं। जब-तब पिता से कहा-सुनी हो जाती और उसका मन घर से उचट जाता। उसे तो मामूली झिक-झिक बर्दाश्त करने की आदत हो गयी थी, पर जब उसकी पत्नी के सामने भला-बुरा कहा जाता तो उसे बहुत बुरा लगता। वह सोचता, उसने तो नहीं कहा था कि उसका ब्याह हो जाए, पर जब घरवालों ने कर दिया तो उसका वह क्या करे। जब कुछ कमा पायेगा तो उसकी भी फिक्र करेगा। पर वह आए दिन होनेवाली कलह से दुखी रहने लगा। गाँव में भी जिधर निकले, फब्लियाँ सुने—पढ़-लिख गये हैं। कमाई-धमाई धेले भर का नहीं, दिनभर मटरगश्ती करते फिरते हैं और बाप की जान कुदाल में अटकी रहती है। वह सुनकर कान बन्द कर लेता और मुँह पर ताला जड़कर खामोशी अखियार करता। वह किस-किस से उलझे और किस-किस के तानों का जवाब दे। जब घर के लोगों ने ही उसे निकम्मा घोषित कर रखा है तो दूसरे लोगों का दोष क्या है। खेती का काम उससे होता नहीं। अधिक से अधिक वह माल-मवेशी का सानी-पानी कर सकता है, और वह करता भी है। खेत देखना और निराई-गुड़ाई का जरूरी काम भी वह कर लेता है, पर उससे कुदाल नहीं चलता। गन्ने की लदाई उससे नहीं होती। अगर गलती से करने की कोशिश भी करे तो उसे बुखार हो जाता है। पिता उससे इसी को लेकर खार खाये रहते। उनका कहना यही था कि या तो पैसे कमाओ या खेत में काम करो। आराम करना और बाबू बनकर इतराते फिरना उन्हें मंजूर न था। उसका कुछ लिखते-पढ़ते रहना, राजनीति की बातें करना, रेडियो सुनना उन्हें गलत काम लगता। वह समझ न पाता कि

करे क्या। एक-एक दिन उसे भारी लगता। दुखी होता तो एकान्त में रो लेता। उसने इस बीच गाँव के बगल में स्थित बाज़ार में कुछ मित्रों के सहयोग से एक ट्यूशन सेण्टर खोला और उसमें 20 रुपये प्रति बच्चा प्रति माह पर पढ़ाना शुरू किया। 20-25 बच्चों की व्यवस्था हुई तो उसे दो-ढाई सौ रुपये माहवार मिलने लगे। हालाँकि यह पैसे बच्चों के अभिभावकों से वसूलना हमेशा टेढ़ी खीर होता। कोई अभिभावक सब्जी बेचता तो कोई सुर्ती, कोई फेरी करके कपड़े बेचता तो कोई खेतिहर मजदूर था। महीना पूरा होते ही अभिभावकों के पीछे पड़ना होता और कई किश्तों में ट्यूशन की फीस उसे नसीब होती। पर जैसे भी हो, इससे उसका जेब खर्च तो चल ही जाता था, घर का बाज़ार खर्च भी चल निकला था। एक-एक दिन निकालता वह इस ताक में था कि उसकी परीक्षा का परिणाम आए ताकि वह आगे की राह का निर्णय ले। उन दिनों, और आज भी स्थिति में कोई सुधार नहीं आया है, बिहार में कक्षाओं के सत्र बहुत विलम्ब से चलते थे और परीक्षा परिणाम तो साल-साल भर अँटके रहते थे।

उसने भी 1986 के मध्य में बी.ए. ऑनर्स की परीक्षा दी थी पर डेढ़ साल बाद परिणाम आया। परिणाम देर से भले आया, पर उसके लिए खुशी की बात यह थी कि वह अच्छे अंकों से पास हो गया था। हालाँकि प्रथम श्रेणी से वह चूक गया था; इसलिए भी कि उसने विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा की पुस्तकों से तैयारी की थी और मूल पुस्तकें पैसे के अभाव में वह नहीं ले पाया था। बी.ए. में पास हुआ तो उम्मीद की नयी उमंग हवा में तैरने लगी। घर में थोड़ी सी स्फूर्ति आयी, पर उसके अडियल रखैये से उसका ज्यादा असर नहीं हुआ। उसे जब नौकरी करनी ही न थी तो बी.ए. पास हो या एम.ए., फर्क क्या पड़ता है। पता नहीं, उसे करना क्या है और क्यों पढ़ा-लिखा भी। पिता तो सबसे यही कहते, जो भी उनसे बेटे की कामयाबी पर बातें करता। वह खुद इन बातों का अभ्यस्त हो चुका था। अब उसे इनका कोई असर नहीं होता। वह मान बैठा था कि घर के लोग नौकरी के

भूखे हैं, उन्हें पढ़ना-लिखना नहीं सुहाता। पूरे गाँव का माहौल ही ऐसा है। आप पढ़े-लिखे हों या न हों, चाहे जिस विधि से पैसे कमाने लगें, आपकी वाहवाही होने लगेगी। आप पढ़े-लिखे हों और पैसे न कमा रहे हों, तो आपकी कोई कीमत नहीं। उसके बहुत से सहपाठी, जो मिडिल स्कूल तक उसके साथ पढ़े थे, पढ़ाई छोड़कर नौकरियाँ कर रहे हैं, घर पैसे भेजते हैं—उनकी हर तरफ वाहवाही होती है। वह क्या करते हैं, यह कोई देखने तो जाता नहीं। पैसे भेजते हैं, यही असल चीज़ है। उसके जैसा कोई निकम्मा तो नहीं जो शादी होने के बावजूद घर से निकलकर दो पैसे कमाने की जुगत नहीं करता। नहीं करता तो नहीं करता। इसका उसे कोई मलाल नहीं। जब ढंग का काम मिलेगा तो वह करेगा, नहीं तो नहीं। और वैसे भी उसे अभी पढ़ना है—किस विधि पढ़ना है, खर्च कौन देगा, आगे क्या होगा—यह उसे खुद नहीं मालूम। पर इतना मालूम है कि जो भी वह करेगा, अच्छा करेगा और इसके लिए वह तैयार भी है कि इसके वास्ते चाहे उसे जो करना पड़े, करेगा।

इसी तरह दिन निकल रहे थे। रातें भाग रही थीं। बरसात आयी, इतनी बारिश हुई कि धान की फसलें बह गयीं। जो मोटे धान बचे रहे, वे जल-जमाव से गल गये। उस साल चोरों का भी खूब आतंक रहा। गाँव के पश्चिम चॅवर के किनारे टॉर्च जलते तो गाँव के लोगों की साँसें टूँग जातीं। लोग रात-रात भर खाँस-खाँसकर एक-दूसरे को जगाकर रतजगा करते। कुछ ही दिन पहले सियाराम यादव के घर चोर घुस आए और सोते लोगों के बीच घर का सारा माल ले उड़े थे। बताते हैं कि सियाराम ने आहट पाकर चिल्लाने की कोशिश की थी, पर एक मुस्टण्ड चोर ने उनकी पीठ पर ऐसा मुक्का जड़ा था कि उनकी बूढ़ी देह चरमरा उठी थी। इसके बाद उनमें इतनी हिम्मत कहाँ से आती कि वे चीखते-चिल्लाते। बेचारे फटी-फटी आँखों से घर के माल जाते देखते रहे और कसमसाहट में कलपते रहे। जब सुबह हुई तो वे किस्सा बताकर लोगों के सामने दहाड़ें मारकर रो रहे थे। घर में उनके

अलावा कोई मर्द न था। उनकी पत्नी के अलावा एक नव-ब्याहता बहू थी, बस। चोरों ने उसके सारे जेवर और कपड़े भी उड़ा लिए। वह तो ऐसे रो रही थी जैसे उसका पति जनार्दन ही मर गया हो। वह क्यों न रोती, उसे मालूम तो था ही कि पति जनार्दन यादव की कमाई से जेवर तो क्या चार साड़ियाँ भी नहीं आएँगी। जनार्दन कुछ महीनों पहले से पंजाब के लुधियाना में किसी फैक्ट्री में काम करने गया था। वह दोबारा कमाने न गया होता तो जगहँसाई होती कि शादी के बाद घर पर ही बैठ गया। सच भी था कि अगर वह लुधियाना न गया होता तो उसकी शादी न हो पाती। बहरहाल, पुलिस आयी, इधर-उधर डण्डे मारकर बातें बनाती रही और चली गयी। सियाराम यादव का जो चला गया वह न लौटा। अलबत्ता उनके रिश्तेदार आ-आकर हाल-चाल पूछकर उनकी हालत और पतली करते। चाय, हलवा खिला-खिलाकर सियाराम तंग आ चुके थे। एक दिन उनका हौसला टूटा तो बिफर पड़े। जनार्दन की माँ इमरती को पास बुला बोले—‘देखो, अब कोई ससुर आए तो हलवा, चाय के इन्तजाम में मत लगना।’

‘क्यों जी ? अब धन जो गया सो गया, मान-सम्मान भी गँवा दें।’

इमरती की बात सुनकर सियाराम दहाड़कर बोले—‘बकर-बकर जो मन में आए, वह न बोला करो, हलवा-चाय तुम्हारे बाप ने नहीं भिजवाया है कि जो आए, उसे परोस दो और घर को भिखारी की झोंपड़ी बना डालो।’ इतना सुनना था कि इमरती दहाड़े मारकर रोने लगी और देखते-देखते पूरा गाँव वहाँ तमाशा देखने जुट गया। गनीमत कहिये कि उधर से गुजर रहे सरपंच शेखजाफर ने हो-हल्ला सुनकर बीच-बचाव किया और मामले को शान्त किया। लेकिन सियाराम के बवाल के बाद हाल-चाल पूछनेवालों में भारी कमी आयी। जो आते भी उन्हें गाँव के लोग सड़क से ही टरका देते।

इस तरह आए दिन आसपास चोरियाँ होतीं और ऐसे दृश्य देखने में आते।

नवम्बर 1987 की शुरुआत थी। हल्की सर्दी आ धमकी थी। धूप

तेज होती पर सर्द हवाएँ चलतीं और सूरज ढलते ही ठण्ड बहुत बढ़ जाती। इन दिनों घर में कलह ज्यादा ही हो गयी थी। वह सुबह का गया शाम को बाज़ार से लौटता और कुछ खा-पीकर सो जाता था। उसके पिता बौखलाए रहते। माँ उन्हें समझाने की असफल कोशिश करती थीं। वे बार-बार कहते—वह कुछ कमाये-धमाये, हमारी बात माने या घर छोड़ दे। एक शाम वह देर से घर लौटा। दोस्तों के बीच गपशप करते देर हो गयी थी। लौटा तो घर में तूफान उठा था। गाँव के खुराफाती लोग मजा लेने द्वार पर जमा थे। उसकी पत्नी घर के भीतर सुबक रही थी। पिता चीख रहे थे—

‘उसे कहो कि अब उसका गुजारा यहाँ न होगा। वह दिनभर मटरगश्ती करे और मैं जान दूँ, यह न होगा।’ माँ बेजान गाय सी सुबक रही थीं, बोलीं—

‘लड़के ने ऐसी कोई गलती तो नहीं की, फिर भी आप अपना सम्मान भूलकर उसे भला-बुरा ही कहते रहते हैं।’

इतना सुनना था कि वे भड़क उठे, बोले—‘घर में उसकी मेहरी बैठी है। काम-धाम कुछ करेगा नहीं, तो कहने से भी गये हम। ऐसे कपूत की जरूरत ही क्या है जो बाप की कमाई निगले और कुछ करना न चाहे।’

इतना सुनना था कि गाँव के विवादी स्वर फूट पड़े। एक ने कहा—‘ठीक ही तो कह रहे हैं, काम करे लड़का।’ दूसरे ने कहा—‘पढ़ने का मतलब यह थोड़े हैं कि बाबू बने फिरण्टों की तरह घूमते रहे। अरे, किसान के घर जन्म हुआ है, कुदाल कौन चलाएगा जी।’

वह बरामदे से लगी एक कोठरी में बैठा यह सब सुन रहा था। गुस्से में बाहर निकला और बोलने लगा—‘कोई बुलाने गया था जो आपलोग यहाँ पंचायत करने आए हैं? चलिये यहाँ से तो। दफा होइये।’

वहाँ से चेहरा लाल-पीला करते लोग बकबकाते सरकने लगे। पिता फिर उसकी माँ को सुनाकर चीखे—‘इसे कहो कि आज रात को

रह ले, पर कल अपनी सूरत न दिखाये। जहाँ जाना हो जाए पर यहाँ न रहे। हम इसकी फूटी कौड़ी भी कभी न लेंगे।'

'इतना भी क्या जुर्म किया है लड़के ने, जो इतना नाराज हैं। सुन तो रहा है लड़का। इतनी बड़ी दुनिया है, इसका भी कोई ठौर होगा कहीं।' कहकर वह फफक-फफक कर रोने लगीं। वह खुद फिर उस कोठरी में जाकर खूब रोया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर उसके पिता को आज इतना क्रोध क्यों आ रहा है। निश्चय ही उन्हें किसी ने भड़काया है। पर स्वयं भी तो उनके पास विवेक है। वह ऐसा तो नहीं कि कुछ करेगा नहीं या इसी तरह निठल्ला घूमता रहेगा। पर वह सबकी तरह कुछ भी नहीं करना चाहता। वह सपनों में जीना चाहता है और उन्हें पाना चाहता है। पर कोई नहीं जो साथ दे। कोई नहीं जो कहे कि लड़का कुछ करेगा, भरोसा रखना चाहिए। एक तो नाना मुसीबतों में पढ़ाई-लिखाई की और ऊपर से यह ताने। वह बार-बार रोता। बिलखकर कुछ-कुछ बोलता जाता। कई बार उसे लगता कि इस घर में जन्म लेकर निश्चय ही उसने कोई पाप किया है। पर क्या यह उसके हाथ में था? उस रात घर में खाना न बना। वह कोठरी में सुबक-सुबक कर रोया, दुखी मन से न जाने क्या-क्या सोचता रहा। बाईस वर्ष की अवस्था में यह अवशता, उसे हिला रही थी। रात को वह सुबकती पत्ती से मिला, वह कुछ कह न पायी और इसने भी चुप्पी में मानों अपनी दीनता ही बयान की। वहाँ से चलते-चलते माँ की मउनी में रखे तीन सौ तीस रुपये निकाला और कहा—

'माँ जब पूछे तब कहना, उन्होंने ही निकाला था और मुझसे कहा था कि मैं आपको बता दूँ।'

'पर यह पैसे?'

उसने काँपते स्वर में पूछा था।

'किसी को कुछ न बताना, मैं दिल्ली जा रहा हूँ। वहाँ जाकर अपने लायक कोई काम-धाम देखूँगा या आगे पढ़ने का कोई रास्ता बन सके तो देखेंगे।' उसने बहुत हिम्मत कर पत्ती से यह बात कही।

इसके बाद उसने अपने कुछ कपड़े समेटे और एक बैग में रख अन्तिम बार पत्नी को देख, एक पल रुकने के बाद बाहर की कोठरी का रास्ता लिया। घर में जो जहाँ था, वहीं सोया था। दबे पाँव वह कोठरी में बैग रखकर रात ढलने का इन्तजार करने लगा।

यह रात भारी थी जो बीतने का नाम नहीं ले रही थी। उसका फैसला अन्तिम था। वह अब घर और गाँव छोड़ रहा था। वह घर, जहाँ वह जन्मा, जहाँ उसकी परवरिश हुई। जहाँ की हवा और माटी उसके नस-नस में रमी हुई है। जहाँ के खेत-खलिहान, फसलों और उड़ती धूल को देखते-जीते इतना बड़ा हुआ। सुख तो कभी पास नहीं आया, पर अभाव के मीठे पल उसे सदा असीसें देते रहे, पुचकारते रहे। उसके साथ खेले, बड़े हुए हमउम्र दोस्त याद आए तो नाते-रिश्तों के अनगिनत लोग भी, जो कभी स्नेह तो कभी तानों से उसे भीतर से बल देते रहे। वह माँ को याद कर अन्दर तक पिघल गया। उसे अचानक घर के मोह ने आ घेरा। एक क्षण को लगा कि वह अपने फैसले को टाल दे, जैसा होगा इसी में जीने का प्रयास करे। पर नहीं, अब नहीं। उसने खुद को सख्त किया। उसे जाना ही होगा। उसे मालूम है कि फिर जिन लोगों के पास उसे जाना है, वे कितने भरोसे के हैं, कहना मुश्किल है। एक अथाह दरिया में गोता लगाना ही तो है दिल्ली जाना। कोई भी अपना नहीं, न कोई कायदे का ठिकाना। याद कर उसे बेहद डर लगा। उसने फिर अपने को पक्का किया। उसे जाना ही होगा। पत्नी के अलावा कोई नहीं जानता था कि वह घर छोड़कर जा रहा है और इस तरह पौ फटने से पहले बैग कन्धे पर लटकाए एक किलोमीटर पैदल चल शहर जानेवाली बस उसने पकड़ ही ली।

तीन

ट्रेन की रफ्तार के साथ उसकी धड़कनें भी तेज हो रही थीं। गाँव छोड़ने के दुख के साथ-साथ एक पराये शहर में दाखिल होने की याद भर से ही उसकी देह काँप उठी। नवम्बर का महीना चल रहा था और सर्दी की शुरुआत थी। बर्थ पर उनीन्दे पड़ा वह असमंजस में था। कभी उसे माँ का चेहरा याद आता जिसकी आँखें सजल थीं तो कभी पिता का, जो अभाव और अवशता में टूट से गये थे और उसे सहारा देता न पाकर क्षुब्ध हो उठे थे। दोष उनका भी न था और उसका भी क्या दोष; अभी वह इस लायक भी कहाँ बना था कि कोई ठीक-ठाक नौकरी मिलती, वह कर भी क्या सकता था। उसने अपने सिर को झटकने की कोशिश की, पर उन्हीं चेहरों से उसका बार-बार साबका पड़ता। वह उठ बैठा। एकाध बार इधर-उधर झाँका। ट्रेन से सफर करते प्रायः सभी मुसाफिर अपनी-अपनी धुन में मस्त थे। कोई सो रहा था तो कोई किसी से गपशप में उलझा था। कोई दिन-दुनिया से बेखबर कुछ पढ़ रहा था। यानी सबके सब अपने में व्यस्त। अकेला था तो बस वही जिसका आगे न कोई राह थी, न जाने का कोई लक्ष्य। वह फिर सोच में डूब गया—भाई-बहन, पत्नी और बच्चों की उदास तस्वीरें उसकी आँखों में उतर आयीं। सबमें कुछ सपने थे, कुछ उम्मीदें तो कुछ असीसें भी, पर क्या वह उन असीसों को लिए जा रहा है? होगा क्या उन असीसों से? वह झल्ला उठा। उसकी चिन्ताओं का सिलसिला थमा नहीं था कि ट्रेन अचानक रुक

गयी। पूछने पर मालूम हुआ कि ट्रेन गोरखपुर स्टेशन पर रुकी है। यह शहर उसके लिए अजनबी नहीं है। न जाने कितनी यादें इस शहर से जुड़ी हैं। एक बार वह गोरखपुर रेडियो के उद्घोषक की परीक्षा देने आया था यहाँ! आकाशवाणी के युवावाणी में उद्घोषकों की अस्थायी बहाली थी, पर उसमें भी तो नहीं हुआ था उसका। तब उसने नया-नया बी.ए. किया था। वह अच्छा बोल लेता था और देश-दुनिया की अच्छी समझ भी उसे थी। यहीं स्टेशन के एक छोटे से लॉज में ठहरा था वह, नाम था—आशा लॉज। पन्द्रह रूपये रोज पर पन्द्रह दिन रहा था उसमें वह। उसने खिड़की से बाहर झाँकने की असफल कोशिश की, वह चाह रहा था कि और कुछ नहीं तो वह पार्क ही दिख जाए, जिसमें गोरखपुर की उस कठिन यात्रा में आखिरी रात बीती थी। वह स्टेशन के पास ही तो था, पर दिख नहीं रहा था। अन्तिम दिन जब बीस रूपये ही जेब में बचे रह गये थे, तो वह क्या करता, उसे गाँव भी तो जाना था। गनीमत थी कि गर्मी के दिन थे, नहीं तो पता नहीं क्या होता—बीते दिन को याद कर वह सिहर गया था।

रेडियो की उस अस्थायी नौकरी की पीड़ा उसे बहुत दिनों तक तकलीफ देती रही थी। उसे याद है कि गाँव लौटने के कई दिनों बाद तक उसने ठीक से कुछ खाया-पिया भी नहीं था। उसे अक्सर यह लगता कि साक्षात्कार और स्वर परीक्षा देनेवालों में कोई भी उससे बेहतर नहीं था, फिर क्यों नहीं उसका हुआ? जरूर कोई बड़ी पैरबी रही होगी वरना तो उसका जरूर हुआ रहता। जो भी हो, उसका नहीं होना था तो नहीं हुआ। पर अब भी उस न होने को लेकर उसके मन में क्षोभ है तो गुस्सा भी। उसने 'चाय गरम-चाय गरम' की पुकार के साथ चाय बेचनेवाले एक लड़के से चुकड़ में चाय ली और अपने आवेश को पी जाना चाहा। चाय खत्म हुई पर मन में स्टेशन के निकट स्थित उस पार्क को देखने की ललक बनी रही। प्लेटफार्म पर लोगों की भारी भीड़ की वजह से वह पार्क को नहीं देख पा रहा था। वह बार-बार उठता-बैठता। इधर-उधर झाँकता। कभी मन होता कि अभी

ट्रेन रुकी है, देख आए वह उस पार्क को। पर साथ में सामान था। एक छोटा सा बैग, जिसमें कुछ कपड़े और एक गरम चादर थी। कोई लेकर चला गया तो वह करेगा क्या। इतने में उसे खयाल आया, बैग में रखे पैसे तो देख ले कि वे सही सलामत हैं भी कि नहीं। तीन सौ तीस रुपये कम नहीं होते। टिकट तो उसने अपनी जेब से लिया है, जमापूँजी तो वह तीन सौ तीस रुपये ही है जिसको लेकर वह बड़ी यात्रा पर निकला है। उस रुपये की याद आते ही वह सिहर उठा। कितनी मुश्किल से माँ ने उन पैसों को सहेजकर रखा था। सोचा था, इस बार कुम्भ नहा आएगी। कुछ घटा तो उधार करके काम चला लेगी। नहीं, नहीं, वह यह भी कह रही थी—बाजार में कलकत्ते में बनी ताँत की साड़ियाँ आयी हैं, किसी से मँगवा लेगी। तीन भी आ गयीं तो वर्षों की छुट्टी हो जाएगी। वैसे भी गृहस्थी में इतने पैसे कहाँ जुगाड़ हो पाते हैं कि शरीर पर नये कपड़े चढ़ पायें। हाँ, उसे साड़ी के रंग की चिन्ता भी रहती थी। वह तो बाजार जा नहीं सकती थी। किसी मर्द को कहेगी तो पता नहीं उसे साड़ी पसन्द करना आए कि न आए। कहती थी—मर्द जैसे रुखे हुए वैसी ही रुखी उनकी पसन्द भी ठहरी। अचानक जो दिख गया, ले लिया, मोल-भाव और रंग-बहबूती से उसे भला क्या काम। और इस रकम को, जो महीनों से जोड़ी गयी थी, उस अभागे पूत ने हड़प लिया था। वह एकबारगी ग्लानि से भर गया। अचानक उसके भीतर विश्वास जगा। इस जमापूँजी से तो वह जीवन की लड़ाई लड़ने चला है—जीत गया तो माँ के सारे अरमान पूरे करेगा। और हार गया तो? नहीं, नहीं। वह हारने के लिए नहीं निकला है, उसे जीतना है और कुछ कर गुजरना है। चाहे उसे जो करना पड़े, वह कुछ बनकर दिखायेगा, जीतेगा अपनी लड़ाई वह। जरूर और निश्चय ही। उसने अविलम्ब बैग की चेन खोली। एक फटे लिफाफे में गन्दे कुर्ते की जेब में रखे पैसे सही सलामत थे। उसने सबकी नज़रों से उसे बचाते हुए चेन को बन्द किया और बर्थ के नीचे बैग को धक्का देकर अन्दर कर दिया।

अब ट्रेन चल पड़ी थी। वह अब अपने को संयत करने का प्रयत्न करने लगा था। पर वह जैसे-जैसे संयत होने का प्रयत्न करता, घर की यादों में खोकर विचलित हो जाता। बाहर सर्द हवा चल रही थी जो रह-रहकर खिड़की से डिब्बे में आती और अन्दर तक कँपा डालती। उसने बैग से पुरानी चादर निकाली और पूरी देह को ढाँप लिया। बर्थ पर पसरकर सोचा कि नींद ले लेकिन ठण्ड इतनी लगने लगी कि नींद को न आना था, न आयी ही। बर्थ का प्लास्टिक नंगा था और ठण्ड से सख्त भी हो गया था। वह जिधर भी करवट लेता, उघड़ा बदन उससे छू जाता और वह सिसकी भर उठता। ट्रेन की रफ्तार तेज थी। डिब्बे के लगभग सभी यात्री सोने की तैयारी में थे। सब तरफ खामोशी थी। हलचल थी तो सिर्फ उसमें कि आगे क्या होगा? इस बीच उसे हल्की सी झपकी भी आयी। फिर यकायक वह उठ बैठा। उसे लगा कि उसकी माँ ने उसे आवाज़ दी है। उनका कहा हवा में तैरता हुआ उसके कानों तक आया—‘यह भी सोने का वक्त है बेटा?’ उसे कुछ उत्तेजना सी महसूस हुई। वह उठा और बैग से प्रेमचन्द का उपन्यास निकाला। ‘हाँ, वह गबन था। उपन्यास में रमानाथ सरकारी रूपयों की हेराफेरी में फँसकर पुलिस के भय से कलकत्ता भागता है और अपनी नवोढ़ा पत्नी जालपा को भी नहीं बताता कि वह कहाँ जा रहा है। जालपा को तो वह मुँहमाँगे जेवरों से भरकर यही दिखावा करता है कि वह बहुत बड़ा आदमी है। पर असल में वह क्या है इसकी पोल खुलते देर नहीं लगती। पर वह तो दिखावे का शिकार नहीं है। न तो उसकी पत्नी जालपा है और न ही वह रमानाथ, जो कलकत्ता जा रहा है। कलकत्ता में तो रमानाथ को देवीदीन मिलता है, पर उसे दिल्ली में कोई देवीदीन मिलेगा, इसकी कोई उम्मीद नहीं। वह फिर परेशान हो उठा। ‘जालपा...जालपा!’ बहुत सुन्दर, कमसिन, भोली युवती। पर उसकी पत्नी? वह भी उससे कम कहाँ है। फर्क तो सिर्फ इसमें है कि वह टूटी-बिखरी है। उसमें कोई सपना नहीं है। हो भी सपना तो क्या हो। पत्नी के बारे में सोचते हुए एक क्षण के लिए तो

वह बहुत दुखी हुआ, फिर गुस्से से भर उठा। वह भी कोई शादी भी भला...वह ग्यारह का, वह नौ की उम्र की। न चलने का ढंग न बोलने का। अपढ़, गँवार, जाहिल, बदमाश। मरे अपनी बला से। दुनिया इतनी बड़ी है, तो क्या वही उसको ढोने के लिए मजबूर रहे? उसे तो वह भाती नहीं। चला तो बहुत रो रही थी। लगा जैसे उसका सब कुछ लुट गया। अरे, रहो भी ठीक-ठाक। अपनी किस्मत तो ठीक है ही तुम्हारी। लुटी तो उसकी जिसके आगे कोई भविष्य नहीं है। काश, कोई घरवालों को यह समझा पाया होता कि इतनी कम उम्र में शादी का खेल ठीक नहीं है। शादी न हुई रहती तो शायद उसकी इतनी दुर्गति न होती। उसकी भी ज़िंदगी उसे इतना खेल न दिखाती। वह इसी तरह के प्रश्न-प्रति प्रश्न पर देर तक उलझा रहा। वह कभी कुछ सोचता, कभी कुछ। वह इसी उधेड़बुन में उलझा थोड़ी देर के लिए आँखें बन्दकर बैठ गया। आधीरात के आसपास ट्रेन लखनऊ रुकी। लखनऊ आने तक उसे नींद नहीं आयी थी। कई चिन्ताओं में वह उलझा बहुत परेशान हो उठा था। प्लेटफॉर्म पर देर रात के कारण चहलपहल कम थी और डिब्बे के यात्री भी नींद के कारण हरकत में नहीं थे। वह अपने पर झुँझला उठा। उसे ध्यान आया कि बहुत पहले वह अपने पिता के साथ इस नवाबी शहर में आया था। तब यहाँ का ठाट कुछ और ही था। अब तो सुनते हैं लखनऊ लोगों की भीड़ में खो सा गया है। उसे इस विषय पर टिके रहना ठीक न लगा और वह कुछ और ही सोचने लगा। यकायक उसे यह भय सताने लगा कि अगर दिल्ली में उसे ठिकाना नहीं मिला तो फिर वह क्या करेगा। इस बार वह भीतर तक हिल गया। उसने जल्दी-जल्दी में अपनी जेब से एक परिचित की दी हुई चिट्ठी निकाली और उस पर लिखे पते को बार-बार पढ़ा—उदय, एल. 998, मंगोलपुरी, नयी दिल्ली-110083।

एक बार-दो बार-तीन बार और फिर कई बार उस पते को पढ़कर उसने चिट्ठी को करीने से सहेजकर जेब में डाला। गले में आए खँखार को खाँसकर दूर किया और सोने की कोशिश करने लगा। रात ढल

रही थी, ऐसे में नींद ज़रा तेजी से आती है, उसे भी तेज झपकी आयी और वह सो गया। सोने पर सपने में उसने देखा, घर से रुठकर वह विदेश जाने की तैयारी कर रहा है और किसी के भी मनाने पर नहीं मान रहा। वह जाएगा, जरूर जाएगा। अब वह यहाँ कभी न लौटेगा। और इसी में उसकी नींद उचट गयी। सपने की याद आते ही उसकी आँखें छलछला गयीं। फिर क्या था—चादर को सिर तक तानकर वह कब तक रोया और फिर वह कब सो गया, उसे पता ही नहीं चला।

सुबह जब नींद खुली और पूरे डिब्बे में लोगों को हरकत में आते देखा तो लगा जैसे वह अपने गन्तव्य के निकट है। पूछने पर मालूम हुआ कि ट्रेन गाजियाबाद स्टेशन पर रुकी है। अब दिल्ली जरा सी दूरी पर है, यह सोचते ही वह पसीना-पसीना हो गया। भय और आशंका के मिलेजुले भाव से वह सिहर उठा। अनजान शहर, अनजान लोग, जाने उसका क्या होगा और वह कैसे वहाँ रह पायेगा। दिल्ली करीब थी इसलिए मुसाफिरों की धमाचौकड़ी बढ़ गयी थी। सभी लोग अपने-अपने सामान को डिब्बे के दरवाजे पर ले आने की होड़ में जुटे थे। बेतहाशा भीड़ के रेले में कोई आगे जा रहा था तो कोई पीछे। वह भी जैसे-तैसे जगह निकालकर आगे आया। अब ट्रेन नयी दिल्ली आ चुकी थी।

ट्रेन विलम्ब से आयी थी, समय पूछने पर पता चला, ग्यारह बज चुके हैं। उसकी दशा अनुकूल नहीं थी। एक अजनबी शहर में दाखिल होने के आन्तरिक भय से वह आतंकित तो था ही, भूख से भी परेशान था। यात्रा की थकान भी उसे बहुत थी। उसने अपना बैग सँभाला और हिम्मत करके कतार में लगकर स्टेशन के बाहर आया। बाहर आकर उसने मंगोलपुरी जाने वाली बस की पूछताछ की, पर कहीं से भी उसे वाजिब जवाब नहीं मिला। एक व्यक्ति ने आखिरकार उसकी लाचारी समझी और उसकी शंका का हल निकाला। उसने बताया था कि यहाँ से वहाँ की कोई सीधी बस नहीं है। उसने सलाह दी कि स्टेशन के अजमेरी गेट वाले हिस्से से उसे मंगोलपुरी की सीधी बस मिल सकती

है। वह फिर स्टेशन आया और पूछते-पूछते अजमेरी गेट तक पहुँचा। अजमेरी गेट से कुछ देर पैदल चलने के बाद वह कमला मार्केट बस स्टाप पर पहुँचा जहाँ से 901 नम्बर की बस मंगोलपुरी के बाय ब्लॉक तक जाती थी। बस जाने को तैयार थी, वह उसमें बैठ गया। बस चल पड़ी। थोड़ी देर बाद हरियाणवी कण्डक्टर ने उससे पूछा—

‘कहाँ जाणा है रे?’

‘मंगोलपुरी’ उसने कहा।

‘निकाल डेढ़ रुपये।’

उसने धीरे से डेढ़ रुपये जेब से निकालकर उसे दे दिया, पर कण्डक्टर कहाँ थमनेवाला था, बोला—‘सुण, एक बात बता, क्या तेरे बिहार में कोई भी काम-धन्धा नयीं?’

वह चुप बैठा रहा, कुछ न बोला। लेकिन कण्डक्टर ने फिर वही प्रश्न दोहराया—

‘बताता क्यों नहीं?’

‘बहुत काम हैं।’ उसने धीरे से कहा।

‘तो साणे तुमलोग दिल्ली को अपणे बाप की जागीर क्यों मांण लेते हो, क्यों यहीं ठिकाण मिलता है, कहीं और क्यों नहीं चले जाते?’

उसे कुछ बोलते नहीं बन पा रहा था। उसके जी में तो आया कि वह बस से उतरकर कहीं बैठे और खूब रोये। पर मन को मारे बैठा रहा और कण्डक्टर को सुनता रहा। अब वह कुछ अधिक ऊँची आवाज़ में बोल रहा था—‘खांणे को तो कुछ है नयीं साणों के पास, चले आते हैं दिल्ली। जिधर देखो उधर जत्थे का जत्था। पूरी दिल्ली को साणों ने बिहार बणा लिया है।’ पूरी बस खचाखच भरी थी। बस में बैठे यात्री कण्डक्टर की बातें सुनकर हँस पड़ते और कुछ अपनी तरफ से टिप्पणी जड़ देते।

एक ने कहा—‘अब का करो भइय्या, बड़ा गरीब ईस्टेट है ऊ। इहाँ भी न आवैं तो सुसरे भूखन ना मरिजात।’ तो दूसरे ने कहा—

‘अब कलकत्ता मां तो बंगाली तो आने नहीं देत। पहिले तो बिहारियन का उहें गुजारा होत रहीं। बर्मई मां तो भीतर तक भरि गयेन ससुरे। अब दिल्ली को बोरन आएन हैं नरक मां।’ इस पर समूचा बस मानो अद्वाहास से गूँज उठा और वह शर्म से सिर नीचा किये अन्दर ही अन्दर तड़पता रहा।

यह बीसवीं सदी के नवें दशक का हाल था जब दिल्ली को पंजाब और हरियाणा से ताल्लुक रखनेवाले लोग अपनी जागीर समझते थे और ‘बिहारी’ का सम्बोधन गाली की तरह उनकी जबान पर हरदम चिपका रहता था। उन दिनों की दिल्ली शोर-शराबे और भीड़ से भले कमतर थी, पर बड़ी बेदिल लगा करती। अपमान, उपालम्भ और गालियाँ खाते पूरबिये यहाँ खून का घूँट पीकर जीते। लड़ते तो जाते कहाँ, और फिर उनका क्या होता। चाहे बस हो या फैक्ट्री, कॉलेज हो या स्कूल, दुकान हो या ढाबा, कोई ऐसी जगह न बची थी जहाँ बिहारी का जुमला आम न हो और सरेआम गालियाँ न मिलती हों। किसी से अगर कहासुनी हो भी जाए, तो कथित भद्र लोग बीच-बचाव कर चुप करा देते पर गाली देने वालों को कुछ न कहते। यह दिल्ली है, यही दिल्ली है जिसके सपने देखता वह यहाँ आया है। आगे उसका क्या होगा, वह कब तक रहेगा, यह प्रश्न तो बाद के हैं, पर अभी-अभी जो घटा है अगर वह ऐसे ही आगे भी घटता रहे तो? ग्लानि और क्षोभ को पीते हुए भारी कदमों से वह बस से उतरा। उसे लग रहा था जैसे अनगिनत आँखें उसे घूर रही हैं और उस पर ताने मारे जा रहे हैं। वह जल्दी-जल्दी वहाँ से भाग जाना चाहता था। बस स्टाप के पास ही एक चायवाले से उसने अपने गन्तव्य का पता पूछा और इत्मीनान हो जाने के बाद थके कदमों से उस तरफ बढ़ चला।

मंगोलपुरी में उदय का घर जल्दी मिल गया। एल. 998 नम्बर का वह कोठरीनुमा मकान बीस गज के प्लॉट पर खड़ा था। कहते हैं कि कुछ वर्ष पहले यहाँ दूर-दूर तक झुगियाँ फैली थीं। मंगोलपुरी के शेष इलाके जंगल से भरे थे। पर जब इन झुगियों में रह रहे

मजदूरों ने धरना-प्रदर्शन कर प्रशासन को पंगु कर दिया तो मजबूर होकर सरकार ने निर्णय लिया कि प्रत्येक झुग्गीवाले को बीस गज का भूखण्ड आबण्टित कर दिया जाए। फिर क्या था, प्रत्येक झुग्गीवाला बीस गज का भूखण्ड पा गया और उस पर मनमाफिक मकान बनाकर अपना आश्रय बना लिया। यह इलाका पूरा हिन्दुस्तान तो नहीं है, पर कई राज्यों की आबादी यहाँ देखी जा सकती है। छब्बीस खण्डों में बँटी यह मंगोलपुरी दिल्ली की पुनर्वास कॉलोनियों में अव्वल है जहाँ लाखों लोग रहते हैं। जगह-जगह उबड़-खाबड़ बने घर, गली-गली घूमते सूअर तथा गन्दे सार्वजनिक शौचालयों की बदबू से सम्प्रान्त मानसिकता के लोग पनाह माँग सकते हैं। अपढ़, गँवार और जाहिल समझे जानेवाले मजदूरों की इस बस्ती में वह सब कुछ होता है जिसे पढ़-लिखों के समाज में हेय माना जाता है। पर यहाँ परदादारी नहीं, ओट में नहीं होता कुछ, और न ही इज्जत की आड़ में इंसानों का सौदा। खुलेआम प्यार-मनुहार, दोस्ती-दुश्मनी और बेखटक जीने वाले लोगों की इस बस्ती में बनावट की जगह नहीं, फरेब से कोई नाता नहीं। दो पैसे ही मेहनत से कमाकर खुशी से जीने की अदा ऐसी कि पैसेवाले मर मिटें। वे तो हराम की कर्माई कर नींद तक को गँवा देते हैं, भला उन्हें जीवन और उसके स्पन्दन की सुधि ही कहाँ आ सकती है। इतनी खुली दुनिया उसने गाँव में भी नहीं देखी थी। अकूत भीड़ में भी एक लय थी जो सबके बीच मधुरता बनाये हुए थी। पर यह भी कम हैरत की बात नहीं कि जुआड़ियों, शराबियों, जेबकतरों और पहलवानों की तादाद यहाँ समान है। बात-बात में चाकूबाजी यहाँ आम है और लड़कियों से छेड़छाड़ सरेराह। पुलिस की जेबें यहाँ हर पल गर्म होती हैं और उसे यहाँ भाषा की जगह गाली बोलने की आदत है।

उदय उसे देखकर खुश हुए कि नहीं, वह यह नहीं कह सकता, पर उन्होंने बड़ी तत्परता से बैग उसके हाथ से लेकर उसका सत्कार किया। वे गले भी मिले और खुशी के मारे भावुक भी हो आए। हाल-

खबर पूछने के बाद उदय ने उसे बहुत शाबासी दी और उसके उत्साह को मारे प्रशंसा से भर दिया। उदय 34-35 की उमर के छरहरे जवान थे—व्यवहार से शिष्ट और मृदुभाषी। उन्हें पहलवानी का शौक था और इसी शगल के कारण उन्हें एक कपड़ा मिल में नौकरी भी मिली थी। वे नवीं पास थे। उनकी शादी बहुत पहले ही हो गयी थी पर उनकी व्याहता किसी काम की नहीं है, इसलिए वे उसे तरजीह नहीं देते। वे एक झटके में बोल गये—‘जब से शादी हुई, जीने की उम्मीद ही मर गयी समझिये।’

उदय खोये-खोये रहते, ज्यादा बोलते नहीं और अचानक रोने-कलपने लगते। उनके साथ उनके चाचा-चाची भी उसी मकान में रहते थे। उनके चाचा मजबूत कदकाठी के उदण्ड जवान थे जिन्हें व्यर्थ की शिष्टता से घृणा थी। वे कहते—‘जिसे पेट भरने की चिन्ता है उसके लिए इसका कोई अर्थ नहीं। यह सब उनके लिए है जिनके पेट भरे हुए हैं और जो खाने की चिन्ता से बरी हैं।’

शाम के आठ बज रहे होंगे। वह उदय के साथ ज़मीन पर बिछे टाट पर बैठा खाना खा रहा था। इतने में चाचा बाहर से आ धमके। आते ही नज़र उस पर पड़ी तो वे चिहुके। तनिक ठहरकर कुर्सी पर बैठते हुए बोले—‘कहाँ के रहने वाले हो भैया?’

‘आपके ही इलाके का हूँ।’ उसने खाते-खाते ही जवाब दिया था।

इसी बीच साथ में खाने पर बैठे उदय ने प्रतिवाद किया—

‘तुम्हें तो हरदम अकड़ ही सूझती है। बताया तो था कि अपने बगल के गाँव के हैं, एक खास काम से कुछ दिन के लिए यहाँ आए हैं।’

‘सो तो ठीक है लेकिन खोराकी-वोराकी की बात तय कर लेना। तेरे ही यार-दोस्तों ने इस घर का कबाड़ा कर रखा है। बैठे-बैठे महीनों खायेंगे और चुपके से खिसक जाएँगे। अब ऐसा नहीं होगा। जानते हो, किरपाल सिंह का कितना उधारी हो गया है? चाचा के कहे

पर उदय ने पूछा—कितना ?'

'आठ हजार।'

'होने दो। देखा जाएगा। लेकिन यही समय था उधारी का खाता दिखाने का? तुम तो वकत भी नहीं देखते कि कब कौन सी बात करनी है।'

'तो कब करता? तुम्हें लौंडो-लपाड़ों से कभी फुर्सत मिलती है कि करूँ? तुम्हारी तो अकल ही मारी जा चुकी है। दिनभर मटरगश्ती करते-फिरते हो और घर आकर फिजूल की शेखी बघारते हो।'

चाचा के उपालम्भ पर उदय की देह गरम हो गयी। वे खनकते हुए बोले—

'चाची, इसे समझाओ। यह अब हृद से ज्यादा बढ़ रहा है।'

चाची ने चाचा-भतीजे के विवाद को संकेतों से शान्त किया। वह जल्दी-जल्दी खाकर उठा। उसके लिए अन्न जहर हो गया था जो निगलते नहीं बन रहा था। उसके भीतर यह अपराधबोध भी गहरा हो रहा था कि उसी के कारण इस घर में विवाद उभर रहा है। गनीमत ही कहिए कि चाचा-भतीजे में इस समय कहासुनी से आगे कुछ न हुआ वरना उसे तुरन्त ही दूसरा दरवाजा देखना पड़ता।

उदय के मकान में केवल एक कमरा था। बाहर का बरामदा खुला हुआ था। घर की आर्थिक तंगी के कारण बरामदे पर अब तक छत न डाली जा सकी थी। चाचा-भतीजे की कमाई से लगभग दो हजार की आय थी जिसमें से चौदह सौ रुपये लिए गये कर्ज के ब्याज में निकल जाते थे। बाकी बचे छह सौ रुपयों से घर का खर्च चलाना बेहद मुश्किल होता। इस कर्ज की कथा भी खासा दिलचस्प है। उदय के पिता अच्छी काठी के व्यक्ति थे। अच्छी-भली नौकरी में भी थे। पर उनके फक्कड़पने में यह नौकरी बाधा सी लगी तो उन्होंने नौकरी से विदाई ले ली। घर में कई लड़कियों की शादियाँ थीं। वे कर्ज ले-लेकर शादियाँ कर समाज में अपना सम्मान बढ़ाते रहे और इलाके भर में वाहवाही लुटते रहे। मुँहमाँगी रकम देकर अच्छे घरों

में लड़कियों के रिश्ते करने का नतीजा यह निकला कि कर्ज सर के ऊपर आ बैठा। अब हालत यह हो गयी कि बचीखुची कमाई से कर्ज का ब्याज ही दे पाना मुमकिन था, मूल तो जितना था, उतना ही रहा। इधर तो हालत यह कि भोजन चलना भारी और गाँव की दशा यह कि दाना-दाना महँगा। भूख और घरेलू जरूरतों को पूरा करने में गाँव की ज़मीन बेची जाती रही। बची हुई ज़मीन के टुकड़े पर उदय के पिता दातानाथ घूम-फिरकर प्रसन्न रहते और उसकी मेड़ पर बैठकर तम्बाकू का आनन्द लेते। घर में किसे क्या चाहिए, कौन किस हाल में है, इससे उनको कोई मतलब न होता। सफेद धोती पर घुटने तक का कुर्ता और माथे पर बड़ी सी पगड़ी कभी मैली न हो, भाँग की पुड़िया हमेशा जेब में भरी रहे, तो सब कुछ ठीक है वरना दुनिया चूल्हे में जाए, उन्हें क्या फर्क पड़ना था।

उदय के घर में एक ही कमरा था इसलिए उसमें उसके रहने की व्यवस्था सम्भव न थी। उनकी गली के पीछे उदय के ही एक रिश्तेदार रहा करते थे, नाम था—अबरू दुबे। वे गाँव गये थे इसलिए उदय ने उसके रहने की व्यवस्था उसी में करा दी। यह कमरा भी बीस गज के भूखण्ड पर ही बना था लेकिन था बेहद भूतहा। कमरे में दो टूटी हुई बड़ी बालियाँ, एक औंधे मुँह लेटा घड़ा, एक पुरानी चारपाई और ताख पर रखी हुई लक्ष्मी-गणेश की मूर्तियाँ। कमरे की दीवारें सीलन से भरी थीं जिनपर प्लास्टर नहीं था। अबरू दुबे के इस कमरे में वह रहने लगा। उनके आने के बाद उसे जाना होगा, यह उसे तो मालूम ही था, पर रहने की लाचारी थी—दिन जितने कट जाएँ, उतने अच्छे। वहाँ रहते एक-एक दिन बरस होते जिसे वह तिल-तिल काटने का प्रयास करता। वह कभी बाजार घूमने जाता तो देर रात तक लौटता। वह चाहता न था कि दिन के उजाले में इस कमरे में रहे। आते-जाते लोगों की उस पर नज़र पड़ती तो लाज आती। उसे पता नहीं क्यों दिन अच्छे नहीं लगते थे। रात का औंधेरा उसे भाता क्योंकि उसमें कोई उसे देख न पाता और वह खुद को भी छुपा लेता। रात होती तो चैन

पड़ता, दिन बेचैनी, निराशा और घूरती नजरें लेकर आता। वह रहने लगा, दिन बीतते गये। वह यहाँ रहने को तो रह गया था पर आए दिन के तानों से उसका मन भारी-भारी सा हो आया था। जेब में जो पैसे थे, वे खर्च हो चुके थे। अब तो हालत यह थी कि रोजाना की जरूरतें भी पूरी नहीं हो पाती थीं। एक दिन की बात है जब वह उदय के घर रात का खाना खा रहा था, उदय लड़खड़ाते घर लौटे। वे न तो खड़े हो पा रहे थे, न ठीक से बोल पा रहे थे। उनकी यह हालत देखकर उसका माथा घूम गया। उनकी इस दशा को देखकर चाचा ने उन्हें भला-बुरा कहा और घर से चले जाने को कह दिया। उदय अकड़ गये। वह जल्दी-जल्दी खाना खाकर किनारे खड़ा हो यह सब देख रहा था। चाचा ने उदय को धक्का देते हुए कहा—‘तुम्हें कितनी बार कहा है कि पीकर घर मत आया करो। मालूम भी है कि कहाँ जा रहे हो तुम?’

‘मुझे हाथ लगाया तो ठीक न होगा। मालूम है मुझे कि कहाँ जा रहा हूँ।’ उदय ने प्रतिवाद कर हुए अकड़ते हुए कहा। कहते हुए उनका चेहरा बिगड़ने लगा था और मुँह से अजीब सी बदबू बाहर आ रही थी।

‘कहाँ से आएगा पैसा कि तुम इस तरह रोज उड़ाया करोगे?’

‘जहाँ से आता है। चाचा के कहे पर उदय ने लड़खड़ाते हुए कहा।’

‘मतलब?’

‘जाने तुम्हारा बाप!’

‘मेरा बाप कि तुम्हारा बाप?’

‘मेरा बाप क्यों?’

‘क्या?’

‘सबका बाप!’

उदय का यह कहना था कि चाचा ने उदय के गाल पर तेज थप्पड़ जड़ दिया। इस पर उदय भी तैश में आ गये। उसने भरसक बीच-

बचाव की कोशिश की जिसके एवज में उसे भी दो-चार थप्पड़ रसीद हो गये। मामला जैसे-तैसे शान्त हुआ तो वह भागा-भागा अपने कमरे में लौटा। उस रात को उसने आँखों में ही काटा। नींद को न आना था, नहीं आयी पर दुख और निराशा के घने कोहरे में वह ऐसा फँसा कि अपनी सूरत की पहचान भी मुश्किल जान पड़ी।

सुबह हुई तो घूमते हुए उदय उसके कमरे में आकर बैठ गये। उसका मन बहुत उद्धिग्न था। आते ही उसने उदय से कहा—

‘आप ऐसे ही हैं, जानता न था, जानता होता तो यहाँ कभी न आया होता।’

‘ऐसा क्यों कह रहे हैं आप? ऐसा क्या देख लिया आपने?’ उदय ने उत्तर दिये बिना प्रतिवाद किया।

‘वाह! मेरे प्रश्न का उत्तर भी नहीं दे रहे और उल्टे प्रतिवाद कर रहे हैं।’

उसके कहे पर उदय ने कहा—‘तो साफ-साफ कहिये ना, जो कहना चाहते हैं।’

उसने संयत होकर पूछा—

‘आप ही बतायें कि जिस घर में पेट भरना मुहाल हो, उसमें कोई शराब पीता है भला?’

‘आप समझने में भूलकर रहे हैं। बात वह नहीं जो आप समझ रहे हैं।’

उदय के कहे पर उसका सिर चकरा गया। उसने कहा—

‘तो क्या है?’

‘सारी बातें कही नहीं जातीं।’

उदय ने धीरे से और कुछ थकी सी आवाज में कहा था।

‘आप मुझसे ऐसा क्यों कह रहे हैं, जानता नहीं हूँ क्या आपको। सब पता है मुझे, पर आप जो कर रहे हैं, वह इसका समाधान तो नहीं है?’

उदय की बात को काटते हुए उसने उनकी तकलीफ को ही

बढ़ाया जिसकी प्रतिक्रिया में वह रोने लगे और बच्चों जैसी हिचकियाँ
लेने लगे। रोते-रोते ही वे बोले—

‘आप को मालूम है कि सन्तोष मेरा बेटा नहीं है?’

‘तो किसका है?’ उसने आश्चर्य से पूछा।

‘वह उसके नौकर का है।’

‘आपको कैसे मालूम है?’ उसने फिर प्रश्न किया।

‘अजीब आदमी हैं आप।’ आज तक उस औरत से सम्बन्ध ही
नहीं बना मेरा। फिर वह लड़का कैसे मेरा होगा? उदय ने बात पूरी
कर अपना चेहरा ढँक लिया और फफक-फफक कर रोने लगे।

उसने उदय को धैर्य रखने की सलाह दी। उनके आँसू अपने
रूमाल से पोंछे और एक गिलास पानी देते हुए धीरे से कहा—

‘आप यह कैसे जानते हैं?’

‘उसी चुड़ैल ने बताया था मुझे। कहती थी, औरत हूँ तो मर्द की
जरूरत तो होगी न मुझे। तुम जब शादी के साल भर बाद भी पति
का सुख न दे सके तो क्या करती? क्या गाँव-घर, सखी-सहेलियों
में अपनी हँसी उड़वाती? लड़का न होने का कलंक लेकर घूमती?
मायके गयी तो मन पर काबू रखना मुश्किल हो गया और अपने नौकर
रमूवा को एक दिन पकड़ बैठी। अब तुम चाहे गला दबाकर मार
डालो या जीने दो, जो किया है, वह सच-सच बता गयी।’

उदय एक साँस में बोल गये थे। बोलते समय उनकी आँखें नीचे
देख रही थीं और जबान लड़खड़ा रही थी। मारे शर्म के उनका माथा
जमीन में गड़ सा गया था। उसने धीरे-धीरे उन्हें उठाया और धीरज
बँधाते हुए कहा—‘पर शराब पीना इस दुख का निदान तो नहीं। आप
खुद और घर, दोनों को बर्बाद कर रहे हैं और अपनी प्रतिष्ठा भी गँवा
रहे हैं।’

उदय को इतना विवेक था कि वे समझ सकें कि वे जो भी कर
रहे हैं, गलत कर रहे हैं। फिर भी मन मारते हुए बोले—

‘यह सब अब बर्दाश्त नहीं होता, इसलिए चाहता हूँ कि होश में

ही नहीं रहूँ।'

'अच्छा सोचा है आपने। यही करिये और रोज-रोज की फजीहत झेलिये। मैं खुद अपने को आपसे अलग कर लूँगा। कहीं और ठिकाना देखूँगा। आपको जो अच्छा लगे, करिये।'

उदय ने उससे उसके बाद जो कुछ कहा उसमें मिन्ते थीं और भरोसा भी कि अब से वह ऐसा नहीं करेंगे और वह भी यहाँ से कहीं दूसरी जगह जाने की न सोचे। उसने उनसे अपनी आदत बदलने की शर्त पर यहाँ रुकने की बात मान ली। पर यह इतना आसान था कहाँ?

बहुधा व्यक्ति परिस्थितियों का दास ही होता है। कहने के लिए जाने क्या-क्या कहते हैं हम और जाने क्या-क्या कहा-सुना जाता है, पर परिस्थितियाँ जब नियन्त्रण से बाहर हो जाती हैं तो व्यक्ति को सिरे से बदल डालती हैं। वे लोग बड़े भाग्यवान होते हैं जो परिस्थितियों से जूझकर, लड़कर अपनी इच्छित राह पा लेते हैं, पर सबकी किस्मत ऐसी नहीं होती। हाँ, यह युक्ति आवश्यक है कि परिस्थितियों के कारण को हम जानें और उसका निदान खोजने का प्रयास करें ताकि वह इतनी बड़ी न हो सकें कि हमें ग्रस लें और हम अपना अस्तित्व ही मिटा डालें। यह परिस्थितियों को देखने-समझने का एक व्यावहारिक मार्ग है। लेकिन हमारी अपनी समाज-व्यवस्था की पुरातनपन्थी रुदियाँ इतनी भयानक हैं कि उनसे पैदा हुई परिस्थिति जीवन की एक बड़ी त्रासदी बन जाती है जिससे निकल पाना असम्भव सा हो जाता है। इनसे तो तब तक निजात पाना असम्भव है जब तक हमारी सामाजिक व्यवस्था के रूढ़ मूल्यों का अन्त नहीं होता। उसमें भी स्त्री को लेकर प्रतिष्ठा और पवित्रता का गढ़ा गया पाखण्ड जब तक समाप्त नहीं होता, तब तक हम ऐसी परिस्थिति के सामने होने को विवश हैं जिससे मुक्ति जीते-जी सम्भव नहीं।

उदय अपनी लाँचित पत्नी के दुख में शराबी हो गये तो हो गये, उन्हें न राह पर आना था न वे आने को तैयार थे। जब होश में रहते तो गलती मानते और दोबारा उसे दोहराने से बचने को कहते। पर

उनकी कही हुई बात ज्यादा देर तक नहीं टिकती। वे फिर वही करते जो न करने की कसम खाते। एक शाम की बात है, वह सुबह से ही कुछ खाया-पिया न था। हुआ यह कि रात भर घर से गायब रहने के बाद जब उदय सुबह-सुबह प्रकट हुए तो चाचा से उनकी कहासुनी हो गयी और हाथापाई भी। इसके बाद घर में कुछ भी न बना और दिनभर कलह का बाज़ार बना रहा। वह दिनभर इधर-उधर टहलता रहा। कभी सोचता, कभी कुछ परेशान होता और कभी पड़ोस में स्थित भँवरलाल की दुकान पर जा बैठता जो रेडियो की मरम्मत का काम करता था और दिनभर तेज आवाज़ में फिल्मी गीत बजाया करता। उसके मन में यह क्षीण सी आशा जीवित थी कि कोई न कोई उसकी खोज-खबर जरूर लेगा। लेकिन उसकी क्षीण सी आशा तब टूट गयी जब कोई उसे पूछने तक न आया कि वह कहाँ है और कुछ खायेगा-पियेगा भी कि नहीं। उसने मन में तय कर रखा था कि उसे यहाँ अब नहीं रहना है। रहकर इस तरह के झगड़े-में जीना उसके भविष्य की उम्मीदों को कुन्द कर देगा। वह अगर इसी में पड़ा रहा तो अपने बारे में सोच भी क्या पायेगा। और जब सोचेगा नहीं, तो उसका होगा क्या। वह अबरू दुबे के कमरे में लौट आया था। वह यही सब सोच रहा था कि उदय ने दरवाज़े पर दस्तक दी।

शाम घिर आयी थी। सामने के पार्क में चिल-पों मचा रहे बच्चे अपने घरों में लौट गये थे। बत्तियाँ जल उठी थीं और भँवरलाल की दुकान में कुन्दनलाल सहगल की आवाज़ में बज रहा गीत ‘करूँ क्या आस निरास भई’ फिजां में गूँज रहा था। उदय की दस्तक पर उसने दरवाज़ा खोला। वे बहुत बुझे हुए थे। लग रहा था जैसे कई दिनों से बीमार हों। वे चारपाई पर बैठते ही बोले—‘कुछ खाना-पाना हुआ आपका?’

उसने यूँ ही कह दिया—‘हाँ।’

‘कहाँ खाया आपने?’

उदय के पूछने पर उसने लापरवाही भरे अन्दाज में कहा—‘यह

भी कोई पूछने की बात है ? इतने बड़े इलाके में भला दुकानों की कमी है जो वह खा न सके !'

'अच्छा, चलिये ठीक है। सुबह की घटना का पता तो है न आपको ?'

'हाँ, कुछ-कुछ मालूम है।' उसने कहा।

'आप ही अब कहिये कि क्या इन चाणडालों के साथ रहना ठीक है ?' उसकी समझ में यह बात बिल्कुल नहीं आयी। वह सच्चाई तो जानता था। उसे उदय की बात ठीक न लगी। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा—

'आप अपनी बनावटी हेठी में रहते हैं और वे लोग इसी को तूल देने पर आमादा हैं। गलतियाँ दोनों तरफ हैं। लेकिन यह बात मैं पूरे विश्वास से कह रहा हूँ कि उन लोगों के मुकाबले आप में गलतियाँ अधिक हैं।'

उदय को उसकी बात अच्छी नहीं लगी, बोले—

'आपका सोचना ठीक नहीं है। ऐसा क्यों सोचते हैं आप ?'

'मेरे पास आँखें हैं और थोड़ी बुद्धि भी। यह बात मैं देख-परखकर कह रहा हूँ।'

'आप सब कुछ जानने के बाद भी ऐसा कह रहे हैं ?' उदय ने कहा।

यह सुनकर उसे बड़ी हैरानी हुई। उसने थोड़ा संयत होकर कहा—

'सब देखने-सुनने के बाद मुझे यही लग रहा है कि आप अपने साथ-साथ पूरे घर को तबाह करने पर तुले हैं। जिस परिवार की हालत यह है कि दो जनों की कमाई के बावजूद घर का खर्च नहीं चल पाता, उसमें आपका शराब पीना और रात-रातभर घर के बाहर रहना क्या ठीक ठहराया जा सकता है ? आपकी इस आदत पर तो कोई नौकर भी उँगली उठा सकता है, फिर तो वे आपके चाचा-चाची हैं और जिम्मेदार लोग हैं। वे क्यों न आपका विरोध करें ?'

'हूँ...हूँ... कहते हुए कुछ क्षण मौन रहने के बाद उदय बोले—

‘कल आप दूसरी व्यवस्था करने की बात कर रहे थे ?’

उसने कहा—‘हाँ।’

‘यहाँ क्या दिक्कत है।’ वे मुस्कराते हुए बोले।

उदय की बात सुनकर उसे बड़ी हैरानी हुई। उसने कहा—

‘अभी आप पूछ रहे हैं कि यहाँ क्या दिक्कत है ?’

‘हाँ, यह सब घरों में होता ही रहता है। इसमें ऐसी कोई बात नहीं कि आप चले जाने को ही सोच लें।’

उदय की बात से उसे गुस्सा आ गया। वह तुनकते हुए बोला—
‘यह आपके लिए सामान्य सी बात होगी, उसके लिए नहीं है। बात सिर्फ यहाँ रहने भर की भी नहीं है। मुझे कुछ काम-वाम के बारे में भी सोचना है। चार-पाँच महीने के बाद आगे की पढ़ाई का भी सोचना है जब नया सत्र शुरू होगा। इस बीच कुछ कमा-धमाकर अपना खर्च निकालने को भी सोचना है। ऐसे में यहाँ रहना तो मुश्किल ही है।’

‘अच्छा, तो आप कौन-सा काम करेंगे ? हर काम तो आपसे होगा नहीं।’

‘यह आप कैसे जानते हैं ?’ उसने कहा।

‘भई, आप भी अजीब आदमी हैं। प्रयास करेंगे कि कहीं कुछ हो जाए, नहीं तो इसी तरह कुछ समय और चल जाए तो हर्ज क्या है ?’

उसे उदय की बात एकदम अच्छी नहीं लगी। पहले तो उसने चुप रहने कोशिश की, पर जब रहा न गया तो बोला—

‘यह महीना कौन-सा है ?’

‘उन्होंने कहा—‘जनवरी।’

उसने खीझते हुए कहा—‘इस महीने की ठण्ड क्या इस चादर से जाएगी ?’

‘अरे, रजाई ले लेंगे, आप नाहक चिन्ता करते हैं।’

अब उसे बर्दाश्त न होना था, न हुआ।

उसने बिना किसी संकोच के उदय पर तंज करते हुए कहा—
‘पिछले नवम्बर में ही आपको मैंने दो सौ रुपये रजाई के लिए दिये

थे। याद तो है न आपको?’

उदय शर्मिन्दा तो हुए पर पैंतरा बदलते हुए बोले—

‘अरे हाँ, एक्स ब्लॉक वाले कालू को रजाई के लिए पैसे दिये दो महीने हो गये, अब याद आया। उफ्फ, दुनियादारी के झमेलों से जरूरी बात भी याद नहीं रहती। आप बेफिक्र रहिये, कल ही रजाई लाये देता हूँ। जवान आदमी हैं, जाड़े की इतनी चिन्ता क्यों करते हैं?’

‘सो तो आप ठीक कह रहे हैं, पर यहाँ मरना भी तो आसान नहीं है। आप ही नाहक में फँसेंगे और मारे जाएँगे, इसीलिए चिन्ता हो रही है।’

उसने खीझते हुए कह दिया था। उदय को इस बात का दुख हुआ था कि उसने उन्हें दिये दो सौ रुपये की बात कर दी थी। सच तो यह भी था कि वह भी गत तीन महीने से बिना पैसे दिये भोजन कर रहा था। उसे अपने कहे का मलाल था, पर अब वह करता भी क्या। अपनी तकलीफ और रोज-रोज के झमेलों से थक कर वह भी तो खिन्न हो चुका था। सच तो यही है कि अगर वह जानता होता कि उदय का यही रंग-ढंग है और आए दिन उनके यहाँ इसी तरह के तमाशे होते हैं तो वह कहीं और रहता, पर यहाँ न आता। यहाँ आकर उसे दुख और ग्लानि के सिवा कुछ भी तो नहीं मिल रहा। दूसरे दिन सुबह-सुबह ही उदय के यहाँ किच-किच शुरू हो गयी थी। गलीवाले कुछ लोगों ने उसे यह आकर बताया और कहा कि उदय, चाचा-चाची से गाली-गलौज कर रहे हैं, उन्हें जाकर उदय को समझाना चाहिए। वह सुनकर परेशान हो उठा। उसका मन नहीं हो रहा था कि वह जाकर फिर बीच-बचाव करे। उसे वहाँ शर्म भी आती। गली के लोग जमा होकर जब घरेलू झांगड़े में रस लेते, दाँत निपोरते और कुछ बोलते, तो उसका खून खौल जाता। फिर भी उसका जी न माना और वह भागा-भागा उदय के घर पहुँचा। जाकर देखा तो उसके भीतर भय व्याप गया। उसने देखा कि चाचा और उदय अलग-अलग जगहों पर बैठे हाँफ रहे थे। इसका मतलब यह था कि उनमें

गाली-गलौज और मारपीट हो चुकी थी। चाची ठीक इसी समय घूँघट की परवाह किये बिना जल्दी-जल्दी नयी रजाई को तह कर रही थीं। उसे सामने पाकर वे बोलीं—

‘हम सब जानीत हैं। यह सब अपने के करतूत है। जाड़े मां जब घर छोड़े रहें तो रजाई लेके आवे का ना चाहीं। हमलोगन आपन कवन-कवन बोझ उठायीं।’ भोजन कराई कि...।’ इतने पर उदय आपे से बाहर आते हुए बोले—‘बस करो चाची, अब एक लफज जबान पर लायी तो बुरा हो जाएगा।’ उदय का इतना कहना था कि चाचा ने नयी रजाई की तह को लात से दे मारा और रजाई दरवाजे तक आकर छितरा गयी। वे अब उसकी तरफ मुड़े और अजीब सी शक्ल बनाकर बोले—

‘बड़े आए हो इसके शुभचिन्तक। लगता है, अब बेटवारा कराकर ही मानोगे। क्यों भई, यह सब ठीक तो है। न जान, न पहचान, ससुरा पता नहीं क्यों जान देने पर तुला हुआ है।’

इस पर उसकी जो दशा बननी थी, वह बनी। उसका तो खून ही सूख गया। शर्म और ग्लानि के मारे उसके आँसू आँखों में आ अटके। उसने रुआंसा होकर अपने दोनों हाथ जोड़कर कहा—

‘आप लोग मुझ पर इतना क्यों बरस रहे हैं। मैंने क्या किया है? मेरा इसमें क्या कसूर है? मुझे क्या पता कि आप लोगों में कितनी रंजिश है और कितनी नफरत भरी है। मुझे यहाँ अब नहीं रहना है। अभी जाऊँगा, जहाँ भी जा सकूँ पर आप लोग मुझे कलंक का भागी न बनाइये। आप लोग अपने में ही निपटिये और जो चाहे वह करिये।’ वह रोष में दबे पाँव अबरू दुबे के भूतहे कमरे की तरफ बढ़ चला। वहाँ से चलते हुए उसने देखा कि उदय रोनी सूरत बनाये बार-बार अपना सर झटक रहे थे और उनकी आँखें झर रही थीं।

उसने इस घटना से इतनी शर्मिन्दगी महसूस की थी कि अब वहाँ एक पल के लिए भी रुकना असम्भव था। पर वह जाए तो कहाँ, यह सोच नहीं पा रहा था। वह अब गाँव लौटना भी नहीं चाहता था, जाए

तो क्यों जाए। क्या वहीं जाए जहाँ से निकलकर आया है। नहीं, नहीं वह गाँव नहीं लौटेगा चाहे जो भी सजा भुगतनी पड़े। इतने बड़े शहर में कोई न कोई ठौर तो उसे मिलेगा। वह गाँव छोड़कर यहाँ कुछ बनने आया है, इसके लिए तो उसे तैयार होना है, खुद को हर तरह की तकलीफ के लिए तैयार करने के सिवा कोई चारा भी नहीं है क्योंकि उसे लौटना नहीं है। इस तरह वह देर रात तक सोचता रहा और तय किया कि अब कोई दूसरा ठिकाना खोजना है। सुबह उठा तो कोहरे से घिरा पाया। सूरज का अता-पता न था। सर्द हवा देह को तोड़ रही थी। उसने अपने सामान समेटे और बैग में उसे रखकर चलने की तैयारी ही की थी कि उदय ने उसका ध्यान भंग किया। उदय ने बैग को देख उससे पूछ लिया—

‘कहीं जाने को तैयार हैं क्या?’

‘हाँ, अब नहीं चाहता यहाँ रहना।’

‘देखिये, आपकी बात ठीक है, पर कहीं जाना इतना आसान नहीं। इतने बड़े शहर में आप खो जाएँगे। बहुत दिक्कत होगी आपको।’

उदय ने ठीक ही कहा था, पर वह मानने को तैयार न था। उन्होंने नाराजगी भरे लहजे में कहा—‘जाना हो तो जाइए, पर यह तो बताइए कि आप जा कहाँ रहे?’

वह तुनककर बोला—

‘मैं कहीं भी जाऊँ, उससे आपको क्या?’ उसने रुखा सा जवाब दिया।

‘यह तो ठीक है कि मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिए, पर चिन्तावश ऐसा कह रहा हूँ। कहीं कोई अनहोनी हो गयी तो हम क्या जवाब देंगे और खुद को माफ भी कैसे करेंगे।’

उदय परिस्थितियों के कारण गलत राह पर भले हों, आदमी बुरे न थे बल्कि सच तो यह भी है कि अपनी अच्छाइयों के कारण ही वे परेशानियों में पड़ते थे। वह भी उनके पास ही आया था, भले ही दूसरे की पहचान से ही आया हो, पर उदय को अपनी परवाह करते

ही पाया था। उदय की चिन्ता की गम्भीरता को समझते वह तनिक नरम हुआ और बोला—

‘आपकी चिन्ता की कद्र मुझे है। आप गलत कह भी नहीं रहे हैं। पर जैसी स्थिति आपके घर की है उसमें मेरा यहाँ रहना ठीक नहीं है। यहाँ से कहीं जाऊँगा तो निश्चय ही कठिनाई होगी, लेकिन कोई पहचान का जरूर टकराएगा और राह निकल पायेगी, यह हमें यकीन है।’

‘ठीक कह रहे हैं, पर यह जोखिम का काम है। थोड़े दिन रुकिये, फिर कोई रास्ता निकलेगा। हम पर भरोसा रखिये।’ उदय ने उसे समझाते हुए कहा।

‘बात आप पर भरोसा करने न करने की नहीं, मेरे भविष्य की है। मैं यहाँ दिन काटने नहीं, भविष्य के सपने के साथ आया हूँ। मुझे कहीं कोई काम भी देखना है, आगे पढ़ना भी है, यह तो आपको मालूम ही है और यहाँ जो स्थिति है उसमें कुछ सोचने की भी सम्भावना नहीं दिखती है।’ उसने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा।

उदय उसके कहे से निरुत्तर तो हुए ही, पसीजे भी। उन्होंने उसे काफी समझाने की कोशिश की। उनका कहना ठीक ही था कि जब तक कोई दूसरी व्यवस्था नहीं होती, तब तक वे यहीं रहें। कोई व्यवस्था जैसे ही होती है, वहाँ जाकर रहने में उन्हें कोई हर्ज नहीं है। उनकी बातों से वह सहमत ही हुआ हो, यह नहीं कह सकते, पर इतना उसे जरूर समझ में आया कि कोई दूसरी व्यवस्था निकलने तक यहाँ रहना चाहिए। लेकिन दूसरी व्यवस्था? यह कैसे और कहाँ निकले? उदय ने कुछ देर की चुप्पी के बाद कहा—

‘देखिये, हमने यह सोचा न था कि ऐसी नौबत आएगी। पर जब आ ही गयी है तो एक रास्ता बचा है जिसे देखते हैं।’

‘कौन सा रास्ता?’ उसने आश्चर्य से पूछा।

वे बोले—‘मेरे एक दूर के रिश्तेदार हैं जो ओखला में रहते हैं और एक फैकट्री में काम करते हैं। वहीं आपको लेकर चलते हैं। कहीं

काम की बात जम गयी तो कुछ महीने वहीं रहिये, आगे का फिर देखा जाएगा।'

उसे उदय की यह बात समझ में आयी और दिल को करार सा हो आया कि शायद यह उसके लिए ठीक हो। उसने उदय को उसी दिन ओखला चलने को राजी कर मन को तसल्ली दी। काश, ऐसा हो जाता कि उसके करने लायक वहाँ काम मिल जाता और वह कुछ महीने वहाँ काट लेता। तब जेब में उसके कुछ पैसे भी होते, यह कठिन दिन भी कट जाते और आगे की चुनौतियों के लिए वह तैयार भी हो पाता। शायद ऐसा हो, ऐसा ही हो शायद। अबके दिन बहुत भारी हैं, बेपनाह दुख है तो वह यहाँ रहते खुद संदिग्ध भी हो चला है; हालाँकि वह जानता है कि यहाँ रहकर कुछ भी ऐसा नहीं करता जिससे उदय के परिवार में तनाव पैदा हो, शान्ति बिगड़े।

चार

वह उदय के साथ मंगोलपुरी के एस. ब्लॉक बस स्टॉप पर लगभग घण्टा भर खड़ा रहा, तब कहीं जाकर 940 नम्बर की बस आयी जो शिवाजी स्टेडियम तक जाती थी। बस आयी पर उसमें चढ़ना युद्ध लड़ने जैसा था। जैसे-तैसे उदय ने घुसने की जगह बनायी तो वह बमुश्किल बस के दरवाजे तक जा सका और फिर भीड़ के रेले से ज़रा सा अन्दर हो सका। खचाखच भरी बस में खड़े होने की भी जगह न थी। लोगों के धक्कमपेल में टिक कर खड़ा हो पाना भी मुश्किल हो रहा था। उदय साथ खड़े थे और सहज भाव से उसे नसीहत देकर सँभाल रहे थे। उन्हें बसों की इस तरह की भीड़ का अभ्यास था। पर वह इस भीड़ और शोर-शराबे से परे अपने में खोया हुआ था। वह ऐसा महसूस कर रहा था मानो बेसहारा हो चला हो, जिसके आगे-पीछे कोई न हो और वह खुद बिना किसी लक्ष्य के अर्थहीन जीवन जीने की निरर्थक कोशिश कर रहा हो। उसके मन में एक तूफान सा मचा था। बस की गति के साथ संगति बिठाता वह तूफान उसे अन्दर ही अन्दर मथ रहा था। जब इसे लेकर वह सचेत हुआ तो बरबस उसकी आँखों से आँसुओं की कुछ बूँदें टपक पड़ीं। उदय ने उसे देखा, देखकर वे चौंके, फिर बोले—

‘अरे, क्या हुआ?’

उसने आँसुओं को रोकने की कोशिश में हड़बड़ा कर कहा—
‘आ...आ... नहीं...नहीं। कुछ भी तो नहीं।’ बस के कुछ यात्रियों

ने उसकी ओर विस्मय से देखा। उसे शर्म महसूस हुई। रुमाल से आँसुओं को पोंछता हुआ उसने अपना सिर नीचे झुका लिया। थोड़ी ही देर में करीब घण्टा भर का सफर तय कर बस शिवाजी स्टेडियम पर आ लगी। वह उससे उतरकर थके कदमों से उदय के साथ जन्तर-मन्तर की तरफ बढ़ चला जहाँ से 433 नम्बर की बस उसे लेनी थी। बस खड़ी थी और उसमें बैठने की जगह भी मिल गयी। बस के चलने के साथ ही वह फिर अपने ख्यालों में उतर आया। उसे अपने घर को छोड़ने की पीड़ा साल रही थी। उसे दिल्ली एक भयानक जंगल जैसी लगने लगी थी जहाँ हर तरफ भय है और अज्ञात की आशंका भी, जाने कब क्या हो, कुछ पता नहीं। उसे ओखला जैसी अनजाना जगह का भय भी था, तो अपरिचित लोगों के बीच फँस जाने का अनजान डर भी। बस में बार-बार यही सोचते उसे सर्दी में भी पसीने आ रहे थे। वह फिर अपनी स्मृति में लौटा। लगा जैसे वह अपने गाँव का घर देख रहा है। लगा जैसे उसकी माँ दरवाजे पर बैठी उसकी राह देख रही है। शायद इस सोच में है कि बेटा दिल्ली जाकर नौकरी कर रहा है। उसकी आशाओं-आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए ही तो वह परदेश गया है। वह देख रहा है और मन ही मन उसे भरोसा दे रहा है—चिन्ता की कोई बात नहीं है माँ। पिता के कमजोर कन्धों का भार अब मुझ पर है, भाई-बहनों की जरूरतों को मैं पूरा करूँगा। और पत्नी...। पत्नी का ख्याल आते ही वह अपनी नज़र में छोटा हो आया। गहरे अपराधबोध से उसकी देह झनझना उठी। उसने अपने को सँभाला और शादी का दोष परिवार पर डाल निश्चन्त हो गया। उसने तो नहीं की यह शादी। वह भी कोई शादी थी? जिस लड़के को खुद की सुधि नहीं, वह पत्नी का क्या करे? पत्नी है तो अपनी बला से। उसे घर के लोग ढोयें, वह उसको लेकर सोचे भी तो क्या। थोड़ी देर में उसकी खीझ दया में बदल गयी। भोली-भाली सूरत की उस कमसिन लड़की का चेहरा उसकी आँखों में उतर आया जो उसकी पत्नी होकर गाँव में घरेलू जिम्मेवारियाँ ढोने को अभिशप्त थी।

अब ख्याल में ही उसने पैसे कमाने शुरू कर दिये। वह सम्भावित नौकरी की माहवार आमदनी का हिसाब लगा ही रहा था कि उदय ने उसे छिन्नोड़ा। बस ओखला बस स्टाप पर लग चुकी थी और सवारियों में उतरने की होड़ लगी थी। बस से उतरकर वह उदय के साथ ओखला औद्योगिक क्षेत्र की तरफ बढ़ चला जहाँ उनके रिश्तेदार रहते थे। उनके रिश्तेदार का नाम राघव था जो एक जूते की फैक्ट्री में ठेके पर चमड़ा काटने का काम करते थे। साँवले शरीर के छरहरे राघव पढ़े-लिखे तो कम थे पर थे बड़े मिलनसार। मिले तो दिल खोलकर और रोम-रोम से पुलकित बदन। उनको देखकर उसे लगा, एक कम पढ़ा-लिखा आदमी, जो दिन-रात की मेहनत कर पेट भरने भर का पैसा कमाता है, वह आदमी भी बहुत भला हो सकता है। उसमें न कहीं दिखावा था, न बनावट। उसमें शहरी नंगई भी न थी कि सीधे मुँह बात न कर सके। उसे अपनी मिट्टी से प्यार था तो अपनी जबान से नेह। वह अपने फटे कपड़े दिखाकर बता सकता था कि वह इतना नहीं कमा पाता कि ठीक ढंग के कपड़े बनवा सके।

उदय ने उनके सामने उसकी समस्या रखी और सारी बातें बताईं। वे ध्यान से सुनकर सोच में पड़ गये। थोड़ी देर बाद बोले—

‘बहुत मन्दा चल रहा इन दिनों यहाँ। काम कम है भीड़ ज्यादा है। और इनकी पढ़ाई-लिखाई माफिक कुछ बन सके, यह ज्यादा कठिन है। फिर भी देखते हैं।’

‘हाँ, जरूरी न होता तो आपको तकलीफ न देते। ये प्रभाकर जी मेरे अपने हैं, बिल्कुल अपना समझिये।’ उदय ने बेहद नरमी से कहा था। ‘देखते हैं उदय कि कौन सा काम मिल पाता है। मिलता भी है कि नहीं। इन दिनों का हाल यह है कि एक जगह होती है तो सौ दौड़ते हैं। और काम...ऐसे-ऐसे कि मत पूछिये। इनके लिए तो अलग से सोचने की जरूरत है।’

राघव की बात सुनकर उसे भी बोलने की जरूरत महसूस हुई। बोला—‘काम तो लिखने-पढ़ने का ही कर सकूँगा। कलर्की,

हाजिरीबाबू या कैशियर जैसा कोई काम। इतना बड़ा इलाका है। अनगिनत फैक्ट्रियाँ हैं, कहीं न कहीं तो बात बन ही सकती है।'

राघव को उसके उतावलेपन पर हँसी आ गयी और थोड़ा गुस्सा भी आया, बोले—‘आप तो ऐसे कह रहे हैं जैसे मैं कह दूँ और काम हो जाए। वह भी आपकी जो पसन्द के काम हैं, वे बेहद मुश्किल हैं मिलने। फिर भी प्रयास से चूक न करूँगा। लेकिन यह बताइये कि अगर काम न हुआ कोई तो फिर आगे क्या होगा?’

‘तो क्या कहीं दरवानी भी न मिल सकेगी।’

उसने अपनी वेदना मिश्रित स्वर में कहा।

‘दरवानी को इतना आसान क्यों समझते हैं प्रभाकर जी। उसके लिए भी बड़ी जोड़-तोड़ चलती है। पर यह तो बताइये इतना सब आखिर क्यों करना चाहते हैं आप?’

राघव की आवाज में तुर्शी थी, पर दयाभाव भी था।

‘मैं यहाँ रहकर, कुछ काम करके आगे की पढ़ाई करना चाहता हूँ। पढ़ने और रहने में जो खर्च आएगा, वह कमाकर ही निकालना है मुझे।’

‘अभी तो कहीं भी दाखिला न होगा। जून-जुलाई के सत्र में दाखिले होते हैं। उसी वक्त यहाँ आए होते तो इस तकलीफ से राहत मिल गयी होती। गलत तो नहीं कह गया मैं।’

राघव के कहे पर वह विचलित हो आया। सोचने लगा—अभी कहीं बात की नहीं, उपदेश ही देने लगे। वह घर न छोड़ता तो क्या घर का बोझ बना रहता? क्या वह रोज-रोज लोगों के ताने सुनता? क्या अपने पढ़े-लिखे होने को लोगों की फजीहत से तौलता? रोज-रोज की तंगी और पिता की निर्मम फटकार का उसके पास क्या जवाब था? उनके लिए वे लड़के उदाहरण हो गये थे जो पंजाब, हरियाणा सहित देश के दूसरे इलाकों में जाकर पैसे कमाते हैं और घर भेजा करते हैं। बात-बात में कलह, आए दिन की कहासुनी से ही तो आजिज आकर वह यहाँ आया है। पिता उसे अब आगे की पढ़ाई

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ , प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों

और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं,

तो हमारे विशेष ➡️  टेलीग्राम चैनल से जुड़ें

और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

 हमारे चैनल में आपको मिलेगा:

 अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)

 प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)

 धार्मिक ग्रंथ और किताबें

 विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य

 बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)

 और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खजाने

 कृपया "Join Now" बटन या लिंक पर Click करें!

HINDI BOOKS CHANNEL

[Join Now](#)  (धार्मिक, आजादी, इतिहास...से सबधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नई, पुरानी किताबों के लिए)

Join Now 

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

Join Now 

https://t.me/Google_Ebooks

Join Now 

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

Join Now 

<https://t.me/Hindilibrary>

के पैसे देने तो दूर, देखना तक पसन्द नहीं करते। जब-तब गुस्से में कहा जाता है कि अपनी बीवी को ले जाओ और खर्च चलाओ। जिस परिवार में उसकी उम्र तक का लिहाज न रहा, जबर्दस्ती ब्याह रचाकर प्रतिष्ठा बढ़ाई गयी—उसमें वह अब कैसे रहे, क्या करे रहकर उसमें।

वह यकायक सोच से बाहर निकला और बोल पड़ा—‘भाई राघव जी, मैं वह सब काम करने को तैयार हूँ जो मिल जाए। दो पैसे कमाना चाहे जिस काम से भी हो सके, वह करूँगा। देखिये, अगर कुछ निकल सके, नहीं तो खुद प्रयास करूँगा, कहीं न कहीं कुछ भी तो हाथ आएगा।’

‘आप नाहक गलत मतलब निकाल रहे हैं मेरी बातों का। मैंने सिर्फ यही कहा था कि कहीं भी नाम लिखाने और पढ़ाई शुरू करने में पाँच-छह महीने की देर है। इतना पहले आने का कारण क्या है आपका?’

राघव के पूछने पर वह अन्दर से फट पड़ा—‘ओह, राघव जी, आप समझ नहीं रहे। कारण यह है कि मेरी आगे की पढ़ाई में घर से फूटी कौड़ी भी नहीं मिलने वाली। घर की हालत भी ऐसी नहीं कि हम उम्मीद भी करें। घर के लोगों को परवाह भी नहीं कि हमारी पढ़ाई-लिखाई से कुछ होने वाला भी है। ऐसे में मैंने बहुत सोच-समझकर घर छोड़ा है और किसी भी हालत में लौटकर नहीं जाना है।’

‘ठीक है प्रभाकर जी, चिन्ता न करिये। कल से प्रयास करेंगे, देखते हैं, क्या निकलता है।’

राघव के कथन से उसे भरोसा हुआ और किंचित आस भी जगी।

अब तय हुआ कि जब तक कहीं काम की व्यवस्था नहीं हो जाती, तब तक उसे राघव के घर में ही रहना है। उसके पास इसके सिवा कोई दूसरा चारा भी नहीं था।

दिल्ली के औद्योगिक इलाके के ओखला फेज एक के बिल्कुल कोने में बसी थी—संजय गांधी कॉलोनी। यह मलिन बस्ती थी जिसमें

फैक्ट्रियों में काम करने वाले लोग झुगियाँ बनाकर रहते थे। इसी कॉलोनी में राघव की भी एक झुगी थी। वे पली सहित उसमें रहते थे। गनीमत ही थी कि उन्हें अभी कोई बच्चा न था वरना बड़ी दिक्कत की बात होती। इस कॉलोनी में लगभग 50 झुगियाँ थीं और आबादी लगभग 500। इसमें रहने वाले ज्यादातर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के लोग थे जो आसपास की फैक्ट्रियों में काम करते थे। वे सभी भोजपुरी बोलने वाले लोग थे जिनमें एकता जैसी बात नज़र न आती थी। जरा-जरा सी बात पर लोग मरने-मारने को उतारू हो जाते और एक-दूसरे की औकात देखने लगते। मर्द तो मर्द, औरतें भी तब एक-दूसरे से खूब लड़तीं। गाली-गलौज और हाथा-पाई का दृश्य प्रायः रोज ही देखने में आता। कॉलोनी के बीच में ही लाला धनीराम हरियाणवी की एक किराने की दुकान थी जिससे जरूरत भर का सामान लोग ले जाते और पगार मिलने पर उधारी चुकाते। इस दुकान में जरूरत भर की हर चीज़ मिल जाया करती। किरासन तेल से लेकर चाय, चीनी से लेकर चावल, दूध से लेकर दवा और दारू तक इस दुकान में उपलब्ध थे। दुकान पर हमेशा भारी भीड़ जमा रहती। ग्राहकों से धनीराम ऐसे बात करता जैसे पुराने जमाने के साहूकार कर्जदारों से करते। उसे पता होता कि उधार की रकम महीने भर बाद ही आएगी, सो वह उल्टे-सीधे दामों पर सामान बेचता और हमेशा तैश में रहता। उसे मालूम था कि उसके उधार न देने पर लोगों के चूल्हे ठण्डे पड़ जाएँगे। बस्ती के लोग इसी सच्चाई को जीते थे और उसकी मनमानी चलती रहती थी। बस्ती के लोगों की इसी लाचारी का फायदा उठाकर धनीराम के मनचले लड़के औरतों से छेड़छाड़ करते और राह चलते फिकरे भी कसते, पर कोई चूँ तक न करता। कई बार ऐसा भी होता कि वे मनचले किसी की झुगी में भी घुस जाते तो कोई कुछ न बोलता।

इस कॉलोनी में ऊपर से सब ठीक दिखता। यहाँ कोई जात-जमात नहीं, कोई छोटा-बड़ा नहीं। सब एक जैसे मजदूर, एक जैसी

विपत्ति के मारे, एक ही जैसी ज़िंदगी को जीने को अभिशप्त थे। सबको सब कुछ पता होता, पर आँखें बन्द रहतीं, कान काम नहीं करते तो जबान सिर्फ आपस में धत् करम के लिए ही खुलती। उन पर चाहे जो अन्याय हो, उसके लिए वे गूँगे थे। फैक्ट्री का मालिक बारह घण्टे खटवाकर औने-पौने पैसे दे या पुलिसवाले जबर्दस्ती डण्डा भाँजकर जेब से रुपये निकाल लें या धनीराम और उसके लड़के अपनी मनमानी चलायें, किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता था। डर था तो यही कि जिस दिन उन्हें फर्क पड़ा, उस दिन वे उजड़ जाएँगे।

छुट्टी के दिन अलग-अलग टोलियाँ बनाकर ढोलक पर थाप देते लोग झूमते और गाते—

‘काहे बिसरल मोर सूरतिया पिया तर्नीं हमके बताव।’

कहीं कोई और गीत हवा में गूँजता—

‘चढ़ल सरदिया के जाड़

मोर पिया गुदरा सियाव।

गुदरा सियाई कइसे पाल नाहीं दामवा

सुन सजनी धीरज धर तूँ।

धीरज धराव तर्नीं मनवाँ जुड़ाव

कि आएब हम चढ़ते चइतवा।’

रात के दो-तीन बजे तक तरह-तरह के गीत होते और तब सर्दी की रात कटने में देर नहीं लगती। उसके सोने की व्यवस्था धनीराम की दुकान के पास खड़े नीम के पेड़ के नीचे की गयी थी जहाँ एक चौकी बिछी थी। ओढ़ने को एक पुराना और झड़ चुका कम्बल था तो सिरहाने पुराना कपड़ा ढूँसकर बनाया गया तकिया। उसे सर्द हवा सनसनाती छूती तो जान निकल जाती। वह जैसे-तैसे सोने का प्रयास करता, पर ठण्ड के कारण नींद ही न आती। नींद न आने और ठण्ड लगने के कारण उसकी आँखें सूज-सी गयी थीं और देह अपनी आब खोने लगी थी। इसी तरह उसके सोने और तकलीफ झेलने का सिलसिला चल रहा था। दिन जगह-जगह काम की तलाश में कट

जाता तो रात सुबह के इन्तजार में गुजरती। जाने क्या बदा है, क्या होना है जैसे प्रश्नों से जूझता वह मुश्किल में आ फँसा था कि एक दिन राघव और उनकी पत्नी की कहा-सुनी ने उसकी व्यथा और बढ़ा दी।

‘आपन खर्चा तो चलते नाही है, अब इनका कैसे निस्तार होय।’ उसने नीम के पेड़ के नीचे बिछी चौकी पर बैठे-बैठे ही राघव की पत्नी इला की भारी आवाज़ सुनी।

उसने ध्यान दिया तो राघव की मद्दिम आवाज़ उसके कानों तक आयी—

‘कोई बात नहीं। काम खोज रहे हैं। अगर बात बन जाएगी तो वे अकेले रह लेंगे।’

‘अकेले रह लेंगे। आखिर ई बवाल अपने सर लिए काहें रहे?’

‘अब बोलो मत। तुम्हारे रिश्ते के भाई ने ही तो इन्हें रखने को कहा है?’

‘हमरा भाई का नाम न लीं। ऐसा लागत है आप बहुत बड़का बन गये हैं। बड़े आए भाई का नाम लेकर बदनाम करने को।’

‘चुप रहोगी कि मार खाओगी?’

‘वो ही तो ला दिये हैं इस शहरिया मा उनको। ना तो पूछता कवन इन तिवारी जी को।’

अब राघव को न बर्दाशत होता था, न हुआ। उन्होंने न आव देखा न ताव झट झाड़ के कुन्दे को अपनी पत्नी इला की पीठ पर दे मारा। वह पीठ सहलाती हुई जोर से चिल्लायी—

‘दउरो, दउरो, मुवाय दिहिस रे।’

सुबह का समय था। वह धनीराम की दुकान पर बैठा नाश्ते की बाट जोह रहा था। हो-हल्ला सुन पड़ा तो उधर दौड़ पड़ा। राघव की झुग्गी के बाहर भारी भीड़ उमड़ आयी थी। भीड़ का स्वर राघव के विरुद्ध था। भीड़ की शक्ल में जुटे मर्द-औरत राघव को भला-बुरा कह रहे थे। औरतों का स्वर ऐसे मौकों पर अधिक तीखा हो जाया करता है। एक औरत मुँह बिचकाकर बोल पड़ी—

‘बड़ा कसाई है न ई। देखो सवितरिया की अम्मा, कोई मरद भला ऐसे मारत है औरत जात को ? छी-छी...।’

सवितरिया की अम्मा बोली—

‘ठीक कहत हो। दुलारे के बापू तो आज तक हमका सींक अस सटका से भी ना छुएन हैं।’

वह भीड़ को चीरता हुआ आगे बढ़ा। राघव उसे देख हैरत में पड़ गये। पर खुद को सँभालते हुए बोले—‘क्या करें प्रभाकर जी, यह जो औरत है न ! तंग आ गया हूँ, सच कहूँ तो। मजाल नहीं, जो कभी यह कायदे की बात कर ले। यह मौका मुनासिब भी नहीं समझ पाती।’

‘जो भी हो, पर यह मारपीट की आदत ठीक नहीं राघव जी।’ उनका प्रतिवाद करते हुए उसने कहा।

उसके वहाँ पहुँचने के बाद भीड़ छँट गयी थी। जो थोड़े से लोग रह गये थे वे भी कुछ देर बाद चले गये। उधर इला का रोना-धोना जारी था मानों उस पर पहाड़ टूट पड़ा हो। राघव के डाँटने-डपटने पर वह चुप हुई और लम्बा घूँघट निकाल झुग्गी के कोने में जा बैठी, पर सिसकी उसकी बन्द नहीं हो रही थी। राघव चिन्तामग्न से दिख रहे थे और थोड़े शर्मसार भी। उसने राघव की तरफ देखते हुए कहा—

‘आप बुरा न मानें तो एक बात कहें ?’

‘हाँ, कहिये तो।’ राघव सकुचाते हुए बोले।

‘यही कि आखिर हुआ क्या कि मार-पीट की नौबत आ गयी राघव जी ?’

‘जाने दीजिये। जानकर क्या करेंगे। अभी-अभी ही तो कह रहा था कि यह औरत जरा भी अक्ल से काम नहीं लेती। मौका-मुनासिब का इसे खयाल नहीं रहता और जो मन में आता है बिना सोचे-समझे उगल देती है। थका-माँदा आदमी घर आता है तो उसे चैन चाहिए न कि औरत की बकबक।’

‘भाई राघव जी, मैं कारण जानना चाह रहा हूँ कि आखिर इस विवाद की जड़ क्या है ?’ उसने कहा।

‘आप क्यों नाहक परेशान हो रहे हैं? यह इसकी आदत ही समझिये। कभी चैन से नहीं रहने देती, सच कहूँ तो।’

‘फिर भी, कोई वजह तो जरूर होगी आज की घटना की। उसने तनिक जोर देकर कहा।’

‘आप जानना ही चाहते हैं तो सुनिये, यह आप ही को लेकर जल-भुन रही है। पूछ तो रही है कि आप कब तक रहेंगे। भला आप ही बताइये, कमाता मैं हूँ, हर चीज़ की जिम्मेवारी मेरी है, इसका क्या जाता है कि इस तरह की बातें करती हैं।’

उसने देखा कि यह कहते हुए राघव की आँखें भर आयीं और उन्होंने अपना सिर संकोच से नीचे झुका लिया था। उसे भी बहुत ग्लानि हुई। उसे महसूस हुआ कि यहाँ आकर और झगड़े का कारण पूछकर उसने अच्छा नहीं किया। वह खामोश खड़ा रहा। समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे। तब तक उसने देखा, उनकी पत्नी इला ने सिसकना बन्दकर अनुनय के साथ कहा—

‘छोड़ी इन सब बातन के। तनिक नाश्ता कर लेतीं, दिन काफी चढ़ि आईल है।’

उसकी समझ में यह न आया कि वह नाश्ता करने के लिए राघव से कह रही है या उससे। राघव सुनते ही गुस्से में बोल पड़े—

‘अब किस मुँह से यह सब कह रही है? क्या यह नासमझ हैं जो नहीं समझ रहे हैं? अपना नाश्ता अपने पास रखो। यह भी अब यहाँ नहीं रहेंगे। कोई बन्दोबस्त करूँगा, तुम चैन से रहो।’

उनकी पत्नी इला रोने-रोने को हो आयी। बहुत देर तक वह राघव को मनाने का प्रयास करती रही। कभी वह बिलखती, कभी रोती तो कभी खुद को कोसती। लेकिन राघव पर उसके पछतावे का कोई असर न हुआ। वह अजीब स्थिति में पड़ा था, समझ में नहीं आ रहा था कि करे तो क्या। काफी सोच-विचार के बाद उसने इला से नाश्ता माँगा और उसके बाद वहाँ से अपनी राह ली। राघव नाराजगी में बिना कुछ खाये-पिये उसी के साथ निकल पड़े थे। उन्हें काम पर

जाना था।

पता चला, वह औरत भी पश्चाताप की आग में जलती रही। दिनभर बिना खाये-पिये झुग्गी में पड़ी रही। यह विषय बस्ती की औरतों के लिए गम्भीर विचार का मुद्दा बन गया था। विचारणीय प्रश्न यह था कि इस घटना का जिम्मेदार कौन है। वह, राघव या स्वयं वह औरत। पर सच तो यही था कि इसकी जिम्मेदारी तो उसी पर थी। न राघव दोषी थे और न इला। वह यहाँ रहने न आया होता तो यह विवाद भी न होता। शायद बस्ती की महिला पंचायत भी इसी निष्कर्ष पर पहुँची हो। उसे बहुत ग्लानि हो रही थी। परिस्थिति का शिकार होकर वह अपनी ही प्रतिष्ठा को तार-तार कर रहा है और दूसरे लोगों के संकट और विवाद का कारण भी बन रहा है। इससे अलग यह भी उसके सोचने में आता कि आर्थिक दीनता की स्थिति में भी राघव को उससे कितनी हमदर्दी है जो पत्नी से भी लड़ ले रहे हैं और दुखी हो रहे हैं। उसे यह भी महसूस होता कि इला घर की हालत को लेकर ही परेशान होती होगी वरना वह बुरी होती तो उसे इतना पछतावा न होता और खाना-पीना भी न तजी होती। वह औरत भी बुरी नहीं, न बुरे राघव हैं। बुरा तो यह समय है जो उसे दर-दर भटका रहा है और कहीं भी शरण नहीं दे रहा। उसे घर से लेकर एकसाथ उन सबकी स्मृति हो आयी जो उसे लेकर नेह-छोह की ढेर लगा दिया करते थे पर जब वक्त आया तो कोई खोज-खबर लेने को भी तैयार न दिख रहा।

समय ही बली होता है। वही जब साथ होता है तो सब कुछ अपने पास और सब लोग अपने ही हुए रहते हैं। वही जब साथ न होता तो कोई भी पास नहीं फटकता। तब जीना भी मुहाल हो जाता है। समय आता है तो जाता भी है। जाता है तो आता भी है। वह कभी भी एकरस नहीं रहता, न एक सा रहता है। आदमी को धैर्य के साथ इसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है—वह आता है तो उसको सँभालकर रखना भी आना चाहिए। अच्छे और बुरे समय में किसी दूसरे की

पहचान हमें होती है कि नहीं, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि अपनी पहचान भी होती है, हम जान पाते हैं कि समय से लड़ पाने की कितनी सामर्थ्य हम में है। बुरे समय से लड़ पाने की सामर्थ्य न हो तो अच्छा समय भी नहीं आता, क्योंकि वह लड़नेवाले की कद्र करता है। जो हार जाते हैं, समय उनको जीवित ही नहीं समझता, इसलिए वह उनके लिए कभी नहीं लौटता, चाहे उसकी प्रतीक्षा में उनकी साँसें ही क्यों न टूट जाएँ।

वह अपनी ग्लानि से उबरा। मन को तसल्ली देकर मान-अपमान के द्वैत से बाहर निकला और समय की प्रतीक्षा में रहकर कुछ सार्थक करने और सोचने को ही अपना ध्येय बनाया। उसने मन ही मन में विचार किया—मान-अपमान और निन्दा-भर्त्सना को सहने की क्षमता जिसमें नहीं होती, वह आदमी उल्लेखनीय बन पाने योग्य नहीं होता। उसे राहत मिली। उसे सहसा महसूस हुआ, अन्तर में उसके स्फूर्ति का संचार हो रहा है। वह खुश हुआ और विगत को भूलकर आगत के आसरे हो आया।

स्थिति अब सामान्य थी। पहले की भाँति ही सब कुछ चल रहा था मानों पीछे की दुर्घटना घर के सौमनस्य को बढ़ानेवाली नेमत बन गयी हो। पर राघव का चित्त अब भी उड़ा हुआ था। वे उदास रहते थे। वे उससे कम बोलते थे और अधिक समय तक साथ रहने से बचते थे। राघव चूँकि मन से बहुत भले और सचे थे, इसलिए उन्हें शर्म महसूस होती थी। इला उन्हें मनाने का प्रयास करती, पर वे अनमने ही रहा करते। उसने भी उन्हें समझाने की कोशिश की, पर उनमें कोई ज्यादा बदलाव न दिखा। हाँ, इतना जरूर हुआ कि इला अब बेहद सर्तक रहने लगी। उसकी आवभगत में उसकी रुचि रहने लगी और आए दिन की किच-किच मानों कोसों दूर जा पड़ी। इन्हीं दिनों में एक रात को खाना खाते-खाते राघव ने उससे कहा—

‘आपके काम के लिए कई जगह बात चलायी है जिसमें एक काम की उम्मीद बन रही है। करेंगे न आप?’

उसने तत्परता से कहा—‘जरूर करेंगे, पर काम करने लायक तो होगा न ?’

‘कर सकेंगे आप। दरवानी का काम है। एक फैक्ट्री की दरवानी का। काफी भाग-दौड़ के बाद बात बनने की उम्मीद लग रही है।’

उसे राघव की बात से कोई आश्चर्य न हुआ। उसे तो पहले से ही मालूम था कि इसी तरह के काम उसे मिल भी सकेंगे। उसकी पढ़ाई-लिखाई का यहाँ कोई विशेष मतलब है भी नहीं। इसके अलावे जो उसे काम मिल सकते हैं, वह इसके योग्य नहीं है। फैक्ट्रियों में करने लायक काम उसने सीखा भी नहीं है। उसके पास न कोई पैरबी है और न इतनी शहराती बुद्धि कि मनमाफिक रास्ता निकाल सके। उसने कुछ देर के सोच-विचार के बाद कहा—‘ठीक तो है। पहले भी कह चुका हूँ जो भी काम मिलेगा, करूँगा। बस, यही ध्यान में रखियेगा कि कोई तकलीफ न आए।’

राघव सुनकर थोड़ा ठिठके, फिर बोले—‘बात यह है कि इसमें एक बिचौलिया है। हमारी सीधी कोई बात नहीं हुई है।’

उसने आश्चर्य से पूछा—

‘मतलब ?’

‘यही कि इस बारे में मैंने एक ठेकेदार से बात की है। वह कमीशन लेकर फैक्ट्रियों में बहालियाँ कराता है। अब वह जो करे। कल सुबह बताने को कहा है।’

राघव ने सकुचाते हुए अपनी बात पूरी की।

उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। फैक्ट्री की दरवानी में कमीशन। यानी दलाली के जरिये उसे दरवानी का काम मिलेगा। ठीक है, यह भी सही। वह यह भी करेगा। यहाँ पड़ा ही तो रहता है। काम करेगा तो कुछ पैसे हाथ पर तो आएँगे। रोज-रोज की कहासुनी से आजादी तो मयस्सर होगी। वह तब बोझ तो न रहेगा। अपने ढंग से रह पायेगा। उसने हामी भरी और स्फूर्त मन से रात कटने की बेचैन प्रतीक्षा करने लगा।

रात आँखों में ही कट गयी थी। सुबह हुई तो उसे लगा, जैसे दुख बीती रात के साथ विदा हो गया। अब एक नयी शुरुआत हो सकेगी और वह अपने में जी सकेगा। सूरज धुन्ध में कहीं गुम था और चारों तरफ कोहरे का राज था। कोहरे के साथ ठण्ड मिलकर कहर बरपा रही थी। पर जिंदगी रुकती कहाँ? वह तो भाग रही थी, वह थम गयी तो दुनिया भी थम जाएगी। वह जल्दी-जल्दी अपने काम से फारिग होकर राघव के आने की बाट जोहने लगा ताकि ठेकेदार से मिलना हो और उसके जीवन का एक पन्ना खुले, चाहे वह मटमैला या बदरंग ही हो, पर खुले तो सही।

राघव उसकी उम्मीद के मुताबिक उसी समय पर आए जिस समय वे फैक्ट्री के लिए निकलते हैं। वे आए तो वह उनके साथ हो लिया। साथ चलते हुए राघव खामोश थे। वह भी चुपचाप उनके कदमों के साथ चलता जा रहा था। करीब पन्द्रह मिनट चलने के बाद वह फैक्ट्री आ पहुँची जहाँ ठेकेदार बैठता था। फैक्ट्री के प्रवेश-द्वार पर बायीं तरफ एक छोटी सी कोठरी थी जिसमें सीधे सामने की कुर्सी पर ठेकेदार नागूराम पसर कर बैठा था और उसके दोनों पैर सामने की मेज पर टिके थे। राघव देर तक उससे बात करते रहे। वह भी इधर-उधर की बातों में उन्हें फँसाये रखकर काम की बात से कन्नी काट रहा था। राघव को काम पर जाना था, लेकिन उसे इसकी कोई परवाह न थी। वह भी चुपचाप नागूराम की बतकुचन को झेल रहा था। वह करता भी क्या, बात तो राघव को ही करनी थी। धैर्य धारण किये राघव के साथ-साथ ठेकेदार नागूराम को वह भी झेल रहा था। वह मेज पर पैर टिकाये लम्बी मूँछों पर ताव देकर कह रहा था—

‘इस मुलुक में पहला गुनाह पैदा होना है, दूसरा गुनाह है जियादा पढ़-लिख लेना और गाँव छोड़कर शहर आना, जानते हो राघव, दोबारा जनम लेना है।’ उसे लगा जैसे उसने कितनी बड़ी बात मुफ्त में कह दी हो। फिर यकायक खामोश होकर वह मजदूरों की हाजिरी लेने में व्यस्त हो गया। छोटी सी फैक्ट्री थी वह—लूथरा ग्लास फैक्ट्री।

एक छोटे से तिमंजिला मकान में चल रही वह फैक्ट्री करीब डेढ़ सौ कामगारों के रोजगार का साधन थी। बाहर छोटा सा गेट और गेट के सटे छोटी सी चौकीनुमा कोठरी, वहीं नागूराम दस से बारह घण्टे कुर्सी पर बैठा रहता, अपनी अधिपकी मूँछों पर हाथ फेरता और आने वाले मजदूरों से अकड़कर कहता—

‘पता चल रहा है कि साला तुम ठीक से काम नहीं करता। कल तुम्हारा कम्पलेन मेरे तक आ पहुँचा है। हम जल्दी एक्सन लेगा तुम पर।’ वह लगभग यही बात हर मजदूर से दुहराता। मजदूर बारी-बारी आकर हाजिरी लगाते और उसकी धौंस सुनकर हाथ जोड़ गिड़गिड़ते—‘ऐसा न कहिये बाबू जी। कोई भूल हो गया होगा। हम तो दिनभर मेहनत से काम करता है, थोड़ा भी देह नहीं बचाता।’

‘ठीक है, ठीक है। पगार के दिन का याद है न?’

‘हाँ, बाबू जी। नौकरी करना है तो उसको कैसे भूलेगा आदमी।’

मजदूरों का गिड़गिड़ाना और पगार वाले दिन की दलाली को याद में रखना नागूराम को खुश कर देता। वह मुस्करा उठता और बार-बार यही अभिनय करता। उसे नागूराम की इस मक्कारी पर गुस्सा आ रहा था और उसकी समझ में यह नहीं आ पा रहा था कि इन्हीं मजदूरों में से निकलकर नागूराम आखिर ऐसा क्यों हो गया है!

उसे लगा, अशिक्षा और अपने अधिकारों को लेकर सचेत न रहने से ही यह दशा बनी है जिसका एक कारण मजदूरों का असंगठित रहना भी है। कितनी बुरी स्थिति है कि सरकारों के बड़े-बड़े दावों के बावजूद कामगार जी-तोड़ मेहनत के बदले ठीक से दो जून की रोटी भी नहीं कमा पाता और मालिकों की सम्पदा बेपनाह बढ़ती जाती है। और उसमें भी बिचौलिए मजदूरों की गाढ़ी कमाई को ऐंठ मजे में रहते हैं जिन्हें न मालिक देखता है न कानून। सच यही है कि यहाँ कोई राज नहीं, कोई कानून नहीं, बस ताकत की चलती है। जो ताकतवर है वही राजा है। उसकी छोटी समझ में जो बात आ सकी थी, वह सोच लिया, वह खुद भी तो शिकार होने ही आया है—इसका भान होते ही

उसका चेहरा मुरझा गया ।

थोड़ी देर में राघव ने उसे नागूराम के हवाले कर अपनी फैक्ट्री की राह ली । कहा—‘नागूराम जी जैसा कहें, करियेगा और शाम को लौटेंगे तो बताइयेगा ।’

उसने हामी में सिर हिला दिया ।

उसने जब नागूराम को फुर्सत में देखा तो टोका और अपने काम की प्रगति के बारे में पूछा—

‘राघव जरा पहिले बताये दिये होता तो, दिक्कत न रहता । फिर भी कोई प्राप्ति नहीं आएगा । सक्सेना साहब से परसों बात किया था, कह रहे थे, जगह खाली है । मैं लेटर देता हूँ फोन भी घुमा देता हूँ—जाओगे तो काम हुआ ही समझो आप ।’

थोड़ी देर में नागूराम ने उसे सक्सेना के नाम एक चिट्ठी लिखकर दी और कहा—

‘साहब के पास जाते ही हाथ जोड़कर सबसे पहले नमस्ते करना । उसके बाद अपनी लाचारी बताना । अन्त में यह चिट्ठी उनके हाथ में थमाना, कहना, नागूराम जी ने दिया है, वे सब समझ जाएँगे । और हाँ, काम पकड़ लो, तो पगार वाली बात जरूर याद रखना ।’

वह नागूराम की चिट्ठी लेकर सड़क की पटरी पकड़कर चल पड़ा । बगल से गुजरती गाड़ियों के शोर से बेखबर हो, सोचते-सोचते ही वह ‘सक्सेना केबल’ के सामने आ पहुँचा । सामने बड़ी इमारत दिखी तो इधर-उधर फटेहाल मजदूरों की भीड़ । कोई तीस का होकर पचास का लगता, तो किसी की कमर ही टेढ़ी दिखती । चेहरे पर झुर्रियाँ, पिचके गाल और सिर के बाल नदारद । फैक्ट्री का सारा काम पहली मंजिल पर होता था । वहाँ मजदूर बड़े-बड़े हथौड़ों से लोहे पीटते । बगल में गर्म पानी का टब था जिसमें लोहे को कुछ रसायनों से साफ किया जाता । कड़ाके की ठण्ड में भी ठिठुरे मजदूर अपने काम में लगे थे । उसने फैक्ट्री के एक मजदूर से सक्सेना के बारे में पूछा तो उसने बताया—

‘अब टाइम हो गया है बाबू जी के आने का। आ ही रहे होंगे।’

‘कितने बजे आते हैं?’

‘यही कोई बारह बजे तक।’

फिर वह उसकी ओर देखकर बोला—

‘तुमको काम करना है क्या?’

‘हाँ।

‘किस तरह का?’

‘अरे भैया, जैसा मिल जाए।’ कहते हुए वह मन ही मन हँसा और सड़क के किनारेवाली पान की दुकान पर खड़ा होकर सक्सेना का इन्तजार करने लगा।

अभी कुछ ही मिनट बीते होंगे कि एक सफेद चमचमाती कार फैक्ट्री के गेट पर आ रुकी। उसे समझने में देर न लगी कि यही सक्सेना होगा। कार के रुकते ही वहाँ मजमा लग गया। किसी ने कार का दरवाज़ा खोला, तो किसी ने उसकी ब्रीफकेस थामी। कोई कार को कपड़े से पोंछकर चमकाने में लग गया। गरज यह कि एक पूरा तमाशा सक्सेना के इर्दगिर्द शुरू हो गया। सक्सेना जैसे ही कार से उतरा, उसकी धौंसभरी मुँहफट जबान चल पड़ी—‘कितने कारीगर आए हैं अभी?’

‘जी, लगभग आधा।’

‘और साले मर गये क्या?’

‘आते होंगे बाबू जी। सर्दी का मौसम है न। कइयों के पास गरम कपड़े तक नहीं हैं।’ एक बूढ़ा मजदूर, जो शायद सुपरवाइजर होगा, आगे बढ़कर बोला। इस पर सक्सेना तुनक गया—‘चोप्प। गरम कपड़े का मैंने कोई ठेका ले रखा है क्या। सर्दी में तो मजदूरी कम नहीं लेते हरामखोर।’

‘कम ही लेते हैं जी। दहाड़ी पर तो काम है नहीं, ठेके पर है। देर करेंगे तो पैसे भी कम बनेंगे।’

‘साले, तुम बहुत बक-बक करने लगे हो। कोई भी बात करो,

तुम जरूर कुछ न कुछ बकोगे । जाओ, हटो यहाँ से ।'

इतना सुनना था कि सक्सेना का वह बूढ़ा सुपरवाइजर छेदीलाल वहाँ से खिसक गया । सक्सेना अब फैक्ट्री के अन्दर दाखिल हुआ । फैक्ट्री का मुआयना कर छेदीलाल को बुलाकर फिर कहने लगा—

“पहले तो तुम अपनी बक-बक पर लगाम लगाओ । मजदूरों को हिदायत दो कि वे समय पर आया करें । और हाँ, तुम्हें मालूम है कि सोनीपत से कितने का ऑर्डर आया है ?”

‘जी’ छेदीलाल ने हुँकारी भरी ।

‘कितने का ?’

‘बीस लाख का ।’

‘कब तक वहाँ माल भेजना है ?’

‘जी, वो तो नहीं मालूम !’

छेदीलाल की बात सुनते ही सक्सेना भड़क उठा । बोला—‘साले, तुम्हें हराम की कमाई खानी है । इधर-उधर की बातों में उलझना और उलझाना तुम्हारा धन्था है । अब तुम्हीं कहो, फैक्ट्री के आए ऑर्डर भी तुम नहीं जानते जबकि ऑर्डर दो दिन पहले आया और तुम्हारे पास से उसकी कॉपी मेरे पास आयी ।’

छेदीलाल जैसे सोते से जागा—‘जी, जी । अब याद आया । वह ‘मल्होत्रा एण्ड कम्पनी’ का न !’

सक्सेना को फिर गुस्सा आया—

‘छेदीलाल होश ठिकाने रखो, नहीं तो चलता कर दूँगा यहाँ से । लोगों की कमी नहीं मुझे । बूढ़ा जानकर कब तक झेलूँगा तुमको ।’

‘जी, बाबू जी, माफी दें । अब से नहीं होगी गलती, भरोसा करें ।’ छेदीलाल हाथ जोड़कर ऐसे बोला जैसे किसी हत्यारे के सामने निरीह व्यक्ति जान की भीख माँगता हो ।

सक्सेना जब जाने को हुआ तो वह सहमा-सहमा उसके पास आया । वह सक्सेना के तेवर देखकर पहले से ही भयभीत था, पर मिलने के अलावा चारा भी तो कोई नहीं था । अगर आज मिलना न

होता तो न जाने कब मिल पाता। सक्सेना के पास जाकर उसने अपने दोनों हाथ जोड़कर कहा—‘नमस्कार।’

‘कौन हो तुम?’

‘जी, मैं प्रभाकर।’

‘ठीक है। काम बताओ?’

‘जी, मुझे नागूराम जी ने भेजा है। यह चिट्ठी भी दी है आपके लिए।’

‘हाँ, हाँ, याद आया।’ सक्सेना ने तनिक ठहर कर कहा।

इस बीच वह नागूराम की चिट्ठी पढ़ने लगा। सुपरवाइजर छेदीलाल भी पास ही खड़ा था।

‘तो तुम नौकरी के लिए आए हो?’ चिट्ठी पढ़कर जेब में रखते हुए सक्सेना ने उससे पूछा।

‘जी।’

‘कैसी?’

‘यह मैं कैसे कहूँ। जो मिल जाए कर लूँगा। पर करने लायक हो वह।’

‘जगह न भी हो, तो भी निकाली जा सकती है, पर यह बताओ कि कोई काम आता भी है तुम्हें?’

सक्सेना ने कड़कती आवाज़ में पूछा था।

‘कोई काम तो नहीं जानता। फैक्ट्री में करने लायक काम को नहीं सीख सके अब तक।’

उसने धीरे से कहा।

‘अरे भई, फीटर, वेल्डर, मोल्डर, हेल्पर—इतने सारे टेक्नीकल ट्रेड हैं, कुछ भी नहीं सीखा?’

‘नहीं साहब, यह सब नहीं आते।’

‘तब क्या करोगे?’ उसने अपनी निराशा ज़ाहिर करते हुए कहा।

‘आप ही कोई रास्ता निकालें। मजबूर हूँ और जरूरत के चलते काम करना चाहता हूँ।’

उसकी बात सुनकर सक्सेना जोर से हँसा और हँसते हुए ही बोला—

‘भई, यह कौन सी नयी बात कह रहे हो। मजबूरी और जरूरत न हो तो कोई नौकरी क्यों करना चाहेगा? बिना काम किये जब काम चल जाए तो घर में ही क्यों न रहे आदमी।’

‘हाँ, बात तो सही कह रहे आप।’

उसने हाथी भरी।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद सक्सेना सधे लहजे में धीरे से बोला जैसे वह अपनी कृपा बरसा रहा हो—‘देखो, आदमी तुम भले दिख रहे, मजबूर भी। तुम्हारे लिए एक जगह निकाल सकते हैं दरवानी की। यह काम बिना मेहनत का है। क्या छेदीलाल?’

‘जी मालिक। एकदम सही कह रहे हैं।’

उसने फिर कहना शुरू किया—

‘फैक्ट्री में ही रहना है। रहना मुफ्त का ही समझो। जहाँ रहना होता है उसकी साफ-सफाई खुद ही करना होता है। तुम यह कर लोगे, लगता है मुझे। दिन में एकाध झपकी ले लिया करना। रात को जगकर दरवानी बजानी है, बस। जवान आदमी को ज्यादा देर सोने की जरूरत ही कहाँ होती है, उसमें भी यह सर्दी का मौसम है। यह सब काम तुम्हें अपना काम समझकर करना है।’

वह खड़े-खड़े सुनकर सोच ही रहा था कि सक्सेना फिर बोलने लगा—

‘अब जैसे देखो, फैक्ट्री का ऊपरी हिस्सा बन रहा है। कारीगर जल्दी आ जाते हैं, मजदूर देर से। अगर कारीगरों को एकाध बोरी सीमेण्ट की जरूरत पड़ जाए, तो तुम्हें वह पहुँचा देने में कोई दिक्कत क्यों होगी। वहाँ बैठकर काम भी कराओ और आराम भी करो। यह सब तुम्हें अपना समझकर कह रहे हैं, क्या छेदीलाल?’

‘जी मालिक। सबसे इतनी गहरी और निजी बात थोड़े कही जाती है।’ छेदीलाल ने दाँत निपोरते हुए कहा।

सक्सेना का बोलना जारी रहा—

‘रही बात पेमेण्ट की, तो शायद तुम जानते होगे कि यहाँ इस काम का लोग चार सौ रुपये देते हैं। हम तुम्हें पचास और बढ़ाकर दे देंगे, हर्ज क्या है। और हाँ, कुछ पढ़े-लिखे भी हो ?’

वह चुप्पी साधकर सुन रहा था। सक्सेना की बातों से उसका सिर चकरा रहा था। उसे लग रहा था कि कहीं चक्कर खाकर गिर न पड़े वह।

‘कोई दिक्कत है ? बोलो तो ? मैं जल्दी में हूँ, इतना समय नहीं मेरे पास। ठीक से सोच-विचार लो। अगर बात जमती हो, तो कल इसी समय आ जाओ और काम पर लग जाओ। छेदीलाल सब कुछ ठीक से समझा देगा।’

सक्सेना के कहने पर उसने धीरे से कहा—‘अच्छा, सोचता हूँ। बता दूँगा जल्दी।’

सक्सेना की कार निकल चुकी थी। वह थके कदमों से बाहर की तरफ बढ़ा। वह सोच नहीं पा रहा था कि करे तो क्या करे। राघव के यहाँ रहना अब मुमकिन न था। मंगोलपुरी लौटना और भी फजीहत का काम था! गाँव लौटे, वह भी ठीक नहीं। यह काम उसके वश का नहीं है और दूसरे काम उससे हो नहीं सकते। क्या हो, क्या हो सकता है, जैसे प्रश्नों में उलझा हुआ वह बेहद हताशा की हालत में था। एक क्षण को लगा वह राघव के घर लौट जाए, क्योंकि अब यहाँ कोई उम्मीद बची नहीं है। फिर दूसरे ही क्षण उसे लगा कि राघव के यहाँ जाने से पहले क्यों न वह नागूराम से एक बार और मिल ले और जो हुआ वह बता दे। वह अब नागूराम की फैक्ट्री की तरफ मुड़ चला।

लूथरा ग्लास फैक्ट्री की अपनी छोटी सी कोठरी में नागूराम उसी अन्दाज में बेफिक्र बैठा दिखा जैसे वह पहले दिखा था। बनावटी रोब में मेज पर पैर रख वह बीड़ी सुलगा रहा था। उसे देखते ही उसने पूछा—

‘कहो भैया, काम तो बन गया ?’

उसने कहा—‘नहीं।’

‘क्यों?’

‘क्यों क्या, मैं कोई बैल हूँ क्या जो चौबीसों घण्टे काम में जुटा रहूँगा? दरवानी से लेकर मजदूरी तक का काम, और वह भी साढ़े चार सौ रुपये में। कुछ तो इंसानियत होती है नागूराम जी।’

‘ये क्या इंसानियत विन्सानियत की बात करते हो भाई। इसका कोई मतलब नहीं रह गया है। यहाँ पैसा कमाना है, चाहे जो करना पड़े। अच्छा यह तो बताओ कि हुआ क्या?’ नागूराम ने पूछा। उसने विस्तार से नागूराम को सक्सेना से हुई बातचीत का हवाला दिया।

....हूँ....हूँ....हूँ...करते लम्बी साँस लेते हुए नागूराम बोला—

‘अच्छा, और देखता हूँ। मेरी जेब में नौकरी तो है नहीं। जो बड़े-बड़े लोग पहचान में हैं उन्हीं से कह सकता हूँ। देखता हूँ अगर कहीं बात बनती है तो। कॉन्ट्रेक्ट में रहना भाई। फिर भी बात न बनी तो क्या कर सकते हैं हम!’

उसने कहा—‘देखिये, कुछ बन सके तो राघव जी को बता दीजियेगा, वे हमें खबर कर देंगे।’

नागूराम ने आश्चर्य से पूछा—

‘तो आप ओखला छोड़कर जा रहे हो क्या।’

‘सोच तो रहा हूँ।’ उसने कहा।

‘यहाँ नहीं रहोगे तो बात नहीं बनेगी। एक जगह खाली दिखी तो पचास दौड़ते हैं उस पर।’

नागूराम ने तनिक ठहरकर कहा।

‘होगा या न होगा, इसकी चिन्ता अब नहीं। वैसे लग यही रहा कि यहाँ मेरे लायक काम नहीं मिल पायेगा। जो मिल रहा है, वह कर नहीं सकता। ऐसी भी मजबूरी नहीं कि मैं अपनी जान ही दे दूँ।’ उसने बेहद नरमी भरे स्वर में दुखी मन से कहा।

थोड़ा रुक कर उसने फिर कहा—

‘अगर ट्यूशन की व्यवस्था बन जाती तो रुक सकता था। अगर

हो सके तो देखियेगा।'

नागूराम की आँखें चकराईं।

'तो आप ठीक-ठीक पढ़े मालूम हो रहे। एक माडल स्कूल खुला है, उसमें मास्टरी की बात करता हूँ। कल अपने कागज लेकर आओ तो।'

उसे नागूराम की बात पर हँसी आते-आते रुकी। ठीक है, ठीक है, कहते हुए नाउम्मीद होकर वह वहाँ से निकला तो आसमान धुन्ध से पटा दिखा। हल्की-हल्की बारिश होने लगी थी और ठण्डी हवा हड्डियों में समा रही थी। राघव को उसने लौटकर आज की घटी घटना का हवाला दिया और अब वापस जाने की बात भी की। राघव अभी घर न लौटे थे, वह उनसे उनकी फैक्ट्री में मिला था। ज्यादा देर वे बाहर रहकर बात करते तो मुश्किल होती। जल्दी-जल्दी में वे जो कह सके थे उसका आशय यही था कि वह अभी रुक कर थोड़ा इन्तजार कर लेता, तो अच्छा होता। पर वह अब रुकने के लिए तैयार न था। उसने उनकी हमदर्दी और कुछ दिन साथ रखकर किये गये उनके एहसान को अपनी नम आँखों से ढुलक पड़े आँसुओं से माना और अभिवादन के साथ उनसे विदा ली।

वहाँ से आकर अपना सामान समेटकर भरे मन से जब वह बस स्टॉप के लिए चला तब न जाने क्यों लाला की दुकान और कॉलोनी की चहल-पहल के प्रति उसमें मोह जगा। विदा करने तो उसे कोई न आया, पर वह भरे मन से कॉलोनी को विदा कह रहा था।

पाँच

अभी दिन ढलने में देर थी। बस स्टॉप पर सवारियों की भारी भीड़ देख उसका माथा चकरा उठा। लोगों की भीड़ देखने से अनुमान हो रहा था कि बहुत देर से कोई बस आयी नहीं है। उन दिनों सड़कों पर बहुत कम कारें चला करतीं। जिनके पास कार होती, वे बड़े लोग माने जाते। गरज यह कि हर आम खास के लिए बसों की सवारी ही सुलभ थी। जिस दिन बसें न चलतीं, उस दिन दिल्ली थम जाया करती। वह स्टॉप के कोने पर खड़ा बस की प्रतीक्षा में जुट गया। पास ही खड़े लोग राजनीतिक चर्चा में व्यस्त थे। एक सज्जन कह रहे थे—‘भई, यह राजीव गांधी जब से प्रधानमन्त्री बना है, देश का सत्यानाश हो गया है।’ दूसरा कह रहा था—‘हम देखेंगे, हमें देखना है, के अलावा वह कुछ जानता नहीं।’ बहस गर्म होते देख एक मरियल सा व्यक्ति बीच में कूद पड़ा और बोला—‘उसको तो कम्प्यूटर क्रान्ति से ही फुर्सत नहीं है। दफ्तरों-फैक्ट्रियों से अब लोग निकाले जाएँगे। काम कम्प्यूटर से होगा। लोग खाये बिना मर जाएँ, इससे उसको क्या मतलब।’ बहस परवान चढ़ रही थी। उसमें एक बूढ़ा आदमी शामिल हुआ और बोला—‘जब से राजेश पायलट परिवहन मन्त्री बना है, तबसे सड़कें गड्ढा बन गयी हैं और बसों की आवाज़ाही बिगड़ गयी है। यह काँग्रेसी कभी सुधर नहीं सकते। लगता है, यह देश इनके बाप की जागीर है, चाहे जैसे चलायें, कोई बोलनेवाला ही नहीं है।’ वह तो यह बहस सुनकर उकता सा गया। कोई थमने को तैयार न था और

बस भी न आ रही थी कि यह सिलसिला टूटे। अचानक एक युवक की मानों तन्द्रा टूटी और वह सबको फटकारते हुए बोल पड़ा—‘आप लोग खुद खड़े-खड़े फैसले सुना दें और अपना कोई फर्ज न समझें। यहाँ सबके सब चोर-बेर्इमान हैं। किसी में कोई ईमान नहीं है। कोई अपना काम ईमानदारी से नहीं करता। लूट का मौका मिले तो आप ही लोग देश को बेच देंगे। अरे, काँग्रेस और राजीव गांधी को कोसने से क्या होना। इस देश में जो कुछ भी है, वह काँग्रेस का ही किया हुआ है।’

युवक की बातें सुन कुछ लोग तमतमाये। कुछ वी.पी. सिंह के गुणगान में लग गये। गनीमत ही कहें कि बस आ पहुँची और इस बहस पर रोक लगी। वह भी हिम्मत जुटाकर लोगों के रेले के साथ बस के अन्दर पहुँचा। भारी भीड़ के साथ बस चल पड़ी। वह एक कोने में अपने सामान के साथ दुबक कर खड़ा हो गया था। इधर बस चल रही थी उधर उसके भीतर तूफान मचा था। अब वह क्या करेगा, कहाँ जाएगा। मंगोलपुरी जाने के अलावा कोई विकल्प दिखता न था। मंगोलपुरी का ध्यान आते ही उदय का चेहरा यकायक उसकी आँखों के सामने आया और फिर उनके चाचा-चाची का। वह सोचने लगा, जब तक उदय शराब से छुटकारा नहीं पाते, तब तक उनके घर की अशान्ति जाने से रही। अपनी पत्नी से भी उनको सम्बन्ध सुधारना होगा तो अपनी गलतियों पर भी ध्यान देना होगा। लेकिन इससे उसको क्या। उसे तो अपना देखना है। मगर किसलिए? इस सवाल के आते ही उसका दिल दरकने लगा। मुसीबत के मारे लोगों के पास जाकर वह क्या इंसाफ कर रहा है? नहीं, उसके भीतर से आवाज़ आयी। यह न्याय-अन्याय पर सोचने का समय नहीं, अपने जीवन को बचाने का समय है। मंगोलपुरी के वे लोग ही एकमात्र आसरा हैं, चाहे वे जैसे भी हों। मगर क्या जीवन को इसी तरह बचाया जाता है। जिस दरवाज़े पर और जिन लोगों के द्वारा वह लगातार जलील होता रहा, क्या अब उन्हीं के पास वह अपने जीवन की दुहाई देने जा सकेगा?

इस बार वह अपने भीतर से दहल उठा। वह अपने अन्तर से उठे प्रश्न का उत्तर पाने में असमर्थ था। वह फिर सोचने लगा—दिन-दिनभर भूखों रहकर एक जेलनुमा कमरे में बन्द रहकर पूरी सर्दी उसने जिस तरह ठिठुर कर बितायी है, क्या वह जगह अब भी रहने लायक बनती है। इस तरह जीकर कौन सी उपलब्धि हासिल कर लेगा वह। और यह भी क्या भरोसा है कि इतना सब हो जाने के बावजूद वह लोग उसे रखने को तैयार ही हो जाएँ। उदय चाहें भी तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि वे अपनी साख गँवा चुके हैं। वह इसी उधेड़बुन में पड़ा था, तब तक बस स्टॉप पर आ लगी। वह आहिस्ता से नीचे उतर आया।

उसने काफी सोच-विचार के बाद मंगोलपुरी जाने का ही मन बनाया। एक बार निर्णय लेने के बाद वह जैसे हल्का हो आया। 940 नम्बर की बस पर सवार होकर वह घण्टे भर की यात्रा कर एस ब्लॉक, मंगोलपुरी के स्टॉप पर आ पहुँचा था।

धूप जाते-जाते सूरज की तपन का अहसास करा रही थी और आसमान की रंगत बदल रही थी। वह कभी नीला होता, कभी बैंगनी और कभी आग की रंगत में दहकता। बादल के टुकड़े उन रंगों पर तैरने के अन्दाज में फैलने लगते और सिकुड़कर अचानक गायब हो जाते। वह धीरे-धीरे गली के रास्ते सकुचाता चलता हुआ उदय के घर के सामने खड़ा हुआ। कुछ देर तक दरवाजे पर खड़ा रह इन्तजार ही कर रहा था, तब तक उदय की चाची ने उसे ताड़ लिया। वे एक पल ठिठकीं, फिर सहज होकर बोलीं—‘आ जाई बाबू। घरवा मां आ जाई। सब लोग काम पर गएन हैं।’

उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई तो वे फिर बोलीं—

‘बाबू लजात काहे हैं, कोई नया तो ना आएन हैं। आ जाई अब तो।’

अब उसका संकोच कुछ कम हुआ और वह धीरे से कमरे के अन्दर दाखिल हुआ। अपना बैग कन्धे से उतारकर रखा और चारपाई से सटे बिछे बोरे पर जा बैठा। फर्श पर उसे बैठता देख, वह झनझना

उठीं—‘अरे राम राम। नीचे काहें बैठत हैं। ऊपर आइके के बइठीं। कौनो नीच जाति के तो हैं नहीं, जो यह जुलुम करित हैं। इहाँ रहेन हैं, खाएन पिएन हैं। अब अइसा काहें करित हैं।’

अब वह फर्श पर बिछे बोरे से उठकर चारपाई पर बैठ गया। उसकी नजरें कमरे में धूम रही थीं। अब क्या रखा था देखने में या कहने-सुनने में। यहाँ पहले जितने दिन रहा, उसमें तो सब कुछ हो गया। गाली-गालौज, मारपीट, कुछ भी तो बाकी न रहा। और वह रजाई...हंगामा...सोचते हुए उसे शर्म सी आयी। वह मन ही मन पछताने लगा। चाहे कहीं भी वह जाता, यहाँ उसे नहीं आना चाहिए था। वह इसी असमंजस में पड़ा था कि चाची बोलीं—‘का सोचत हैं?’ कौनो बात भई है का?’

‘नहीं तो!’ उसने चौंकते हुए कहा।

‘तो काहे उदास दिखाई देत हैं।’

‘नहीं तो, दूर से आ रहे हैं, थकान है और कुछ घर की चिन्ता है।’ उसने कहा।

‘तो जाके नलके पर नहा लीं। चिन्ता-फिकिर की बात अच्छी ना है। जो होत है, सब ठीक होत है। धीरे-धीरे कट ही तो जा रही है न जिनिगिया।’

ठीक ही तो कह रही हैं चाची। जो होता है, सब ठीक होता है। चिन्ता-फिक्र से क्या होता है। किसी तरह से कटे, ज़िदगी को तो कट ही जाना है। उसने मन ही मन सोचा।

उदय और चाचा एक साथ काम पर से लौटे थे, पर दोनों के चेहरे बुझे हुए थे। चाचा ने आते ही उसको देखा, तो निश्चय ही वे असहज हुए पर उसके नमस्कार का उत्तर उन्होंने सहजता से ही दिया था और हालचाल भी पूछा। उसकी गिरती सेहत से भी वे चिन्तित हुए। लेकिन उनके हाव-भाव से लग रहा था कि वे किसी बात से ज्यादा परेशान हैं। चाचा ने कपड़े उतार कर हाथ-मुँह धोये और चाची से खाना देने को कहा। चाचा ने खाना शुरू किया तो चाची ने उदय से भी खा लेने

का आग्रह किया। इस आग्रह पर चाचा बिगड़ उठे—‘अब क्या बचा है जो तुम मिन्नत कर रही हो।’

‘हुआ का, हम भी तो जानें।’

चाची ने कहा।

‘हुआ क्या, जैसे तुम्हें कुछ मालूम ही नहीं है? लगती है तिरिया चरितर दिखाने।’

इस पर चाची थोड़ी नाराज हुई और बोलीं—‘अरे, आप तो अइसे ही गरज रहेत हैं, बात तो कुछ बतावत नाहीं। तिरिया चरितर कइसे बोल गएन आप।’

‘कल रात चन्दा आयी थी छत पर?’

चाचा ने पूछा।

‘चन्दा कौन?’

‘अरे वही, नथुवा की घरवाली।’

हम तो नहीं जानित चन्दा आ नथुवा कवन है। चाची ने अपनी असमर्थता ज्ञाहिर की।

‘दुर्र साली, इसीलिए तो कहते हैं कि तुम...?’

‘मुँह सम्हारिके बोलन के सीख लीं। गाली-गलौज ठीक बात नाहीं। आगे बताएन कि बात का भया?’ चाची ने प्रतिवाद करते हुए पूछा।

‘नथुवा पासी को नहीं जानती तुम। हरदम किसी न किसी बहाने आता रहता है—काला-काला, दढ़ियल, चश्मा लगाता है, पूरा सज-धज कर रहता है—मरियल, ठिगना साला, ताकि वह कोई साहब दिखे।’

‘और वह चन्दा?’ चाची ने फिर पूछा।

‘साली, तुम तो माथा खा जाओगी। उसकी घरवाली है। सुन रहे हैं, कई महीने से इसी साले से लगी-भगी है (उदय की ओर इशारा कर) और वह नथुवा इसके खिलाफ लोगों को गोलबन्द करने में लगा हुआ है।’

‘गोलबन्द, ई का होत है ?’

‘फिर वही बात ? अरे, वह लोगों को जुटा रहा है ताकि सबको साथ लेकर इसकी पिटाई करे और बदला ले सके। इसका क्या है, जब नशे में ही रहना है तो कोई भी पीटकर चल देगा।’

‘ई का बड़बड़ात हैं आप तो। पता नहीं झूठ कहित है कि साँच। अपने ही जब कहे लागन तो लोगन चुप काहें रहन। बिना जाने झूठ ना बोलीं। दैव जाने ई साँच है कि झूठ।’

‘अभी कहा न कि तुम तिरिया चरितर कर रही हो। तुमको सब पता है, पर मान नहीं रही। अच्छा यह बताओ कि यह शराब पीता है कि नहीं ?’

‘अरे, लड़िका से लड़िकाही होय जात रही। अब ना पियन हैं। पहिले पियत रहीं।’

चाची की इस दलील पर चाचा गुस्से से काँपने लगे। उन्हें देखकर लगा कि वे चाची पर हाथ छोड़ देंगे, पर वे सामने पड़ी थाली को लात से मारकर अपना गुस्सा उतार, नंगे बदन बाहर निकल पड़े।

उदय जड़वत् बैठे रहे। उनकी इस सहनशीलता पर उसे सन्तोष हुआ तो आश्चर्य भी। चाची कुछ देर उन्हें समझाती रहीं और वे मूक बने सब सुनते रहे पर बोले कुछ नहीं।

इस बार उदय के रिश्तेदार अबरू दुबे के कमरे में गुंजाइश नहीं थी क्योंकि वे अपने गाँव से लौट आए थे। इस स्थिति में उदय ने अपने मामा से बात की। उनके मामा का मकान उन्हीं के घर से सटा हुआ बना था। उन्होंने मकान की छत पर एक कमरा बनवाया था जिसमें सफाई का काम बाकी था। उसमें किवाड़ भी अभी न लगा था। कमरा जब तक ठीक न हो जाता तब तक किराये पर भी नहीं लग सकता था। जब उदय ने उसके रहने की बात की तो उनके मामा ने बात मान ली और कुछ महीने तक रहने की व्यवस्था निकल आयी। अब उसने उस कमरे में अपना सामान जमाया। किवाड़ की जगह टाट का मोटा परदा टाँग दिया गया और खिड़कियों पर भी मोटे कपड़े लड़का

दिये गये ताकि हवा से बचाव हो सके। खाने का इन्तजाम तो उदय के यहाँ था ही, सो उसकी व्यवस्था चल पड़ी। लेकिन उदय के घर की किच-किच घटने की बजाय बढ़ती ही जा रही थी, जो उसके लिए बड़ी मुसीबत की तरह थी। उनके यहाँ आए दिन की तनातनी से पास-पड़ोस के लोग भी तंग आ चुके थे। वह बुझे मन से एक-एक दिन काटता और इस ताक में रहता कि कोई बन्दोबस्त हो, तो यहाँ से निकल सके।

उदय के मामा लालमणि तिवारी लम्बे कद के छरहरे व्यक्ति थे। काफी पढ़े-लिखे और जिन्दादिल। वे भी इस घर की किच-किच से दुखी थे। उन्होंने अपना सारा जीवन कम्युनिस्ट पार्टी को दे रखा था। वे सी.पी.एम. की श्रमिक संस्था सीटू के राज्य सचिव थे। खद्दर के पाजामा-कुर्ते में कन्धे पर झोला लटकाये जब वे सुबह निकलते तो रात को ही लौटते। उनसे उसकी बात होती तो प्रसन्न होते। पर ज्यादा कुछ न कहते। वे अक्सर व्यवस्था में बदलाव, वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा-बुर्जुआ की बातें करते और कहते कि सरमायेदारी ही इस देश की समस्या की जड़ है। उसे मिटाये बिना यहाँ कुछ नहीं हो सकता। उन दिनों भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' पर बना धारावाहिक भी चल रहा था जिसे वे अपने एक मित्र के टेलीविजन सेट पर देखते और उसे भी साथ ले जाते। इस धारावाहिक का प्रसारण रात को होता था। वे धारावाहिक देखते साम्प्रदायिक उन्माद के रहस्य बताते रहते और कहते कि साम्प्रदायिकता हर हाल में जहर है जो अगर थमी नहीं तो इस देश को जिन्दा नहीं रहने देगी। वह यदा-कदा अपनी समझ के मुताबिक उनका प्रतिवाद भी करता। उसमें तब हिन्दू होने का ताव ज्यादा था और उसे लगता था कि यह देश सिर्फ हिन्दुओं का ही होना चाहिए। वे समझाते तो वह उछल-उछल जाता। उसे 'तमस' पसन्द नहीं आता था, पर उनके कारण देखने जाता था। लौटता तो रात को बुरे-बुरे सपने आते। वह चिहुँक कर बैठ जाता। लगता जैसे किसी ने गली में जिन्दा सूअर को मारकर फेंक दिया है। कभी लगता कि कोई

गण्डांसे लिए गली में घूम रहा है और डर के मारे लोग घरों में छिपे जा रहे हैं। लालमणि तिवारी शाम को सीटू के दफ्तर से आते ही चाय पीते तो ऊपर से उसे भी आवाज़ लगाते—‘प्रभाकर जी, आओ चाय पीते हैं।’ वह उनकी आवाज़ पर नीचे उतरता और साथ में चाय की चुस्की लेकर कुछ पलों के लिए अपना दुख भूल जाता। बस उनकी दिक्कत यही थी वे सपनों से बाहर वे आते ही न थे। मार्क्स बार-बार जबान पर आते और ज्योति बसु के गुणगान करते-करते वे हरिकिशन सिंह सुरजीत, नम्बूदरीपाद आदि पर आकर लम्बे-लम्बे व्याख्यान दे डालते। वह जब भोलेपन से कम्युनिस्ट पार्टियों को काँग्रेस का पिछलागू कहता, तो वे चिढ़कर कहते—‘भई, आप लोग मध्यमार्गी समझ के सामन्त लोग हो। मानस न बदलोगे तो देश कैसे बदलेगा।’ वह जब कम्युनिज्म पर राष्ट्र विरोधी गतिविधियों का आरोप लगाता, तो वे बिफर पड़ते। उसे तो समझ ही क्या थी, जो उनसे बहस करता। उसके मन में अब भी सुनहरे सपने पल रहे थे जो बार-बार टूटकर भी जुड़ जाया करते थे। वह अपनी कच्ची राजनीतिक समझ में काँग्रेस और कम्युनिस्टों से भिन्न एक ऐसे राजनीतिक गठजोड़ का पैरोकार था जो भारत को सुनहले दिनों में ले जा सकता था। वह जब अकुलाता तो कुछ का कुछ बोल जाता। लालमणि तिवारी उसे समझाते—‘प्रभाकर, पहले चीज़ों को समझो आप। यह इतना आसान नहीं है। काँग्रेस बुरी पार्टी है पर हम कुछ करने की हैसियत में नहीं हैं। विपक्ष इन्दिरा की शहादत से बचा ही नहीं रह गया है। राजीव गांधी अपनी बेकार की नीतियों से देश को बर्बाद कर रहा है। देखना, बेकारी बढ़ेगी, लोग भूखों मरेंगे। मन्दिर-मस्जिद के झगड़े से देश का बहुत नुकसान होगा। नवजवानों को पिछड़ी सामन्ती समझ को छोड़कर समतामूलक समाज की पैरोकारी करनी चाहिए। बिना लाल झण्डा थामे कुछ न होगा यहाँ।’

वे उसे छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ भी पढ़ने को देते जो उसे गले भले न उतरती थीं, पर उन्हें लेने से वह इनकार नहीं करता था।

लालमणि तिवारी भी उदय की हरकतों से परेशान थे, पर समझा-बुझाकर थक गये थे। उसने अपनी नौकरी-चाकरी की बात भी उनसे की थी, पर बात बनी नहीं थी।

उसने मन बनाया कि अब चाहे जो भी करना पड़े, करेगा और यहाँ से निकलेगा। कहीं बात न बनी तो वह घर की राह लेगा, पर यहाँ अब जान देने की जरूरत नहीं। वह अपने फैसले पर पहुँचा कुछ सोच ही रहा था कि एक व्यक्ति ने सूचित किया कि मंगोलपुरी के एक्स ब्लॉक में कुछ लड़कों की जरूरत है। सुनने में आया तो पता करने चल पड़ा। जाने पर मालूम हुआ कि एक घर में अवैध ढंग से चल रही होल्डर की फैक्ट्री में स्कू कसने का ठेकेदारी पर काम था। मालिक से बात की तो उसने सौ होल्डरों में स्कू कसने का मेहनताना दस रुपये बताया। उसने उस काम को भी आजमाया और चार दिन काम कर जान लिया कि ऐसा काम कितना कठिन होता है। चार दिनों में वह बहुत मेहनत करके दो सौ होल्डरों में स्कू कस पाया था। इन चार दिनों में ही उसके दोनों हाथ कालिख पुते हो गये थे और अंगुलियों में फोड़े निकल आए थे। कमर से लेकर पीठ तक मारे दर्द के वह खड़ा भी नहीं हो पा रहा था। उसने मालिक के पास जाकर आगे काम न करने में अपनी असमर्थता जतायी और हिसाब माँगा। फैक्ट्री के मालिक ने अपनी तरफ से उसे बहुत समझाने की चेष्टा की, कहा—

‘कुछ दिन और करते तो सीख जाते, मन भी लगने लगता।’

‘सीखने का कोई मतलब नहीं। चाहा था कि कुछ दिन हो सके काम तो कर लें, पर नहीं हो पा रहा।’ उसने असमर्थता जतायी तो उसने हँसते हुए कहा—‘भई, चार दिन में रोज छह घण्टे काम करके तुम बीस रुपये कमा पाये हो। इसमें क्या कर लोगे?’

‘अब जो कर सके, वह कर सके। मुझे इतने में ही खुशी है।’

उसने बीस रुपये लिफाफे में रख उसे पकड़ाया और मुँह मसोसकर कहा—‘देख लेना, अगर मन बने तो फिर आना। जगह बन जाएगी।’

वह पैसे लेकर चलता बना। उसे फैक्ट्री मालिक को देखकर यह

समझ में आ गया था कि वह शोषण का मौका छोड़नेवालों में न था। उसकी फैक्ट्री में चालीस लोग काम करते थे जिनमें पच्चीस बच्चे ही थे जिनकी उम्र बारह से पन्द्रह साल के बीच ही थी। वे बच्चे भी दिनभर काम करके पाँच-सात रुपये से ज्यादा का काम नहीं कर पाते थे। उनकी हालत देखकर बड़ी तकलीफ होती थी कि पढ़ाई-लिखाई से वंचित होकर वे बच्चे अपने सपनों को कुछ रुपयों में बेच रहे थे।

उनकी तकलीफ बालश्रम के शोषण से जुड़ी थी जिसको देखनेवाला कोई न था। उनके माँ-बाप मजबूर रहे होंगे वरना कोई अभिभावक अपने बच्चों से ऐसा काम क्यों करता। वह यही सोच पाया था। वह चुपचाप लौटते हुए सोच रहा था, आगे की राह कठिन है। कैसे यहाँ रह पायेगा, क्या करे जिससे जीना सहज हो सके। कुछ सूझता नहीं, कोई राह नज़र नहीं आती। पास के पैसे भी खत्म हो चले थे। वह सोचता तो सोचता रह जाता। इस हालत में न जाने कितने लाख युवक होंगे जो भटकने को अभिशप्त हैं। वह दोष दे भी तो किसे दे। यह व्यवस्था ही तो कहीं न कहीं जिम्मेवार है जो सबको खून के आँसू रोने पर विवश करती है। हमारे नेताओं को पाँच साल पर सिर्फ एक बार देश की जनता की याद आती है क्योंकि उन्हें तब वोट की दरकार होती है और यह जनता ऐन मौके पर अपना हिसाब करने के बदले धर्म, बिरादरी और जाति की आँधी में बहकर अपनी मुश्किलें भूल जाती है। सरकारें बनती हैं और वह ज़िदगी झेलने को विवश हो, पुराने दिनों में लौट जाती है। उसके दिन न आने होते हैं न आते हैं।

इधर किच-किच चल ही रही थी कि उदय ने एक और धमाका कर दिया था। हुआ यह कि पैसों की तंगी और कर्ज से निजात पाने के लिए चाचा-भतीजे ने गन्ने के जूस की मशीन लगाने की योजना बनायी। चाची ने भी इस काम में अपनी हामी भर दी। पर मशीन खरीदने भर के पैसे की किल्लत आ पड़ी। कुछ जोड़-तोड़ और कुछ उधार बाकी कर मशीन बिठा ली गयी। गन्ना और बर्फ की आपूर्ति

करनेवाले लोग भी तैयार हो गये। मशीन बैठी तो चल निकली। के. ब्लॉक के चौराहे पर जूस पीनेवालों की भारी भीड़ देखकर मोटी रकम जोड़ने का सपना भी परवान चढ़ने लगा। लेकिन इस उत्साह को नरम होने में देर न लगी। चाचा सुबह से शाम तक अपनी ड्यूटी बजाते। उदय के जिम्मे मशीन थी। मशीन का बहाना लेकर वे अपने काम से छुट्टी पर रहने लगे। कुछ दिन वे मशीन पर चौकस रहे, पर बाद में अपने चेले-चपाटों के जिम्मे मशीन को लगा, दिन-दिनभर चन्दा के घर में पड़े रहते। कुछ ही दिनों में यह धन्धा भी चौपट हुआ और घर में एक बड़े बखेड़े का कारण बन गया। गन्ने के जूस के कारोबार ने दो तरफा नुकसान में डाला। धन्धा चौपट हुआ तो आफत बन आयी तो दूसरी तरफ उदय का खुलेआम चन्दा के घर आना-जाना लोगों की नज़र में चढ़ गया।

इसी बीच एक दिन उदय को चन्दा के साथ रंगरेलियाँ मनाते किसी ने देख लिया। पकड़े जाने के बाद इज्जत खूँटे पर लटक गयी और घर में जबर्दस्त हाथापायी हुई सो अलग। उसके बीच-बचाव का नतीजा यह हुआ कि उसे भी दो-चार थप्पड़ रसीद हो गये। घर में अजीब सी उत्तेजना और तनाव का माहौल बन गया। मंगोलपुरी के उन सभी इलाकों में यह बात हवा की तरह फैल गयी जिसमें उदय के परिचित रहा करते थे तथा जो उनकी कमजोरियों का फायदा उठाना चाहते थे। चाचा के लगातार दबाव और मारपीट के कारण उदय को कुछ दिनों के लिए मंगोलपुरी छोड़कर भूमिगत होना पड़ा। इस तनातनी में उसका भी खाना-पीना उनके यहाँ बन्द हो गया। वह इधर-उधर घूमता रहा और प्रयत्न करता रहा कि यहाँ से निकलने का कोई रास्ता बने लेकिन वह अभी बहुत दूर की बात थी।

नथुवा को जब चन्दा की इस करतूत का पता चला तो उसने चन्दा को बुरी तरह से मारा। घर से निकालकर सड़क पर देर तक घसीटकर नथुवा ने चन्दा की बड़ी दुर्गति की। लोगों के प्रतिवाद करने पर वह गालियाँ बकता रहा और मन की भड़ास निकालता रहा। लेकिन

अपनी मनमर्जी वह ज्यादा देर तक न कर सका। मौका पाकर चन्दा नथुवा की पकड़ से आजाद होकर उसे गालियाँ देने लगी और अपने सम्बन्ध को जायज ठहराने लगी। सड़क पर जमी भीड़ के सामने वह चीख-चीखकर कह रही थी—

‘तू मरजाद का खियाल रखा है कभी, जो हमें मरजाद में रहने की बात करता है। अरे जा, उस फुलेसरी छिनार के पास जा जिसके शरीर के स्वाद से तुम्हें कभी छुट्टी नहीं मिली।’

अब नथुवा की बारी थी। वह गुस्से में आँखें तरेरता चिल्लाया—‘अरे कमीनी। क्या-क्या बक रही झूठी। लाज नहीं आती तुम्हें। अरे ढूब मर जाकर कहीं चुल्लू भर पानी में। उस छोकरे में तुझे क्या दिखाई देता है चुड़ैल, जो कहीं मुँह दिखाने लायक भी नहीं छोड़ा तुमने।’

नथुवा की बातों से चन्दा आपे से बाहर हो उठी और लाज-लिहाज छोड़ बोली—‘तो यह बात तू कह रहा है कि उस छोकरे में मुझे क्या दिखा? यह कहते तेरी जीभ क्यों नहीं गिर गयी। अरे राम राम। तूने कहा था न, यादकर कि अब तुमको सँभालना मेरे वश का नहीं। किसी को देख और पैसे भी लाया कर। अब भूल गया हरामखोर? चार पाई जेब में क्या आ गया, इज्जतदार बन गया? शराब और जुए की लत में दीवाना बना फिरता है। कभी जाना भी है कि घर की जरूरत भी कोई चीज़ है?’

नथुवा आस-पड़ोस के सामने अपना अपमान कैसे बर्दाशत करता। वह चन्दा की चोटी पकड़ पीठ पर लातों से मारने लगा। चन्दा पहले तो छटपटाई पर जब उसकी समझ में आ गया कि नथुवा उसे किसी भी तरह छोड़नेवाला नहीं है तो उसने उसे दाँतों और नाखूनों से काट डाला। भीड़ अब भी मौन बनी तमाशा देख रही थी। कुछ लोग नथुवा को मारने की बात कर रहे थे तो कुछ चन्दा को। उनमें से कुछ ऐसे भी थे जो दोनों को पीटकर मंगोलपुरी से बाहर करने की बात कर रहे थे। ऐसे लोगों का मानना था कि इनके यहाँ रहने से माहौल के खराब

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ , प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों

और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं,

तो हमारे विशेष ➡️  टेलीग्राम चैनल से जुड़ें

और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

 हमारे चैनल में आपको मिलेगा:

 अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)

 प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)

 धार्मिक ग्रंथ और किताबें

 विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य

 बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)

 और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खजाने

 कृपया "Join Now" बटन या लिंक पर Click करें!

HINDI BOOKS CHANNEL

[Join Now](#)  (धार्मिक, आजादी, इतिहास...से सबधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नई, पुरानी किताबों के लिए)

Join Now 

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

Join Now 

https://t.me/Google_Ebooks

Join Now 

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

Join Now 

<https://t.me/Hindilibrary>

होने की आशंका है। कुछ देर तक वहाँ यही हाल रहा। बाद में भीड़ खिसक गयी और वे दोनों भी इधर-उधर हो गये जैसे वे एक-दूसरे को जानते-पहचानते भी न हों। उनके बीच कहा-सुनी और मारपीट कोई नयी बात न थी। पर उदय का नाम खुल जाने से नथुवा असहज हो उठा था। चन्दा के साथ उदय की रंगरेली क्या पकड़ी गयी, सब कुछ तहस-नहस हो गया था। इसको लेकर चाचा-भतीजे में कई बार मारपीट हुई पर उदय अपनी गलती सुधारने को तैयार न थे। हालत यह थी कि वह चन्दा के लिए जान तक देने को तत्पर थे। दिन-दिनभर शराब के नशे में धुत् रहकर इधर-उधर बड़बड़ाते रहना और बेचारगी की हृद तक चन्दा से बिछड़कर मर जाने की बात करना उनकी इस विवशता का सूचक था कि वे अब रास्ता बदलने को तैयार नहीं हैं। पत्नी है तो अपनी बला से, बच्चा है तो अपने भाग्य-दुर्भाग्य से। माँ-बाप चाहें जो सपने बुनें, इससे उनको कुछ भी लेना-देना नहीं था।

एक दिन उदय भँवरलाल की दुकान पर बैठे थे। बाहर धूल भरी आँधी चल रही थी। उसी समय नथुवा अपने दो-चार दोस्तों के साथ उधर से गुजरा। उदय को देखते ही उसकी भौंहें तन गयीं और उसने अपनी मुट्ठियाँ भींच लीं और चलते-चलते वह ताना दे मारा—‘भई, आजकल तो शरम भी नहीं रही लोगों में। हर तरह के कुकर्म कर रहे साले जहाँ देखो, पाँव पसारे बैठे दिखाई देंगे।’

उसके दोस्तों ने हामी भरी—

‘शर्म तो हयादारों को आती है न। बेशरमों को कभी आती है कि आए।’

‘अरे, मंगोलपुरी में कह, दुनिया से क्या लेना।’ नथुवा ने कहा।

तब एक ने नथुवा से पूछा—

‘अरे, वह बेशर्म पण्डत का लौण्डा उदय इधर ही रहता है न! मिल जाता तो यहाँ चीर देते।’

अभी नथुवा उसे चुप रहने का इशारा ही कर पाया था कि उदय ने भँवरलाल की दुकान से बाहर निकल नथुवा की बाँह चढ़ाकर पीठ पर

धर्माधम मुक्के जड़ दिये। वह अभी सँभल भी न पाया था कि उसके साथियों को भी पकड़कर उदय ने पीट डाला। वे सब नशे में धुत् थे और कद-काठी में अत्यन्त निरीह, सो मार खाकर इधर-उधर भाग खड़े हुए। उदय ने उन सबों की जमकर खातिर करते हुए गालियाँ भी बकीं। आसपास का कोई भी उन्हें बचाने नहीं आया।

नथुवा बदले की आग में भले जल रहा था पर था बड़ा निरीह। अपनी लफ़ंगयी के कारण वह सबकी हिकारत का कारण बन गया था। उसकी हरकतों से लोग इतना आजिज आ गये थे कि चन्दा से उदय के रिश्ते को भी लोग उसी की कारस्तानी मानने लगे थे। लोग यही मानने लगे थे कि उसकी बदसलूकी और घरेलू जवाबदेही की उपेक्षा के कारण ही चन्दा गलत रास्ते पर चल पड़ी थी। वह घर की जरूरतों को कहाँ से पूरी करती और जब मर्द निकम्मा बन नशे में ही रहता हो, तो उसकी जरूरत भी कैसे पूरी होती।

बहरहाल, नथुवा को पीटकर उदय को वाहवाही मिली हो, ऐसा बिल्कुल नहीं था। उन पर उनकी गली के लोग बेहद खफा थे और अन्दर ही अन्दर सुलग रहे थे। घर के लोग तो पहले से ही जल-भुन रहे थे। भाँवर की दुकान से उदय लौटे ही थे कि पड़ोसी रामतीर्थ चेतावनी देते हुए बोले—

‘अब तो तुम इस ब्लॉक को हिजड़ों की बस्ती बना डाले हो। लेकिन ऐसा सोचना तुम्हारी नादानी है। अब से भी उस चन्दा का साथ छोड़ दो वरना हमलोग तुम्हें छोड़ेंगे नहीं।’

‘और अगर हम उसका साथ न छोड़े तो? उदय ने आँखें तरेरकर कहा।’

‘तो हमारा आगे कोई दोष न होगा। कहे देते हैं।’ रामतीर्थ ने जोर से बोलते हुए अपने घर की राह ली थी।

इधर गाली-गलौज और मारपीट के बाद भी जब उदय में कोई सुधार न देखा तो चाचा ने सपरिवार अलग रहने का निश्चय कर लिया। यहाँ से जाते हुए ही उन्होंने उदय के पिता दातानाथ को तार

भेज दिया था कि आकर अपने बेटे की करतूत देख लें और अपनी किस्मत पर चार आँसू गिरा लें। चाचा का घर से अलग होना हुआ कि दातानाथ का सदल-बल पहुँचना। आते ही उन्होंने उदय की पत्नी को भी सूचना दे दी जो अपने भाई विजय और पुत्र रमण को लेकर आ धमकी। स्थिति विस्फोटक थी और उदय मंगोलपुरी से गायब थे। उनकी बहुत खोजबीन हुई, पर वे न मिले।

अब दातानाथ का काम रह गया था मुहल्ले भर का जुटान कर स्थिति की तसदीक करना और उदय को जी भरकर गाली देना। उदय की पत्नी घण्टों घूँघट काढ़े बायं-बायं चिल्लातीं और मुहल्ले भर की औरतें उन्हें समझातीं—

‘ऐसे ना रोवत। समय आवे पर सब ठीक हो जात है। अउर उ छिनरी चन्दा...छी-छी...बिगाड़ दिहिस जवान मरद को। पक्का कुजात है। पीस-पीस के चाट दिहिया। अब कहाँ जान बची है छोकरे मां। ई सवाद उतर गवा तो जान चली जात पर लत न जात।’

उसे यह नहीं लगता कि ये औरतें दिलाशा देतीं कि उसे जलातीं। अब तक सब ऐसे ही चल रहा था कि एक दिन उदय प्रकट हो गये। जीर्ण देह पर मैले-कुचैले कपड़ों को देखकर यह अन्दाजा लगाना कठिन नहीं था कि उन्हें नहाये एकाध हफ्ते बीत गये होंगे। उनका चेहरा बुझ गया था दाढ़ी बढ़कर उन्हें और विकृत कर रही थी। उनके आने से थमा तूफान फिर खड़ा हो गया। उदय के साष्टांग प्रणाम के बदले दातानाथ ने फूहड़ गालियाँ उगल दीं—

‘हरामखोर, अब का छोड़ा है जो माया फेरने चले हो। हम तुम्हारी माया में नहीं पड़ने वाले। माया महाठगिनी हम जानीं।’ दाता कबीर कह गये हैं, कोई अपना नहीं है इस असार संसार में। सब कुछ पराया है, मतलब के लिए है—बाकी बेमतलब। अगर मैं तेरी माया में आ गया तो सारा धर्म-कर्म चूल्हे में पड़ जाएगा। कलियुग है भाई, घोर कलियुग। कहते-कहते उन्होंने अपने डण्डे को दो बार ज़मीन पर पटका। उदय अपराधी बने चुपचाप खड़े थे। घर के भीतर उदय के

आने की खबर जैसे ही मिली, उनकी माँ के साथ पत्नी भी बाहर निकल आयी। बेटे को देखते ही माँ की ममता फूट पड़ी—‘बाबू। कहाँ चले गये थे हम सबको छोड़कर। हम किसके आसरे जीते यहाँ। हम जानित हैं, यह सब झूठ है। फँसाया गया है तुमको झूठ गढ़कर। तुम न फँसे होत तो तुम्हारे चाचा का कलेजा कइसे ठण्डा होत। उनको तो जाना ही था, मेहरिया की बात कइसे न मानत। उसकी आँख निकल आवत कि घर भर उनकी कमाई कइसे खाइत रहे।’

‘चुप, कमीनी कहीं की। दोष अपने को नहीं देती। इस चाणडाल के साथ वही रहेगा जिसकी मति भ्रष्ट हो गयी हो। शराब, जुआ, अय्याशी... और न जाने क्या-क्या लत पकड़ ली है इस हरामजादे ने। दातानाथ ने फिर अपना डण्डा जोर से पटका।’

उदय की माँ उनको खड़ी-खड़ी देर तक सहलाती रहीं। वे कभी उनके सिर पर हाथ फेरतीं तो कभी पीठ पर। बीच-बीच में कुछ-कुछ बोलती जातीं और आँखों से झार-झार आँसू गिर पड़ते।

उदय की ब्याहता सविता घूँघट निकाले सिसकियाँ लेती। थोड़ी देर में उदय के आने की खबर हवा की तरह फैल गयी और लोग जमा होने लगे। इस खास मौके पर स्त्रियों की बन आयी थी। वे तरह-तरह के अभिनय कर ऐसा कुछ कहती जातीं कि उदय की माँ और पत्नी को रोने के अलावा कुछ न सूझता। मर्दों की भीड़ अपेक्षाकृत शान्त थी, पर भीतर-भीतर वे भी चुहल कर आनन्दित हो रहे थे। दोपहर का वक्त था इसलिए लोग फुर्सत में थे। लूँगी और बनियान पहने खिचड़ी मूँछों पर हाथ फेरते शामलाल ने मौका ताड़ मुँह खोला—

‘अब तो आप लोग यहाँ से चले जाइये। हमलोगों की कोई इज्जत है। बाल-बच्चे यह सब देखकर बिगड़ रहे हैं और हम सबकी बदनामी हो रही है। क्या भाइयों, ठीक कहा न।’

‘हाँ, हाँ, ठीक कह रहे हो।’

प्रसाद साहू ने हामी भरी थी।

अब क्या था, दातानाथ बिगड़ पड़े। उनके जैसे अक्खड़ आदमी

को भला शामलाल की यह नसीहत बर्दाशत होती भी तो कैसे। वे गरज कर बोले—

‘अरे शामलाल, कब से तुम इज्जतदार बन गये हो भाई। चार बरस पुरानी बात को भूल गये जब तुम्हारी लड़की को रामदीन भगाकर ले गया था? महीने भर उसके साथ रहकर लौटी थी कि नहीं। और जब आयी तो तुमने जबर्दस्ती उसकी शादी कर घर से भगा दिया था। अब इज्जतदार बन गये हो? वाह शामलाल वाह! क्या यह भी झूठ है कि तुम उसे स्कूल की फीस नहीं देते थे, हमेशा गालियों से बात करते, मारते-पिटते। बेटों के आगे उसे बोझ समझते। कभी उसके तन पर ठीक-ठाक कपड़ा न दिखा। घर के काम में जोतकर तुमने उसका जीवन नर्क बना दिया था। रामदीन के साथ वह मर्जी से गयी थी, पर तुमने उसको हलाल कर दिया था। भूल गये तुम, लौटी तो कहती न थकती थी कि रामदीन ने कपड़े खरीदे, सिनेमा दिखाया और उसको खुश रखा। अब इज्जतदार बने हो तुम। घर की बेटी का तमाशा बनाकर कैसी इज्जत कमाई है तुमने?’

दातानाथ की त्योरी देख शामलाल खिसक गये। देखते-देखते जमा हुई भीड़ नदारद हो गयी थी। वहाँ सबकी एक सी कथा थी। चाहे जिसकी शुरू करें, कोई न कोई भेद निकल आता। पर ऐसे मौके जब आते तो लोग अपने पाक-साफ होने का कारण खोजते और अतीत को भूल जाने का प्रयास करते। सच तो यह था कि वे दिनभर काम करते तो भी पेट न भरता। बच्चे स्कूल जाने की बजाय पार्कों में खेला करते। घर की जरूरत भी कभी पूरी न होती। ऐसे में उनके घर में दीवार न होती। सब अपनी मर्जी के मालिक होते। जानते सब, पर अनजान बने रहते। जिसका भाण्डा फूट पड़ता, उसमें रस लेकर खुश हो लेते गोया वे कितने पाक हैं। कई बार यह देखकर उसे दुख होता कि ज्यादातर मर्द निकम्मा बन इधर-उधर भटकते रहते और घर की जिम्मेदारी औरतों और लड़कियों के कन्धों पर होती। ये वे लोग थे जो छोटी-छोटी बातों पर एक-दूसरे से उलझकर जान दे देते, पर अपने

अधिकारों के लिए कभी न लड़ते। महीनों काम कराकर ठेकेदार लापता हो जाते, फैक्ट्री मालिक सरेआम इनके पैसे हड़प लेता, पुलिस सरेराह इनसे ज्यादतियाँ करती, पर वे जबान न खोलते। लेकिन जैसे ही मौके आते, आपस में कट मरते।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि वे राज्यों के नाम पर लड़ पड़ते। बिहार को गाली देते उत्तर प्रदेश वाले न अघाते, तो उत्तर प्रदेश वालों को मध्यप्रदेश वाले गालियाँ बकते। सब जैसे अपने-अपने मन के बादशाह। सब सबके ऊपर, पर अपने अधिकार की लड़ाई उन्हें न आती। एक चीज़ सबमें बराबर होती, वह यह कि औरतें बन्धुआ हैं, उन्हें घर चलाना है। लड़की है तो पढ़ने की जरूरत नहीं। घर के काम और चूल्हा-चौका से ज्यादा छूट मिली तो वह बिगड़ जाएगी। यह समझ हर प्रान्त के हर वर्ग में थी चाहे वह कोई भी जाति हो। सबका एक ही सच था पर झूठ सबका अलग-अलग होता। यह एक अलग ज़िंदगी थी। यह रोज-रोज का तमाशा उसके लिए सरदर्द बन गया था। उदय को न सँभलना था, न सँभले। दातानाथ भी प्रयास करके थक गये थे। चन्दा के साथ उनका सम्बन्ध उसी तरह बना रहा। चाचा अब अलग रह रहे थे। जीवन का एक अभाव और उसमें आ पड़ा एक नाजुक अवरोध किस तरह सब कुछ को तहस-नहस कर देता है, उदय का अब तक का जीवन इसका उदाहरण था। अब वह थक चुका था। अब उसके पास यही विकल्प था कि या तो वह गाँव लौट जाए या दूसरा विकल्प देखे।

उसे इसी महीने एम.ए. में दाखिले का फॉर्म भरना था। बहुत भाग-दौड़ के बाद उसने फॉर्म भरकर राहत की साँस ली। इस मद में खर्च हुए पैसे उसने 'भीमराव अम्बेडकर स्कूल' नामक एक प्राइवेट स्कूल के संचालक तूफानीलाल से यह कहकर लिए थे कि वह उनके स्कूल में पढ़ाकर उसे चुकता कर देगा। तूफानीलाल से सम्पर्क निकालकर उनसे पैसे लेने में उसके पसीने छूट गये थे। पर कुछ दोस्तों की मदद से यह हो पाया तो मानों उसके सिर से आफत उतरी।

तूफानीलाल का 'अम्बेडकर स्कूल' नर्सरी से पाँचवीं कक्षा तक था। स्कूल के लिए दो समय थे—पहली पाली दस बजे से एक बजे तक की थी, तो दूसरी दो से पाँच बजे तक। नर्सरी से पाँचवीं कक्षा तक के बच्चे मामूली फीस देकर पढ़ते थे और उसी फीस से अध्यापकों को वेतन दिया जाता था। यानी दो पालियों में बँटी कक्षाओं की पूरी जिम्मेदारी अध्यापकों पर ही होती थी। अगर बच्चे कम आएँ या अधिक संख्या में उनके आने के बावजूद ठीक पैसे न आएँ तो अध्यापकों की वेतन में कटौती हो जाया करती। संचालक को इससे कोई मतलब न होता। संचालक तो अध्यापकों पर धौंस जमाने से लेकर उनसे घरेलू काम कराने के लिए ही थे। उस स्कूल में बच्चों की कुल संख्या सौ से ऊपर की न थी। हर कक्षा में बच्चों का अनुपात पन्द्रह-बीस ही था। चूँकि कुर्ता-पाजामे में वह ठेठ देहाती ही लगता था और बातचीत में भी उसमें शहरीपन की कोई बू नहीं थी इसलिए उसे नर्सरी के बच्चों की जिम्मेवारी दी गयी थी। नर्सरी के बच्चों की फीस दस रुपये प्रति माह निर्धारित थी। गरज यह कि अगर पन्द्रहों बच्चे महीना भर आते और पूरी फीस देते तो डेढ़ सौ रुपये मिलते। उसने इतने ही रुपये तूफानीलाल से लिए थे जो महीने भर की मेहनत से चुका पाया। उसके अलावा उस स्कूल में चार लड़कियाँ बतौर अध्यापक काम करती थीं जो वक्त काटने आतीं और हँसी-ठिठोली कर दिन बिता लेतीं। उसने जैसे-तैसे महीने भर के काम के बाद तूफानीलाल के कर्ज से छुटकारा पाया और उनसे आगे काम न कर पाने की लाचारी बतायी। तूफानीलाल कुर्ता-पाजामे पर गांधी टोपी लगाते और हर बात में 'जय भीम' बोला करते। दुआ-सलाम में तो वे 'जय भीम' बोला ही करते। उसके निर्णय पर वे बहुत खुश न दिखे, बोले—

'मास्टर जी, कुछ दिन और रहते तो अच्छा होता। अम्बेडकर जी का तो यही सपना था कि सब लोग पढ़कर ही अपना हक ले सकते हैं।'

‘बात तो ठीक है, पर पढ़ानेवालों की कमी क्या है। हम जाएँगे तो दूसरे लोग आ जाएँगे।’

उसकी बात पर सिर हिलाते हुए तूफानीलाल बोले—

‘बात तो ठीक है, पर अच्छे लोग कम मिलते हैं। आप भले और सीधे आदमी हैं। खैर, जो आप चाहें।’

भीमराव अम्बेडकर को बात-बात में उद्धृत करनेवाले तूफानीलाल की दो फैक्ट्रियाँ थीं जिनमें करीब दो सौ लोग काम करते थे। वे कभी भी मजदूरों को समय पर वेतन न देते थे और मनमर्जी कटौतियाँ भी करते। प्रायः रोज ही कोई न कोई मजदूर उनसे गालियाँ सुनता और कई बार धक्के खाकर बाहर जाता। स्थिति यह थी कि वे दोनों फैक्ट्रियाँ अवैध ढंग से चला करतीं जिनमें रसायन बना करते थे। कभी-कभी उन रसायनों से मजदूरों के हाथ झुलस जाते, पर वे उन्हें दवा के पैसे तक नहीं देते। वे तूफानीलाल धूमधाम से अम्बेडकर के जन्म दिन पर प्रभातफेरी निकालते और समरस समाज की बातें करते। बाबा साहब ने यह कहा है, बोलनेवाले तूफानीलाल ठीक वैसे ही थे जैसे मोटे पैसेवाले होते हैं। वे दलित थे, पर दलित होना उनके लिए केवल ढाल था, आचरण में वे किसी बिंगड़े सामन्त से कम न थे। स्कूल की एक अध्यापिका पर वे ज्यादा मेहरबान दिखते जो सबके बीच हँसी का पात्र बन गयी थी। तूफानीलाल को अगले चुनाव में खड़ा होना था जिसके लिए वे कॉर्ग्रेस के बड़े नेताओं से सम्पर्क साधे रहते। लोग कहते, दिल्ली के उन दिनों के सबसे बड़े नेता हरकिशन लाल भगत से उनकी अच्छी पहचान है। भगत के नाम से तूफानीलाल के सारे काम आसान हो जाते थे और लोग उनसे डरकर भी रहते। जो हो, उसने तूफानीलाल से अपनी निजी लाचारियों का हवाला देकर उनसे आगे काम करने में असमर्थता जतायी। तूफानीलाल ने सहज भाव से शुभकामनाएँ देते हुए उसे विदा किया और उम्मीद जतलायी कि पढ़ाने न सही पर बाबा साहब अम्बेडकर पर होनेवाले आयोजनों में वह जरूर आता रहेगा। उसने उनके कहे को सिर हिलाकर मान

लिया था।

वह वहाँ से चलते हुए सोच रहा था, यही गांधी जी के सुराज का सच है। यही भीमराव अम्बेडकर के समरस समाज का सच भी। यहाँ तो छोटा-बड़ा सिफ विभ्रम है। असल बात है अवसर पाना और उसे भुनाकर कमाने की। इसमें सब एक जैसे हैं, सब एक ही तरह के। जब तक अवसर हाथ न आया हो, तब तक ही ईमानदारी का ढोंग किया जा सकता है। अवसर पाते ही बड़े-बड़े ईमानदार वैसे ही रंग बदलते हैं जैसे गिरगिट। ईमानदारी की असल कसौटी यह अवसर ही है जो बड़ों-बड़ों की थाह लेती है। इसमें केवल तूफानीलाल ही नहीं हैं, ऐसे असंख्य लोग हैं जो बड़े आदर्शों की दुहाई देते हैं और अनैतिक आचरण का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते।

अम्बेडकर स्कूल की अध्यापकी से छुटकारा पाकर वह बहुत इधर-उधर भटका, पर कोई काम न मिल पाया। अन्त में थक-हारकर वह टी ब्लॉक के हनुमान मन्दिर के पुजारी के पास गया, जो उसके स्थानीय निकले। मन्दिर के पुजारी पण्डित धर्मदेव द्विवेदी शास्त्री थे तो भले आदमी, पर ज्ञान नाम की कोई चीज़ उनके पास न थी। वे बेचारे किसी भी तरह से अक्षर पहचान लेते थे और उसी अन्दाज में कुछ लिख-पढ़ भी लेते थे। चूँकि वे वर्षों से दिल्ली में रह रहे थे इसलिए काम भर की हिन्दी बोल लेते थे और इसी तरकीब से जनता की धर्मभीरूता का लाभ उठाते थे।

वे मंगलवार को मन्दिर धो-पोंछकर चमका देते। लम्बा त्रिपुण्ड खींचकर पालथी मारकर हनुमान की मूर्ति के पास आसन जमाते। श्रद्धालुओं की भीड़ उन्हें प्रणाम करती, हनुमान जी को नमन करती और उन्हें दक्षिणा देकर खुश कर देती। पूरे टी ब्लॉक में यही एक मन्दिर था इसलिए पुजारी धर्मदेव शास्त्री बहुत व्यस्त रहते थे। वे हाथ देखने की चलताऊ कला से लेकर भूत-प्रेत भगाने, विवाहादि संस्कार कराने तक की कला में चतुर थे। इसमें उन्हें माहिर कहना इसलिए उचित नहीं होगा कि उनका सारा काम अन्दाज से चलता था। विधि-

विधान और शास्त्रीय संस्कारों की समझ से वे शून्य थे। लोग उन्हें एक तो ब्राह्मण समझकर और दूसरे मन्दिर का पुजारी मानकर दान-दक्षिणा देते थे। कुछ ऐसे भी थे जो उन्हें गरीब मानकर पैसे देते ताकि वे अपने परिवार का गुजारा करा सकें।

‘पण्डित धर्मदेव द्विवेदी शास्त्री—हस्तरेखा विशेषज्ञ और समस्त हिन्दू संस्कारों के ज्ञाता’ के अतिरिक्त जब उनकी बड़ी नाम पट्टिका पर यह लिखा पाया कि ‘यहाँ सत्यनारायण व्रत कथा के लिए पण्डितों की अतिरिक्त व्यवस्था है’ तो उसका जी ललचा गया। सोचा, अगर उसे इस काम के योग्य मान लिया गया, तो सारे कष्ट दूर हो जाएँगे। कथा-वाचन तो वह कर ही लेगा। धोती पहनना और चन्दन घिसना तो कोई बड़ी बात है नहीं। एक ही दिक्कत है कि उसे शंख फूँकना नहीं आता—उसका भी कोई काट निकल आएगा।

पूर्णिमा का दिन था और मंगलवार भी, इसलिए मन्दिर पर श्रद्धालुओं की भारी भीड़ थी। मन्दिर के दरवाजे से लेकर सड़क तक पुण्यार्थियों की लम्बी कतार थी। पुजारी अपनी पारम्परिक वेशभूषा में हनुमान जी की मूर्ति के सामने आसन लगाये बैठे थे। कतार में लगे श्रद्धालु अपनी बारी आते ही मूर्ति के समक्ष नत-सिर होकर आँखें मूँदते, हाथ जोड़कर कुछ बुदबुदाते और उसके बाद प्रसाद का दोना पुजारी को देकर हनुमान की मूर्ति से स्पर्श कराते, दक्षिणा देकर पुजारी के पाँव छूते और जोर से घण्टा बजाकर चीखते-पवनसुत हनुमान की जै।

उस दिन पण्डित धर्मदेव द्विवेदी शास्त्री से मिलकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह उनसे अपना दुख-सुख सब परोसकर भीतर से मानों हल्का हो आया। पण्डित ने ध्यान से उसकी बातें सुनीं और कुछ पल मौन रहने के बाद कहा—‘कोई बात नहीं है। आदमी को घबराना नहीं चाहिए, सब कुछ सँभल जाता है। समय का इन्तजार करना चाहिए। फिर आप तो पढ़े-लिखे हो—कुछ न कुछ तो जरूर हो जाएगा।’

पण्डित की बातें सुनकर उसे बड़ा सन्तोष हुआ। मन ही मन सोचा—इसी कुछ न कुछ के सहारे तो जीता जाता है आदमी, वरना वह जीता क्यों अगर जान लेता कि आगे कोई उम्मीद शेष ही नहीं है।

वह अभी अपने में ही मगन था कि पण्डित की तेज आवाज से उसका सोचना रुका। वे कह रहे थे—‘सुनो भाई, क्या नाम बताया था अपना?’

‘जी, प्रभाकर, प्रभाकर तिवारी।’

‘हाँ, तो प्रभाकर जी, आज पूर्णिमा का दिन है और धर्मपरायण जनता बाबा सत्यनारायण की कथा सुनती है। सामर्थ्य के मुताबिक चढ़ावा और दक्षिणा भी देती है। आज मुझे कई घरों में जाना है। अगर आप एक-दो पूजा भी सँभाल लेते हो, तो कुछ पैसे भी बन जाएँगे और मेरे यजमान भी कहीं और न जाएँगे।’

उसे इस आकस्मिक लाभ की सूचना से बहुत खुशी हुई। वह पण्डित की स्नेहिल आत्मीयता से खिल उठा। वह तुरन्त बोल पड़ा—‘तो यह कौन सी बड़ी बात है। अच्छा तो है।’

पण्डित उसकी बात से आश्वस्त तो हुए पर यह कहना न भूले कि—‘कर्म-कुकर्म आप जो करते हो, उसे कोई देखता नहीं। पर दिखावे के लिए ही सही, ब्राह्मण का वेश तो होना चाहिए। मतलब यह कि धोती नहीं तो कुर्ता-पाजामा, हाथ में बेठन में बँधा धर्मशास्त्र और कपाल पर रोली का तिलक या चन्दन का लेप तो होना ही चाहिए।’

उसने उत्साह में कहा—‘पैंट-शर्ट अभी उतार आता हूँ। कुर्ता-पाजामा पहनकर आ जाता हूँ। रही बात तिलक की, तो वह आप लगा ही देंगे। भगवान की कथा—पोथी आपके पास है ही, तो अब हर्ज ही क्या है।’

पण्डित को विश्वास हो आया। फिर अचानक उन्होंने पूछ लिया—‘लेकिन शंख फूँकना तो आता है न आपको? पण्डित के इस प्रश्न पर वह सकपका गया।’ उसे तो शंख फूँकना आता ही न था।

डरते-डरते कहा—‘शंख तो नहीं फूँका है मैंने कभी। पर घण्टी हो तो बात बिगड़ने न दूँगा। हर अध्याय के समापन पर घण्टी बजाकर हाथ जोड़वा लेना मैं कर लूँगा।’

‘और अगर यजमान नाराज हो गये तो?’

‘यह मुझ पर छोड़ दीजिये पण्डित जी। देश में एक ही रिवाज तो नहीं है। मैं पूजा नये रिवाज से कराऊँगा। क्या आप यह नहीं मानते कि लोग तो सिर्फ भक्ति में दीवाने होते हैं, जरूरत तो उन्हें सिर्फ इस दीवानगी में बहकाकर अपना काम बनाने की होती है।’

पण्डित उसकी बातों को सुनकर मानो अचकचा गये और उन्हें उसकी पण्डिताऊ बातों को सुनकर ईर्ष्या हो उठी।

सुल्लानपुरी के एक्स्प्रेस ब्लॉक के 435 नम्बर के मकान का कमरा खचाखच भरा था। उन दिनों दूरदर्शन पर धारावाहिक रामायण का प्रसारण भी चल रहा था। आज दूरदर्शन पर सुन्दरकाण्ड के लंका दहन का प्रसंग था। पुरुष और महिलाएँ अपनी-अपनी अंजलि में फूल, अक्षत् और सिक्के लेकर रामायण की इस कथा के दृश्य को भक्तिभाव से देख रहे थे। कमरे के बाहर नाली थी जिसके कारण वहाँ नाक दे पाना कठिन हो रहा था। वह बाहर खड़ा ही था कि एक सूअर बगल की तंग गली से आकर सामने की नाली में जा घुसा और अपनी स्वाभाविक चाल में विचरने लगा। वह वही पण्डित है जिसको आज की कथा कहनी है, इसे जानकर लोगों ने उसकी बड़ी आवभगत की। दो जनों ने आदर के साथ ले जाकर कमरे के एक कोने में बिछी चारपाई पर बिठाया। भीतर जगह बिल्कुल नहीं थी, इसलिए रामायण के श्रद्धालु दर्शकों को परेशानी हो रही थी। उसने भी अपनी ओर से संयत होकर इस धारावाहिक भक्ति प्रसंग को देखने का मन बनाया और भाव-विभोर हो भक्ति रस में डूब गया। छोटी उम्र में सफेद कुर्ता-पाजामा, कपाल पर चन्दन, हाथ में शालिग्राम का सिंहासन, घण्टी और बेठन में बँधी भगवान सत्यनारायण की कथा की पोथी देखकर कुछ को आश्चर्य हो रहा था तो कुछ को क्षोभ। वह लोगों के चेहरों को पढ़-पढ़कर हैरान हो रहा था तब तक उधर टीकी

पर रावण गरज पड़ा—‘दुष्ट बानर, तूने अशोक वाटिका को क्यों नष्ट किया और किस अपराध में सेवकों सहित मेरे पुत्र को मार डाला ?’

‘किसी विशेष कारण से नहीं राक्षसराज। भूख लगी थी सो मधुर फलों को देखकर जी ललचा गया। वाटिका में प्रवेश कर जैसे ही मधुर फलों का स्वाद लेना शुरू किया, प्रहरियों ने मुझ पर आक्रमण कर दिया। अब एक तो भूख से क्रोध और दूसरे प्रहरियों का त्रास, विवश होकर प्राण रक्षा में मैंने उन्हें मारा।’

रावण हनुमान की बातें सुनकर हँसा, फिर पुत्र की मृत्यु पर दुखी होता हुआ सिर नीचे झुका लिया। फिर तेजी से गरजा—‘दुष्ट बानर, तुम्हें राक्षसराज रावण की पहचान नहीं ?’

‘हाँ, कई रावणों के बारे में है हमने...एक तो...’ हनुमान की पंक्ति पूरी भी न हो पायी थी कि बिजली चली गयी। लोग जय शिव, जयशिव करते रहे। पर दोबारा बिजली नहीं आयी और प्रसारण का समय निकल गया। लोग अब वहाँ से दुखी मन से जाने लगे—‘कलिजुग है भाई, धर्म को भी काट खाने को अफरा-तफरी मची है। आज तो हनुमान जी को रूष्ट ही हुआ समझो।’ जाते-जाते लोग टीकी के आगे फूल, अक्षत् और पैसे चढ़ाकर सर नवाते और मन में कुछ बुद्बुदाकर बाहर निकल जाते। वह तो यह देख-देखकर हैरान हो रहा था और धर्मप्रिय जनता के प्रति श्रद्धा से भर-भर जाता था।

गौरी गणेश की प्रतिमा उसने गाय के गोबर से बनायी। कलश स्थापित कर गणेश का आह्वान किया और यजमान को आसन देकर उसने पूजा प्रारम्भ कर दिया। पूजा-स्थल पर बहुत से लोग थे जो हाथ जोड़कर भगवत्-भक्ति में लीन थे। उसने मन ही मन प्रसन्न होकर कथा-वाचन का क्रम जारी रखा। पहला अध्याय समाप्त कर जब उसने घण्टी बजायी तो यजमान नाराज हो गया। श्रद्धालुओं की जमात ने भी नाराज यजमान का समर्थन किया। अब क्या था, वह मुश्किल में पड़ गया। उसे शंख बजाना आता तो था नहीं, जान कैसे बचती। जनता को मूर्ख बनाना भी आसान नहीं होता। जनता को उन्हीं के हथियारों से जीता जा सकता है। फिर जहाँ शंख की प्रधानता हो, वहाँ

घण्टी की दलील सुने भी कौन। फिर भी वह घबराया नहीं। काफी गम्भीर होकर संयम के साथ वह बोला—

‘भई आप लोग पुराने जमाने के पुराने विचारों के लोग हैं। लेकिन इतना तो आपलोगों को जानना ही चाहिए कि शंख का प्रचलन तब था जब आसपास के लोगों के प्रति प्रेम हुआ करता था। आज जब पड़ोसियों को कोई देखना भी पसन्द नहीं करता, तब क्यों अपने घर में हो रही पूजा का पुण्य लाभ शंख बजवाकर मुहल्ले भर के लोगों में बाँट देगा। मैंने तो आप ही लोगों का भला समझकर घण्टी बजायी कि आपलोगों की इस महत्ती श्रद्धा से हो रही पूजा का पुण्यलाभ मुहल्ले भर में न जाए और आप ही के घर तक रह जाए। आपलोग ही सोचिए कि जो पण्डित इतनी बड़ी पूजा करा सकता है उसे शंख बजाने में क्या दिक्कत हो सकती है।’ उसकी बातों ने तुरन्त अपना असर दिखाया और वहाँ बैठे लोगों में खुसुर-पुसुर शुरू हो गयी। सबको जैसे ही उसकी बात पर विश्वास हुआ, यजमान ने भी हाथ जोड़कर अपनी हामी भरी। इस तरह स्थगित पूजा का क्रम फिर से शुरू हुआ।

कथा समाप्त होते ही दक्षिणा पर मामला लटक गया। उसने पण्डितों की प्रचलित परिपाटी के अनुसार दक्षिणा का संकल्प आरम्भ में नहीं कराया था। कथा विसर्जन पर उसने यजमान से दक्षिणा का संकल्प कराने को कहा। यजमान ने बहुत मामूली रकम की बात उठायी और अनुनय करके उसे पिघलाना चाहा। उसने जिद की कि अगर कम से कम एक सौ इक्यावन रुपये न मिले तो वह कथा विसर्जित किये बिना चला जाएगा। इस व्यवधान से देवकोप होगा तो अनिष्ट करेगा। उसके उग्र तेवर और देवताओं के कुपित हो जाने के भय से घबराकर यजमान ने रोते-रोते उसकी माँग पूरी की। उसने कथा विसर्जित कर प्रसन्न मन से यजमान की मुराद पूरी करने की ईश्वर से प्रार्थना की और जाने को तैयार हुआ। किन्तु बिना भोजन कराये यजमान पण्डित को विदा कैसे करे। उसने जिद कर ली थी कि वह भोजन नहीं करेगा। बहुत अनुनय-विनय के बाद उसका मन बदला और उसने प्रसाद के लिए बनी पूरी-सब्जी का भोग लगाकर

भोजन ग्रहण किया। जब वह चलने लगा तो घर के बच्चे, जवान, बूढ़े सबने उसके पाँव छुए, रूपये रख प्रणाम किया और उसने सबको आशीर्वाद देकर हर्षित होकर अपनी राह पकड़ी।

उसे हर्षित देख यजमानों से घिरे पण्डित धर्मदेव द्विवेदी शास्त्री भी प्रसन्न हुए और अपने पास बैठने का संकेत कर पूछ पड़े—‘कहो भैया, पूजा तो हो गयी न?’

‘हाँ!’ उसने कहा।

‘कोई बखेड़ा तो न खड़ा हुआ?’

‘नहीं, नहीं, ऐसा कुछ न हुआ।’

‘अरे, तब तो कमाल ही हो गया। पर दक्षिणा तो कम मिली होगी जरूर?’

‘कैसे?’ उसके मुँह से अनायास निकल गया। और उसे ऐसा महसूस हुआ कि यह कहकर उसने अपने सारे परिश्रम पर पानी फेर दिया। वह अभी कुछ सोच ही रहा था कि पण्डित ने उसे मन्दिर के अन्दर चलने को कहा। यजमानों को बैठे रहने की सलाह देते हुए पुजारी ने कहा—‘अभी आता हूँ। शालिग्राम जी को सिंहासन पर बिठाकर मन्त्र पढ़ना है। यजमान के घर से भगवान आए हैं न।’ यह कहते पण्डित मुँह टेढ़ाकर विकृत ढंग से मुस्कराये।

‘संकल्प कितने का हुआ?’

‘यही एक सौ इक्यावन का।’

‘आं...आं...’ पण्डित चिहुँके।

‘भाई, इतनी रकम तो मुझे भी कहीं नहीं मिल पाती। आपको कैसे मिल गयी?’

‘बहुत ठनाठनी करनी पड़ी पण्डित जी।’

‘करना क्या हुआ।’ पण्डित ने फिर पूछा।

‘अरे वही पण्डिताऊ नखरे। नहीं दोगे तो कथा विसर्जित किये बिना चले जाएँगे। इससे देवकोप हो जाएगा।’

‘और मिल गये पैसे?’ पण्डित ने पुनः प्रश्न किया।

‘क्यों नहीं मिलते, भारत के लोग हैं पण्डित जी। धर्म छोड़कर

कैसे जीवित रहेंगे। पेट भरे न भरे, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं होती, उन्हें सिर्फ इस बात की चिन्ता होती है कि चाहे जो हो, उनके इष्ट नाराज न हों। और जानते हैं पण्डित जी, इस इष्ट को आप जैसे पण्डितों ने उनके दिलो-दिमाग में बिठा दिया है। वे चाहकर भी इस इष्ट के भूत से अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकते।'

वह पण्डित के लालची स्वभाव की प्रतिक्रिया में यह सब बोल गया था जिसे सुनकर पण्डित बहुत दुखी हो आए। उन्होंने नरमी से समझाते हुए कहा—

‘कुछ ज्यादा ही बोलते हो भाई आप। पण्डित के घर में पैदा न हुए होते तो आज कोई पूछता? जहाँ दस-पाँच रुपये की आफत है, वहाँ इतने रुपये कहाँ से मिल जाते? कलियुग का प्रभाव है यह प्रभाकर जी। साक्षात् कलियुग का प्रभाव। नहीं होता तो आप जैसे पढ़े-लिखे ब्राह्मण बिरादरी के आदमी अधर्म की बात तो न करते।’

‘यह अधर्म है?’

‘हाँ।’

‘कैसे?’

‘जिस भक्तिभाव से दुनिया चलती है, उसे आप धर्मभीरूता कहते हो, यह अधर्म नहीं तो और क्या है?’

बाहर बैठे यजमानों की नज़र इधर ही थी और वे सारे इधर ही उत्सुकता से कान लगाये जान पड़ते थे। उसने उनकी परवाह किये बिना पण्डित से कहा—

‘आप जो करते हैं न, वह अधर्म ही है। यह दुनिया भक्ति से नहीं, कर्म से चलती है और आप जिसे भक्तिभाव कहते हैं, उसे स्वयं नहीं जानते कि वह क्या होता है। यह तो व्यवसाय है पण्डित जी, धर्म नहीं है, न भक्ति है।’

उसका मन तो वैसे ही भारी था और यजमान के साथ किये अपने व्यवहार पर क्षोभ भी, उसमें पण्डित के लालच ने उसे ज्यादा ही उत्तेजित कर दिया था जिसकी प्रतिक्रिया में वह उबलता हुआ बोल गया था।

पण्डित रोष भरे लहजे में बोल पड़े—‘हाँ, हाँ, आप तो सब कुछ जानते हो। ठीक है—ठीक है। बिरादरी के न होते तो बताता आपको।’

‘नहीं तो क्या करते आप? क्या कर लेते मेरा?’

उसके आवेश को देख पण्डित धर्मदेव द्विवेदी शास्त्री चुप हो गये थे। उसने आज की पूजा में पाये सभी पैसे उनको सौंपते हुए कहा—

‘यह दक्षिणा के पैसे हैं, इन्हें रख लीजिये और मुझे यहाँ से जाने की आज्ञा दीजिये।’

पण्डित इतने बेवकूफ न थे कि अपना हित-अहित न सोचते। पहले तो उन्होंने पैसों को लेने से इनकार किया पर उसके दबाव देने पर कुछ रुपये उसे देकर बाकी की राशि को अपनी जेब के हवाले कर दिया। वह भी अपना श्रम क्यों व्यर्थ करता, ‘जो हाथ सो साथ’ के तर्क पर जो मिला, वह लेकर वहाँ से जाने को हुआ तो पण्डित ने उसे फिर कुछ समझाना चाहा, पर उसने हाथ जोड़ उन्हें प्रणाम कर अपनी राह ली। चलते समय उसने कसम ली कि आगे फिर कभी वह पण्डिताई का काम न करेगा।

पीछे घर का बोझ, आगे निपट अँधेरा। घर लौटता है तो भारी बोझ तले दब जाने और मिट जाने का खतरा है और यहाँ टिके रहता है तो गुम हो जाने का भय। कहीं भी रास्ता नहीं है। लेकिन रास्ता तो उसे निकालना होगा। उदय के यहाँ अब वह रह नहीं सकता। विवश होकर रहता भी है, तो अपनी ही नज़र में गिरना होगा और तब जीने लायक रहना मुश्किल होगा। यह पण्डिताई तो उससे होने से रही। पाखण्ड का बाना ओढ़कर जीना धर्मभीरुता का लाभ उठाकर पैसे ऐंठना अव्वल दर्जे की कमीनगी है जो उसके वश का नहीं है। एस. ब्लॉक के बस स्टॉप पर वह देर तक यही सोचता रहा। उस समय वहाँ कई बसें आयीं और गयीं, पर उसकी गति तो रुक सी गयी थी और उसमें कोई हरकत नहीं हो रही थी।

थक-हारकर उसने निर्णय लिया कि वह अब सदाकत राय के यहाँ जाएगा। वे चाहे जितने बुरे हों इतने गिरे नहीं कि दो-चार दिन रहने की उसे जगह न दें।

७९

सदाकत राय उसके गाँव के थे, दिल्ली के कर्मपुरा में रहते थे। आदमी उतने बुरे न थे जितने दिखते थे, पर उनकी पत्नी का स्वभाव बेहद उजड़ था। उन दिनों सदाकत राय एक जर्जर हाल कपड़ा मिल में मजदूर थे। बच्चे कॉलोनी के स्कूल में पढ़ रहे थे। उनके छोटे भाई तीर्थप्रसाद कैम्पा कोला की फैक्ट्री में थे और रात की ड्यूटी पर होते। कपड़ा मिल की उस कॉलोनी में बने घरों में एक ही कमरे का सेट होता था—सामने एक लॉबी और सीढ़ियों से सदा शौचालय सह स्नान घर। अगल-बगल दो कमरों पर एक ही शौचालय था और एक व्यक्ति को एक ही कमरा मिलने का प्रावधान था। काम उनका मजे में चल रहा था। तीर्थप्रसाद दिनभर लॉबी में सोए रहते, रात को काम पर जाते। सदाकत राय शाम को काम से लौटते तो पत्नी सहित कमरे का सुख लेते। बच्चे लॉबी में खाट पर पड़े-पड़े चिल-पों करते रहते।

वह जब मय सामान वहाँ पहुँचा तो सदाकत राय लॉबी में कील से लटके शीशे के सामने खड़े दाढ़ी पर शेविंग ब्रश चला रहे थे—झाग इतना फैल गया था कि उन्हें पहचान पाना कठिन हो गया था, फिर भी अनुमान से उन्हें प्रणाम कर सामान लॉबी के एक किनारे रख खड़ा हो गया। सदाकत राय ने दाढ़ी बनाकर उसे खाट पर बैठने को कहा और पत्नी को आवाज़ दी। बच्चे स्कूल जा चुके थे और तीर्थप्रसाद अभी फैक्ट्री से लौटे न थे। उनकी पत्नी सविता उसे देखकर कितना खुश हुई, वह यह तो नहीं कह सकता, पर यह कहना उसे अब तक

जरूर याद है—

‘झुरा गये हैं बाबू आप तो। गाँव में ही रहना कौनो खराब ना है। इतना दिक्कत उठावे के का जरूरत।’

सदाकत राय ने उन्हें डाँटा—‘भई’ तुम तो पीने को पानी भी न दी और सीख देने बैठ गयी।’

‘हाँ, हाँ, पानी लीजिए और थोड़ा ई मिसरी।’ उसने खाट पर बैठे मिसरी की एक डली मुँह में डाल पानी का घूँट हलक में उतारा।

वह अभी भी मय सामान खाट पर जमा था। अब सदाकत राय मरियल चमरौंधे जूते पर पॉलिश घिसने में लगे थे। उस पर ब्रश मारते बोले—‘डेढ़ साल तो हो गये न आए प्रभाकर इहाँ?’

‘हाँ।

‘तो अब तक सब अइसे ही है? मतलब कुछ हुआ गया नहीं। कैसे रहोगे तुम अगर कुछ जुगाड़—पानी न हुआ।’

‘यही बतिया तो हम भी कहे रहीं, पर आपने हमें डाँट दिया जैसे कि हम इनका दुस्मन हों।’

‘नहीं, नहीं, बात ई नहीं है। बात ई है कि बिना कुछ जुगाड़—पानी के ई लड़के का काम कइसे चलेगा। उसमें भी ई पढ़ने आया है और घर का हाल कुछ देने लायक तो है नहीं।’

सदाकत राय और उनकी पत्नी के कहे से वह सन्त रह गया था। उसे समझ नहीं आ रहा था कि यह उसके प्रति सांत्वना है या उपालम्भ या जले पर नमक का छिड़काव। उसे मन ही मन अफसोस हो रहा था कि वह यहाँ आया ही क्यों। थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह सदाकत राय से धीरे से बोला—

‘हम सोचकर आए थे कि दस-पन्द्रह दिन यहाँ रहेंगे और फिर अपनी व्यवस्था कर लेंगे, पर नहीं, आप लोग चिन्ता न करें। हम अभी चले जाएँगे, यही समझिए कि मिलने चले आए हैं।’

सदाकत राय को उसकी सीधी बात से लगा मानों उनके पैतरों को उसने समझ लिया है। थोड़ा सँभलकर वे बोले—‘हमारा बात का इ

मतलब नहीं जो तुम निकाल रहे भाई। हम तो चिन्ता में ऊ सब बोल गये। इतना खरचा बड़ा, इतना बड़ा शहर यह, चिन्ता तो होगा ही।'

'उसकी चिन्ता आप क्यों करते हैं। हम तो काफी हैं अपनी चिन्ता के लिए। सब ठीक हो जाएगा। थोड़े दिन की बात है, बस, आप लोग आशीर्वाद बनाये रखिये। तो हम चलें?'

उसके ऐसा कहने पर पति-पत्नी के माथे पर चिन्ता की लकीरें खिंच आयीं। उन दोनों को लगा कि वे बुरे फँस गये हैं, गाँव का मामला है—शिकायत हो जाएगी। सदाकत राय नहाने को तैयार थे। मिल का पहला भोंपू बज चुका था। अचानक कन्धे पर तौलिया डालते वे पत्नी को फटकारते हुए बोले—'भई, प्रभाकर का सामान तो अन्दर रखो। नास्ता कराओ इनको। अभी हम जिन्दा हैं, कैसे यहाँ से जाने देंगे जब तक कोई जुगाड़-पानी नहीं होता।'

'हाँ, हाँ, हम भी इहे सोचत रहे। ठीक कहते हैं। आयीं बाबू। अन्दर बइठिए। नास्ता-पानी भैया के साथ करके घूमिये-फिरिये। कोसिस करते रहिये। अभी कहीं जाने का जरूरत नहीं।' उसे तो इस बदले हुए तेवर का अन्दाजा था, पर करता भी क्या। यह सोचकर कुछ दिन काट लेना ही ठीक लगा कि आगे जो होगा, शायद कुछ बेहतर हो। अपमान, उपालम्भ और कटुकित झेलना कई बार वरदान भी होता है, जब आप किसी अच्छे ध्येय के लिए जी रहे हों। जिसमें अपमान सहने का साहस नहीं, जिसमें लांछित होकर भी ध्येय से तिल भर हटने का अधैर्य नहीं, उसके बढ़ते कदम को कोई कब तक रोक सकेगा। उसे न जाने क्यों यह बात याद आयी जिसे किसी महापुरुष ने कहा था, शायद गांधी जी ने। वह मन ही मन हँसा। यह भी ठीक है। देखते हैं—जीवन का क्या हश्र होता है।

नाश्ता करके जब सदाकत राय मिल की तरफ चले तो वह भी साथ हो लिया। उसे अच्छा न लगा कि वह उनकी पत्नी के साथ अकेले उस कमरे की लॉबी में रुकता। कोई लाँछन लग जाय तो जीवन ही धिक्कार हो जाएगा। राम, राम, उससे यह न सहा जाएगा। वह बाहर

निकलकर तब तक इधर-उधर भटकता रहा, जब तक तीर्थप्रसाद के लौटने का समय न हो गया। लौटा तो तीर्थराज प्रसाद लॉबी में पड़ी खाट पर बैठकर जूते का फीता खोल रहे थे, उसने नमस्ते किया तो वे हँसे, ‘वाह वाह! बहुत बढ़िया। उम्मीद था, आओगे। अरे मंगोलपुरी खराब जगह है भाई, आदमी के रहने का जगह नहीं। ई मस्त जगह है, बड़ा-बड़ा बिल्डिंग, बढ़ियावाला सिनेमा हाल है—मिलन, पास में ही। और कैम्पा वाह, पी-पीकर सिनेमा का मजा लो भाई।’

कहते हुए तीर्थराज ने खाट के नीचे पड़े बोरे से एक कैम्पा की बोतल उसे पीने को दे दिया।

‘ढक्कन खोल देते हैं—ई चटाक, (ढक्कन को अँगूठे के नाखून से खोलते हुए) गर्म होगा...घर में फ्रीज नहीं है न, शाम को बर्फ लाकर इसे ठण्डा करके पिलाएँगे। मजा आएगा, देख लेना। कोका कोला फेल है इसके आगे—पीने पर लगता है गन्ने के रस में सहद घुला हो। वाह।’ वह मुस्कराते हुए कैम्पा पी गया। गर्म कैम्पा अन्दर सीने से जाकर भक्क सा लगा। उसे तेज डकार भी आई और तेज जम्हाई भी। तीर्थप्रसाद फिर शुरू हुए—‘गैस नहीं, अन्दर अपच-वपच कुछ नहीं। कैम्पा पूरा पाचक है भाई। वाह। कमाल। आज देखना, खूब भूख लगेगा। दबाकर खाना। वाह। कमाल।’

तीर्थप्रसाद बी.ए. पास थे— फेल हो गये थे, पर दो परचे दोबारा देकर अन्ततः ग्रेजुएट हो गये थे। बावजूद इसके, उनको कहीं कोई काम-वाम न मिला। गाँव-गिराँव के शोहदों की सोहबत में जब उम्र काफी निकल गयी तो भान हुआ कि उन्हें अब दिल्ली चलकर ही नौकरी करनी चाहिए। शादी उनकी हो चुकी थी, बाल-बच्चे भी थे, सो उन पर दबाव बनना लाजिम था कि वे अब निठल्ले न रहकर कुछ काम-वाम करें और अपने बाल-बच्चों को देखने पर ध्यान दें।

तीर्थप्रसाद बड़े भाई के पास आए तो उनके लिए वे यानी सदाकत राय ने बड़ी कोशिश की कि कोई सरकारी काम हो जाए। उनके पड़ोस में एक दलाल रहता था, जो मोटी रकम लेकर दिल्ली पुलिस में

बहालियाँ कराता था। काफी भाग-दौड़ और एकमुश्त पाँच हजार की रिश्वत लेकर भी वह दलाल तीर्थप्रसाद को पुलिसिया नौकरी न दिला सका। कोशिश उसने पूरी की थी, पर मोटी नगर के पुलिस प्रभारी ने एक दूसरे व्यक्ति की पैरवी कर तीर्थप्रसाद का पत्ता काट दिया और सदाकत राय के दिये पैसे भी डूब गये। दलाल ने पैसों को इधर-उधर बाँट दिया था जिसे अब मिल पाना नामुमकिन था। पुलिस में बहाल न हो पाने से तीर्थप्रसाद बहुत उदास रहने लगे थे। सदाकत राय रोज उन्हें कोसा करते और पाँच हजार की मोटी रकम के डूब जाने से दुखी रहा करते थे। आखिर यह रकम उन्होंने पूरे डेढ़ साल में जोड़ा था। घर में चिल-पों और हो-हल्ला के बाद जब यह मामला शान्त हुआ तो नये सिरे से काम की खोज शुरू हुई। उन दिनों कर्मपुरा में ठण्डा पेय कैम्पा कोला की फैक्ट्री थी, थोड़ी कोशिश हुई तो उसी दलाल के मार्फत तीर्थप्रसाद को उसमें कैम्पा की बोतलों की पैकेजिंग यूनिट में नौकरी मिल गयी। इस बार दलाल ने इस काम के लिए सदाकत राय से एक हजार रुपये लिए थे। अब मजे में तीर्थप्रसाद रात को कैम्पा की फैक्ट्री में काम करने लगे थे और कैम्पा का स्वाद लेते हुए दो-चार बोतलें प्रायः रोज ही घर लाया करते जिसे सब चुस्की लेकर पीते और अपने भाग्य पर फूल उठते।

उसके वहाँ रहने के तीसरे दिन ही तीर्थप्रसाद को नौकरी करते एक महीना हो गया था। तनख्वाह के दिन वे बड़े उत्कुल्ल होकर फैक्ट्री गये, सुबह लौटे तो उनके हाथ में साढ़े सात सौ रुपयों से भरा एक लिफाफा था। उन्होंने उसे खोलकर घर की लॉबी में सौ-सौ और पचास के नोट लहराये। उस दिन तीर्थप्रसाद जितने खुश थे, पहले कभी न देखे गये थे। सदाकत राय का पूरा परिवार खुश था—कई योजनाएँ बन रही थीं, आखिर इस पहली तनख्वाह की खुशी में कुछ करना तो बनता था! उसे याद है, बहुत दिनों बाद रोहू मछली बनी थी और घर भर के साथ उसे भी मछली-भात का स्वाद मिला था।

दूसरे दिन शायद जून की दो तारीख और 1988 का साल रहा

होगा, भारत के सबसे बड़े शोमैन राजकपूर का निधन हुआ था। पूरे देश में शोक की लहर फैल गयी थी। देश के बड़े शहरों के सिनेमा हॉलों ने श्रद्धांजलिस्वरूप राजकपूर की फिल्मों का प्रदर्शन शुरू किया था। उसकी उस उम्र में शायद राजकपूर का निधन एक ऐसे व्यक्ति का निधन था जिसे देश सहित विदेश में भी श्रद्धांजलि दी जा रही थी। बड़े राजनेताओं के लिए यह कोई असामान्य बात नहीं थी, पर सिनेमा के अभिनेता के लिए यह बड़ी बात थी कि उसे भरी आँखों से लोग कुहुकते हुए याद करें। दिल्ली के बड़े-बड़े अखबारों में राजकपूर के सिनेमायी योगदान पर लेख लिखे जा रहे थे। बड़ी-बड़ी बहसें चल रही थीं और प्रायः सभी लोग मान रहे थे कि उनके निधन से एक बड़े स्वप्न का अन्त हो गया है जो जवाहरलाल नेहरू के प्रादुर्भाव से भारत में आया था। उसे अब तक याद है—‘जनसत्ता’ अखबार में उसके रविवारी संस्करण को राजकपूर पर केन्द्रित करते हुए उसके प्रधान सम्पादक प्रभाष जोशी ने शायद कुछ यही लिखा था—‘राजनीति में भारत को नेहरू ने जिस सपने में जीना सिखाया और जिस काम को अंजाम देने का प्रयास किया, उसी काम को राजकपूर ने सिनेमा के परदे पर दिखाया। राजनीति और सिनेमा का यह दुर्लभ संयोग समाजवादी दर्शन से प्रेरित था जिसमें सोवियत संघ की व्यवस्था और उसकी मैत्री भी महत्वपूर्ण थी। सपनों के बनने और उसे सुनहले भविष्य की तरह दिखाते राजकपूर ने देश की अनेक समस्याओं को उठाया और उसे एक भावनात्मक समापन देकर जनता को जागृत किया। प्रेम, त्याग, बन्धुता, सज्जनता, स्वराज और शील के उस दौर को परदे पर दिखाते राजकपूर ने सिनेमा को समाज-विमर्श का माध्यम भी बनाया। पर जैसे-जैसे स्वप्न भंग हुआ और देश के देखे स्वप्न खण्डित होते गये, वैसे-वैसे ही राजकपूर का अन्दाज भी बदला और वे ‘संगम’ के साथ शुद्ध बाज़ार की तरफ मुड़ गये।’

राजकपूर को वह बहुत पसन्द करता था। उनकी फिल्में उसे पसन्द थीं और उनकी फिल्मों के गीत उसे बहुत छूते। ‘आवारा’ का

यह गीत, जिसे शैलेन्द्र ने लिखा था, वह अक्सर गुनगुनाता —

‘आवारा हूँ...

‘या गर्दिश में हूँ, आसमान का तारा हूँ।

घर-बार नहीं, संसार नहीं मुझसे किसी को प्यार नहीं

* * *

सुनसान नगर अनजान डगर का प्यारा हूँ।

आबाद नहीं बर्बाद नहीं, गाता हूँ खुशी के गीत मगर

जख्मों से भरा सीना है मेरा

हँसती है मगर ये मस्त नज़र

दुनिया में तेरे पीर का

या तकदीर का मारा हूँ

आवारा हूँ॥’

मोती नगर के मिलन सिनेमा में राजकपूर की फिल्मों का उत्सव शुरू हुआ तो उसका भी मन हुआ कि देखे। पर पैसे की किल्लत थी। बात करने पर तीर्थप्रसाद तैयार हुए तो उसने ‘आग’, ‘आह’ और ‘आवारा’ उनके साथ देखी और कई दिनों तक वह अपने आँसुओं को रोकने में नाकाम रहा। फिल्मों के दुखान्त दृश्य उसे बहुत मथते और वह अन्दर ही अन्दर फट फड़ता। संघर्ष के उन दिनों में वह अधिक से अधिक अकेला और एकान्त में ही रहता और उम्मीद का दामन थामे अपने बेहद निकट होता जाता। दुख था, दुख के कारण थे, पर सुख का आनेवाला भविष्य देख वह कभी-कभी यूँ ही मुस्करा उठता और फिर आँसू आँखों से छलक पड़ते। इसी बीच उसे सूचना मिली कि दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में एम.ए. में दाखिले के लिए उसका नाम चयनित हो गया है। अब सवाल दाखिले की फीस के प्रबन्ध का था। सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि वह यह बात कहे तो किससे कहे। सदाकत राय से कहने का कोई मतलब न था। पैसे न देकर वे उल्टा सीख देने की कोशिश करते और कहते कि उसे गाँव लौट जाना चाहिए। उसने किसी को कुछ न बताकर मंगोलपुरी का

रास्ता लिया और उदय के चाचा से ब्याज पर पाँच सौ रुपये इन्तजाम करने को कहा। बात वापसी की आयी तो उसने दो-तीन महीने में चुका देने का वादा किया। उदय के चाचा ने देर न की और व्यवस्था कर उसी शाम तक पैसे दे दिये। वह शाम को कर्मपुरा लौटा तो अगले दिन जीवन के एक नये चरण में प्रवेश की खुशी ने उसे उत्साह से भर दिया था।

दूसरे दिन वह सुबह ही अपने कागज़ातों के साथ कॉलेज पहुँचा। बेतरह उमड़ी भीड़ से पार पाकर दोपहर तक उसने एम.ए. में दाखिला ले लिया था।

लौटकर जब उसने अपने दाखिले की खबर सदाकत राय को दी, तो वे कुछ परेशान से हुए। बोले—‘ठीक है, पर निभेगा नहीं। कहाँ से खर्च आएगा भाई।’

‘देखेंगे। कोई रास्ता निकलेगा।’

उसने कहा।

‘और अगर नहीं निकला तो ?’

‘तब कोई जान देने तो हम आए नहीं हैं। लौट जाएँगे, और क्या।’

उसने कहते हुए सदाकत राय के मद्धिम पड़े चेहरे को देखा, वे कुछ चमक उठे थे। उसे लगा, अगर मेरी तकलीफ और सम्भावित गाँव वापसी से इन्हें खुशी मिलती है तो खुश होने देना चाहिए। उसे तो पता ही था—अपने यहाँ के लोग अपने दुख से उतने दुखी नहीं होते जितना दूसरे के सुख से दुख होता है। धीरे-धीरे उनके घर में सबको दाखिले की खबर मिल गयी। तीर्थप्रसाद को खबर मिली, तो वे अचकचाये, पर खुद को सँभालते हुए बोले—

‘ई तो बड़ा अच्छा हुआ। पढ़ जाओगे तो भविस्य सुधर जाएगा। लेकिन भाई खर्चा-वर्चा आएगा कहाँ से ?’

उसने उनके असमंजस को भाँपते हुए जवाब दिया—

‘जो होगा, होगा। कल की चिन्ता करके तकलीफ उठाने की क्या जरूरत। देखेंगे और नहीं बात बन पायी तो गाँव तो लौटने को है न !’

‘हाँ, ई ठीक है। ईहे ठीक रहेगा। काम-वाम देखो, बात न बनी तो घर तो है न जी अपना।’

एम.ए. में दाखिले के बाद वह मुश्किल से तीन-चार दिन ही कक्षा के लिए गया होगा कि एक दिन सदाकत राय की पत्नी सविता ने सुबह-सुबह ही उसका मन खट्टा कर दिया। सदाकत राय ने बात को ढकने की कोशिश की, पर मामला बिगड़ चुका था। हुआ यह था कि सुबह चाय देते वक्त सदाकत राय की पत्नी सविता ने व्यंग्य करते कह दिया था—

‘प्रभाकर बाबू त अब इनरसीटी में पढ़ेन हैं, पर ना तो जेबन में पईसा है न रहेन का ठेकाना। अईसे कोई पढ़त है भला।’

इस पर वह तुनक गया और चाय को किनारे रखकर सदाकत राय से बोला—‘अब तो बहुत हुआ। रोज-रोज के तानों से मन भारी हो गया है। भाभी को लगता ही नहीं है कि मैं कोई भिखारी नहीं हूँ और चार दिन रह जाने से कोई आफत नहीं आ गयी है यहाँ। कोई बात नहीं, हम आज ही चले जाएँगे। चैन से रहिये आप लोग।’ प्रभाकर की बात सुनकर सदाकत राय को जैसे करण्ट लग गया। वे बात को सँभालते हुए बोले—‘बात ऊ नहीं है जो समझ रहे हो प्रभाकर। बात ई है कि ई कितना बड़ा बात है कि एतना दिक्कत से पढ़ रहे हो। यह कहना चाहा सविता ने। पर लहजा उल्टा बोल गयी, कहना कुछ चाहा, निकल गया कुछ। बुरा नहीं मानते प्रभाकर तुम तो घर के आदमी हो।’

‘कोई बात नहीं, यह सब तो चलता ही रहता है। जीवन है तो दिक्कतें हैं। कोई भागना भी चाहे तो कहाँ भागे भला।’

वह उत्तेजना में बोलता हुआ अपना सामान समेट रहा था। उसने तय कर लिया था कि आज ही यहाँ से निकल जाना है, पर जाना कहाँ है, यह तय न था। वह जब चलने को हुआ तो सविता ने झूठी माया

दिखाने की कोशिश की थी, पर उसका असर प्रभाकर पर न होना था न हुआ। वह प्रणाम-पाती कर अपना सामान लेकर सिर झुकाए वहाँ से निकल पड़ा और वितृष्णा के मारे पीछे मुड़कर भी न देख सका।

वह सामान के साथ बस स्टॉप पर आया। अब तक तय न था कि वह जाएगा कहाँ? कैसे उसका बसर होगा। उसके सामने विकल्प था ही नहीं। खड़े-खड़े सोचते रहने के बाद अचानक उसे राजस्थान के उदयपुर के रहने वाले सन्दीप की याद हो आयी जो तिलक नगर में रहता था। वह उसका सहपाठी था और दाखिला लेने के दिन ही उससे भेंट हुई थी। कह रहा था—‘किराये का बड़ा मकान है, ठाट से रहते हैं और एक ट्यूशन सेण्टर चलाते हैं जिससे मजे में जीवन चल जाता है।’ क्यों न सन्दीप के यहाँ चलकर देखें, शायद वह कहीं रहने की व्यवस्था करा दे और किसी काम का जुगाड़ भी। वह अब तिलक नगर जाने वाली बस में बैठा और चल पड़ा। तिलक नगर पहुँचकर उसने बड़े गुरुद्वारे का पता किया जिसके पास ही सन्दीप का मकान था। अनजान इलाके में उसे गुरुद्वारे तक पहुँचने में बड़ी दिक्कत हुई, बहुत मशक्कत के बाद अन्ततः उसे सफलता मिली। वहाँ पहुँचने पर सन्दीप का घर खोजने में अधिक समय न लगा क्योंकि वह ट्यूशन पढ़ाता था और आसपास के लोग उसे जानते थे।

सन्दीप ने उसे देखकर खुशी ज़ाहिर की हो, यह उसे याद नहीं। पर औपचारिकतावश उसने अनमने भाव से उससे हाथ मिलाया और उसके सामान को बारामदे के कोने में लगभग धकेलते हुए कहा—

‘भई प्रभाकर, अचानक तुम यहाँ? तुम तो कर्मपुरा में रहते थे ना, क्या हुआ?’

‘रहता तो था, पर उन लोगों का व्यवहार बड़ा अभद्र है। वैसे वे लोग भी तंगी में ही हैं। जगह इतनी नहीं वहाँ कि रहकर पढ़ा जा सके। दूसरी बात आर्थिक तंगी की भी है। उन लोगों की हालत अच्छी

नहीं है। हम भी तो निरे खाली ही हैं, उनकी क्या मदद करते।'

प्रभाकर की उखड़ी बातों से सन्दीप को कोई आश्चर्य न हुआ। वह कोई गीत गुनगुनाता रहा और शीशे के सामने खड़े होकर अपने बालों को सहलाता रहा। थोड़ी देर बाद वह बोला—‘दिक्कत तो है ही भाई, अनजान शहर में कोई पहचान ले, यही बहुत है। अब मुझे ही देखो न, हमारी महज एक दिन की ही भेंट है—हम भी कितना जानते हैं एक-दूसरे को। तुम तो जानते ही हो, यहाँ ट्यूशन करके अपना खर्च निकालते हैं—फिर भी दो-चार दिन रहने में कोई हर्ज नहीं है। भई, जब घर से पैसे आने की उम्मीद नहीं तो काम करके ही गुजारा करना होगा, कुछ खोजते हैं—अभी आराम करो भाई।’

प्रभाकर ने अपना सामान रखा और कपड़े बदलकर सन्दीप के साथ नाश्ता किया। दोनों के बीच अभी सामान्य परिचय से अधिक कुछ था भी नहीं जो भरोसे का कारण बने। सन्दीप ने अपना बन्दोबस्त जमा लिया था, कोई समस्या उसे न थी। पर प्रभाकर को लेकर उसमें सद्भाव से अधिक सहानुभूति ही थी, जिसे वह बात-बात में प्रकट कर उसे त्रास दे रहा था। प्रभाकर के पास कोई चारा न था, वह करता भी तो क्या। अब कहीं कोई जगह बची ही न थी जहाँ वह जाए और अपनी मुसीबत से छुटकारा पाये। रास्ता सिर्फ यही था कि वह गाँव लौट जाए और अपने को किस्मत के सहारे पर छोड़ दे। पर यह इतना आसान तो न था। तब और भी जब उसकी आगे पढ़ने की साध पूरी होने को है और आगे पढ़ने की राह बन गयी है। वह चुप रहा, सन्दीप को सुनता रहा। उसकी जबान बहुत चल रही थी जैसे तेज कैंची की धार हो। एक ट्यूशन सेण्टर क्या खोल लिया मानों कोई रियासत ही पा गया हो। ठीक है, देखते हैं। उस दिन तो बक झक ही होती रही और शाम आ धमकी। रात भी हुई, नींद भले न आयी, सुबह आ गयी थी।

यही सिलसिला आगे के दो-तीन दिन और चला। सन्दीप कभी सहानुभूति दिखाता तो कभी संवेदना की आड़ में ताने देता। प्रभाकर का मन बिगड़ा तो उसने सन्दीप को धीरे से समझाया—

‘भई सन्दीप, सहपाठी हो, सहज मित्रता का वास्ता तुमसे मिला था इसलिए आए हम। पर यह तो हर्गिज न समझो कि हम तुम पर बोझ की तरह लदे हैं और तुम्हारे भरोसे ही दिल्ली चले आए हैं। जिस तरह तुम अपनी बदौलत ठिकाना बना पाये हो, वैसा हम भी बना सकते हैं, समय की बात है। हम आज ही चले जाएँगे भाई, परेशान न हो।’ प्रभाकर की सहजता से कही हुई बातों से सन्दीप का चेहरा उतर गया था। वह बात को सँभालते हुए बोला—‘भई प्रभाकर, नाराज न हो। हमने अपमानित करने के लिए कुछ नहीं कहा था, सिर्फ सच कहा था कि रास्ता बहुत कठिन है—तब तो और भी, जब अपनी बदौलत ही लड़ाई लड़नी है।’

‘यह तो हमें मालूम है। यह कोई नयी बात तो नहीं, जो तुम कह रहे हो। हम तो जब गाँव छोड़कर निकले थे तब ही जानकर चले थे कि लड़ाई कठिन है। लेकिन उसकी बार-बार याद और उसके बहाने समस्या को बड़ी बनाकर रखने से व्यक्ति कमज़ोर होता है, यह तो सोचना ही चाहिए।’

उस दिन दोनों में अनमनापन रहा। प्रभाकर का जाना सन्दीप के आग्रह के कारण रुक गया था। वह दो-एक दिन का इन्तजार करके इस सहपाठी की सहदयता को देख लेना चाहता था। दोपहर का वक्त था, झपकी सी आ रही थी, वह लेटा तो शाम हो गयी। सन्दीप ने उसे जगाया नहीं और वह ऐसे सोया जैसे वर्षों की थकान ने उसे चूर कर दिया हो।

शाम को नींद खुली। बालकनी में सन्दीप के साथ एक लड़की की हँसी की गूँज उसके कानों तक आयी। होगी कोई, उसका क्या करना उसे। वह धीरे से उठा। अपना चेहरा धोकर आज का अँखबार पलटने लगा था तब तक सन्दीप उस लड़की के साथ सामने आ गया। वह थोड़ा सकपकाया जिसे प्रभाकर ने ताड़ लिया था।

‘भई प्रभाकर, इससे मिलो, ये हैं नीरू, मेरी छोटी बहन।’ ऋषि के कहे पर वह लड़की सकुचाती हुई बोली—

सन्दीप भैया, बहुत अच्छे हैं। हमको ट्यूशन पढ़ाते हैं।'

'और ये नीरू, मेरे दोस्त हैं प्रभाकर तिवारी। बिहार से हैं और अभी हमारे साथ एम.ए. में एडमिशन लिए हैं।'

'जी, जी, सन्दीप ठीक कह रहे हैं—प्रभाकर हूँ, इनका दोस्त।' आँखें झुकाते वह बोला था। फिर वह अखबार पढ़ने में लग गया। पर मन में कुछ पक रहा था—सन्दीप, नीरू। उफ्फ, ठीक तो है। इससे उसको क्या मतलब है। ट्यूशन पढ़ती होगी। और वह भैया ही कहे तो क्या दिक्कत है। बहन सरीखी ही तो है, बेशक पन्द्रह वर्ष से अधिक की न होगी—वही नवीं-दसवीं की छात्रा होगी। पर कितनी घुली-मिली है सन्दीप से। लगता नहीं कि वे दोस्त नहीं हैं। हँसते हैं, बोलते हैं—सामने होते हैं तो दोनों के चेहरे लाल हो जाया करते हैं। बात-बात में उनके हाथ एक-दूसरे के कन्धे छूने लगते हैं। लगता है जैसे जब दोनों साथ हों तो पूरा आसमान उनका अपना हो। अचानक वह अचकचाकर अपनी सोच से बाहर आया। बहन-भाई में ऐसा व्यवहार तो नहीं होता। दोस्त वे हैं नहीं, हो सकता है वही हों—हमें बताने से परहेज बरता गया हो। चलो मान भी लो, वे भाई-बहन जैसे ही मानते होंगे। मान लेने में उसे क्या हर्ज है, उसे क्या लेना-देना।

वह अभी सोच ही रहा था कि नीरू किसी बात पर जोर से हँसी, बोली—‘तुम भी ना।’ प्रभाकर का माथा ठनका—‘तुम भी ना।’ प्रभाकर को अनुमान करने में देर न लगी—सन्दीप पक्का शहरी है, तेज और होशियार। यह उसका अपना ढंग है, अपना मूल्य और समझ है। फिर तो उसके ट्यूशन सेन्टर में कई लड़कियाँ होंगी—क्या वे सभी उसकी इसी तरह की बहनें होंगी? उफ्फ! वह तो सचमुच का भुच्च देहाती ही रह गया है, होंगी तो उसका वह क्या करे। क्या करना चाहिए उसे! अब उसकी समझ में आया कि सन्दीप उपालम्भ देकर क्यों उसे हतोत्साहित कर रहा है। इसका एकमात्र कारण उसे यहाँ से उचाट कर देना है ताकि उसके जीवन की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न पड़े। व्यक्ति मन की चाह ऐसी ही होती है जो बहुधा मनुष्य को

स्वार्थी बनाकर उसके कोरे मन में मैल बिठा देती है और वह क्षणिक सुख के लिए अपने कर्तव्य भी भूल जाया करता है। उस रात देर तक सन्दीप ने इधर-उधर की बातों में उलझाकर उसे बहुत थकाया, पर वह तय कर चुका था कि उसे क्या करना है। सुबह उठा तो सन्दीप के साथ चाय पीते हुए बोला—‘आज सोचते हैं चले जाएँ।’

‘ऐसे भी कहाँ जाओगे यार। एक दिन का समय दो। माना कि हमारे साथ रहना मुश्किल है। देख ही रहे हो, छोटी जगह है—ट्यूशन के बच्चे आते-जाते हैं, उन्हें पढ़ाना, पढ़ना और ध्यान आदि करने में एकान्त की जरूरत होती है। फिर भी अभी ठहरो। आज-कल तक कोई प्रयत्न करके कोई व्यवस्था बनाते हैं। कोई अंशकालिक काम मिल जाए तो इतने पैसे शायद मिल सकते हैं कि एक छोटा-सा कमरा लेकर रह सको और अपना खर्च निकाल सको।’

प्रभाकर ने बुझे मन से हामी भरी—‘देख लो, हो जाए तो अच्छा है।’

आगे के एक-दो दिन इसी तरह गुजेरे। एक दिन, शायद वह दूसरा दिन था, सन्दीप ने सुबह-सुबह ही उसे सोते से जगाया और चाय पीने को कहा। प्रभाकर बालकनी में उसके साथ अलसाई देह में कुछ असहज सा हो रहा था। सन्दीप ने बात शुरू की—

‘यार एक बात सोचने में आयी है, कहो तो कहूँ।’

‘कहो तो, क्या बात है?’ प्रभाकर ने किंचित विस्मय से कहा।

‘सोच रहा था कि मेरे घर के थोड़ा सा आगे मुख्य सड़क पर एक प्रोपर्टी डीलर का दफ्तर है’, नाम है उसका—‘सुहाग प्रोपर्टी।’ उसे मालिक जसप्रीत लूथरा से मेरी पहचान है, कहो तो बात चलायें।’

‘क्या चलाओगे? प्रोपर्टी डीलर के पास मेरे लिए क्या काम हो सकता है?’ प्रभाकर ने कहा।

‘यार तुम समझते नहीं। बहुत से काम होते हैं डीलरों के पास भी। उसके दो-तीन मकान भी हैं जो खाली पड़े हैं। कुछ करने लगोगे तो किराये की झंझट भी खत्म हो जाएगी और तुम वहीं रहने भी लगोगे।’

प्रभाकर ने चुप्पी साथ ली। जब देर तक वह चुप रहा तो सन्दीप ने उसे टोका—‘बोलते भी नहीं तुम तो यार !’

‘क्या बोलूँ ? तुम खुद समझदार हो, देख लो अगर बात बन जाती हो और अगर काम करने लायक निकल आए तो !’

‘ठीक है, देखते हैं बात करके ।’ सन्दीप ने कहा और अपने काम में व्यस्त हो गया।

प्रभाकर की समझ जवाब दे रही थी और वह अनुमान नहीं कर पा रहा था कि एक प्रोपर्टी डीलर के पास उसके लायक कौन सा काम हो सकता है। उसे सन्दीप की अक्ल का पता था, हो सकता है, उसने बात कर भी ली हो और उसे थाहने के लिए पूछ रहा हो। जो हो, देखते हैं कि क्या होता है। वह इस तरफ से विमुख हो अपने दूसरे कामों में उलझा रहा और इन्तजार करता रहा कि देखें सन्दीप क्या करता है। उसी शाम को सन्दीप ने उससे जो कहा, वह इस बात की पुष्टि करता सा लगा कि उसने बात पहले ही कर ली थी। उसने कहा कि ‘सुहाग प्रोपर्टी के मालिक जसप्रीत लूथरा से उसकी बात हो गयी है और सन्तोषजनक रही है। तुम सोमवार से शुक्रवार तक 4 बजे से 9 बजे रात तक उसें दफ्तर में रहोगे। शनिवार को पूरा दिन। इसके एवज में लूथरा तुम्हें अपने एक मकान में एक कमरा देंगे जहाँ तुम रहोगे। इसके साथ-साथ तुम्हें पाँच सौ रुपये भी वे देंगे। एकाध महीने में यह रकम दुगनी भी हो सकती है जो तुम्हारे कामकाज के ढंग पर निर्भर करता है।’

‘अच्छा, पर काम ?’ प्रभाकर ने बीच में ही टोका।

‘बता रहा हूँ यार, अधीर न हो। देखो, यह बता दिया है कि तुम एम.ए. कर रहे छात्र हो। रोजना 4 तक यहाँ आ सकते हो। शनिवार को पूरा दिन। रविवार की छुट्टी। काम कोई खास नहीं। प्रोपर्टी डीलर का दफ्तर है। लोग आते-जाते रहते हैं, उन्हें बिठाना। कोई फोन आए तो देख लेना। बस यही तो काम है।’

सन्दीप एक साँस में बोल गया था। उसकी बातें सुनकर प्रभाकर

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ , प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों

और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं,

तो हमारे विशेष ➡️  टेलीग्राम चैनल से जुड़ें

और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

 हमारे चैनल में आपको मिलेगा:

 अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)

 प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)

 धार्मिक ग्रंथ और किताबें

 विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य

 बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)

 और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खजाने

 कृपया "Join Now" बटन या लिंक पर Click करें!

HINDI BOOKS CHANNEL

[Join Now](#)  (धार्मिक, आजादी, इतिहास...से सबधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नई, पुरानी किताबों के लिए)

Join Now 

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

Join Now 

https://t.me/Google_Ebooks

Join Now 

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

Join Now 

<https://t.me/Hindilibrary>

को थोड़ी आश्वस्ति तो हुई पर मन के एक कोने में अविश्वास सा कोई भाव भी उभर रहा था। आश्वस्ति यह कि सन्दीप उसकी तकलीफ को समझकर एक प्रयत्न कर रहा है कि उसकी चिन्ताएँ दूर हो जाएँ और अविश्वास यह कि क्या वह सन्दीप का कहा काम कर पायेगा? क्या उस प्रोपर्टी डीलर के दफ्तर या कहें दुकान में, इतना ही काम होता होगा? वह तो देहात से उठकर चला आया है, जानता भी क्या है कि शहर में क्या-क्या होता है। उसने मन को तसल्ली दी—देखते हैं, जो होगा करेंगे अगर कर सकने लायक हुआ। इस तसल्ली के साथ उसे राहत सी मिली, लगा शायद एक जगह बन सके जो भविष्य की चिन्ताओं से उसे बचा सके।

दूसरे दिन की सुबह प्रभाकर को साथ लेकर सन्दीप सुहाग प्रोपर्टी के मालिक जसप्रीत लूथरा के पास गया। लूथरा से सन्दीप की बातचीत हो ही गयी थी, यह मिलना एक औपचारिकता ही थी। तय यही हुआ कि प्रभाकर चार बजे आकर दफ्तर में बैठेगा, आए फोन कॉल्स का जवाब देगा और आगन्तुकों को बिठाएंगा। उसके काम का समय 4 बजे से 9 बजे रात तक का होगा। शनिवार को उसे 10 बजे सुबह से 9 बजे रात तक काम करना होगा। रविवार की छुट्टी। इस एवज में 500 रुपये पगार के साथ एक बन्द पड़े मकान की एक कोठरी भी मिलेगी जिसमें वह रहेगा और उसके किसी कोने में चाहे तो स्टोव जलाकर खाना पका सकेगा। बर्तन और कपड़े धोने के लिए बाहर के सार्वजनिक नल का ही इस्तेमाल करना होगा। इसके साथ-साथ यह भी कि मकान के बन्द पड़े कमरों की निगरानी भी काम में शामिल था यानी चौकीदारी का जिम्मा भी था, तर्क था—जहाँ रहो उसकी देखभाल तो करनी ही पड़ती है। प्रभाकर ने स्थिति की जटिलता को भाँपने के बावजूद इस काम से इनकार नहीं किया। वह बुरी तरह उलझा था, चारा कोई था नहीं। सन्दीप उसके निर्णय से खुश हुआ और उसी शाम को प्रभाकर अपने सामान के साथ उस सीलन भरी कोठरी में अपना ठिकाना बनाया। पानी से धोकर, पोंछा मारकर

उसने कोठरी की फर्श पर एक चटाई डाली और बाहर के ढाबे से पाँच रुपये में आयी तन्दूरी रोटी और सब्जी खाकर सोने की कोशिश की। छत पर टँगा बरसों पुराना पंखा चर्च-चर्च करता हुआ चल रहा था जिसमें कभी-कभी खटाक्-खटाक् की आवाज़ भी आती। अपनों से दूर, एक अनजान जगह पर यह उसकी पहली ही रात थी जहाँ वह एकदम अकेला था। बाहर की मुख्य सड़क पर आती-जाती गाड़ियों के शोर, पंखे की चर्च-चर्च और उमस से भरी गर्मी में बेहद परेशान प्रभाकर सोये भी तो कैसे! कल उसे कुछ किताबें भी खरीदनी थीं। कल से ही प्रोपर्टी डीलर के दफ्तर में काम शुरू करना था। जेब में पैसे नहीं, कोई हाल-खबर लेने वाला भी तो नहीं। मित्रता का सतर्क निर्वाह कर सन्दीप ने भी अपना पल्ला झाड़ लिया था। गाँव में माँ-बाप, भाई-बहन, पत्नी और बच्चे—सबकी एक उम्मीद वह इस तरह तन्हा कि खुद से बेगाना हो चला था। वह कोशिश में था कि आँख लगे, पर नींद जैसे कोसों दूर थी। उसे भय भी लग रहा था। भय और तकलीफ के दोहरे दबाव से उसकी आँखें झरने लगीं। वह जितना भी सँभालता असहज होता जाता। आँसू थम नहीं रहे थे, दुख साथ छोड़ने को तैयार न था और अन्दर से उठ रहे तूफान में ढूबता जाता वह बैठा रहा। नींद को न आनी थी न आयी और वह बैठे-बैठे ही रात से सुबह में दाखिल हो गया।

कक्षा की जल्दी थी इसलिए जैसे-तैसे तैयार हो वह 518 नम्बर की बस लेकर धौलाकुआँ पहुँचा जहाँ से थोड़ी दूरी पर दक्षिण परिसर पड़ता है। आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज और वेंकटेश्वर कॉलेज के बीच झाड़ियों से होकर जानेवाली पथरीली सड़क तब बहुत असुरक्षित थीं। सावधानी से न चलने पर कभी काँटों का चुभना या पत्थर से ठेस लगना आम बात थी। प्रभाकर तब कुर्ता-पाजामा पहनता था और पाँवों में चप्पल ही होती। उस दिन उसका ध्यान भंग हुआ तो

एक पत्थर से उसका अँगूठा टकराकर लहूलुहान हो गया। चूँकि यह अँगूठा उसके दाहिने पैर का था इसलिए चलने में भी दिक्कत होने लगी थी। उससे बह रहा खून थम ही नहीं रहा था। उसने अपने रुमाल से उसे बाँधा ताकि खून का आना रुक जाए। थोड़ी देर ठहरने के बाद वह चलने को हुआ ताकि परिसर के हेल्थ सेण्टर में दिखाकर वह कक्षा में जा सके, ठीक इसी समय उसे कुमुद हाँफती-दौड़ती मिल गयी। उसे भी कक्षा में जाने की जल्दी थी। अँगूठे पर बँधे रुमाल को देख वह सकपकाई, ‘अरे क्या हुआ प्रभाकर जी?’

‘कुछ नहीं, बस जरा सी ठेस लग गयी। ठीक है अब।’

‘अरे नहीं, जल्दी चलिए। हेल्थ सेण्टर से दवा ले लीजिए। खून काफी गिरा होगा। ओह, देखिए आपका रुमाल तो एकदम लाल हो गया है, हे राम।’

थोड़ी तकलीफ उठाते, लँगड़ाते हुए प्रभाकर कुमुद के साथ-साथ चलने लगा। कुमुद को उसने एक ही दिन पहले कक्षा में देखा था—सीधी, सहज और चिन्तित सी रहनेवाली लड़की। पूछ बैठी—‘कहाँ रहते हैं आप?’

‘अभी कोई स्थायी ठिकाना नहीं।’

‘मतलब?’

‘कोई स्थायी जगह नहीं। जहाँ उम्मीद दिखती है वहाँ रुक जाते हैं।’

‘वाह, आप भी क्या बात करते हैं?’

‘ऐसा ही है, बिल्कुल ऐसा ही।’

‘छोड़िये, मजाक न करिये। खैर... बाद में पूछ लेंगे। अभी हेल्थ सेण्टर चलिए। कक्षा भी चल रही होगी, देर हो गयी है, त्रिपाठी जी पढ़ा रहे होंगे।’

प्रभाकर चुपचाप चलता हुआ हेल्थ सेण्टर आया था। अँगूठे में हल्का-हल्का दर्द था और पैरों में झिनझिनाहट सी हो रही थी। कम्पाडण्डर ने डिटॉल लगाकर पट्टी की। कुछ गोलियाँ दीं जिन्हें

सुबह-शाम खाना था और टेटनस की सम्भावित आशंका को टालने के लिए एक इंजेक्शन भी दिया था। इसके बाद प्रभाकर कुमुद के साथ कक्षा में गया था जहाँ त्रिपाठी जी मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' पढ़ा रहे थे—

'अँधेरे में कविता' स्वातन्त्र्योत्तर भारत का इस्पाती दस्तावेज है। वह अँधेरे का बड़ा रूपक है, कह सकते हैं कि राष्ट्रीय रूपक है जिसमें उजाले के लिए संघर्ष है। अपने समय की विडम्बनाओं का इतना सजीव अंकन इतनी मार्मिकता के साथ किसी दूसरी कविता में नहीं हुआ है और...' सहसा उनकी नज़र प्रभाकर पर पड़ी। उन्हें मंजूर न था कि कोई विद्यार्थी चलती हुई कक्षा में बिना पूछे प्रवेश करे। प्रभाकर कुमुद के साथ क्लास रूम के पिछले दरवाजे से दाखिल होकर आ बैठा था और बैठने पर कुर्सी की खड़-खड़ की आवाज से त्रिपाठी जी का ध्यान भंग हुआ था। वे बोले—'कौन हो तुम? देर से क्यों आए? आए तो अनुमति क्यों नहीं ली?' एक साथ इतने प्रश्नों की बौछार से प्रभाकर घबरा गया, पर उत्तर तो देना ही था, बोला—'जी, मैं प्रभाकर, प्रभाकर तिवारी। आते समय पैर में चोट लग गयी थी, इसलिए देर हुई। बिना पूछे आया, इसके लिए शर्मिन्दा हूँ।'

'ठीक है, ठीक है। कक्षा के बाद विभाग में मिलो।' 'जी ठीक है,' प्रभाकर ने कहा। गनीमत थी कि उनकी नज़र कुमुद पर नहीं पड़ी, वरना उसकी भी शामत आती और उसके दिये उत्तर से कक्षा में तरह-तरह के प्रवाद उठ पड़ते।

कक्षा समाप्त हुई तो वह विभाग में गया और त्रिपाठी जी से मिला। त्रिपाठी जी यानी वी.एन. त्रिपाठी। जितने संजीदा अध्यापक, उतने ही अच्छे आदमी। छोटे कद के हँसमुख त्रिपाठी जी पूर्वी उत्तर प्रदेश के रहनेवाले थे। बहुत मिलनसार और छात्रों की चिन्ता करने वाले। प्रभाकर को देखते ही सामने की कुर्सी पर बिठाया और पूछा—'क्या नाम बताया था अपना?'

'जी, प्रभाकर तिवारी।'

‘हाँ, ठीक। कहाँ के हो?’

‘जी, बिहार के छपरा का।’

‘अच्छा, अच्छा।’

कुछ क्षण शान्त रहने के बाद वे बोले—

‘पढ़ने आए हो, पिता पैसे भेजते होंगे।’

‘नहीं। हम खुद ही आए हैं पढ़ने। इसमें पिता की रजामन्दी नहीं है। वे किसान हैं, आर्थिक स्थिति पैसे भेजने की नहीं है।’

‘ओह, तब तो बहुत मुश्किल है बेटा। यहाँ रहकर पढ़ना भारी विपत्ति उठाकर जीने की तरह है। कैसे करोगे यह सब। मुश्किल है बहुत।’ कहते हुए वे यकायक गम्भीर हो गये।

‘आप चिन्तित न हों।’

उन्हें नमस्ते कह प्रभाकर जैसे ही लौटने को हुआ तो सामने कुमुद खड़ी दिखी। वह कुछ बोले बिना सीढ़ियाँ उतरने लगा तो साथ-साथ कुमुद भी नीचे उतरने लगी। प्रभाकर को तनिक गुस्सा आया, पर यह जगह अनुकूल न लगा कि वह कुछ कहता। विभाग से बाहर आकर वह कैन्टीन के साथ लगे पेड़ के नीचे बैठ गया। थोड़ी देर में कुमुद भी आयी और बिना कुछ पूछे वहाँ बैठ गयी। थोड़ी देर की चुप्पी के बाद कुमुद बोली—‘आपकी तबीयत ठीक नहीं है इसलिए सोचा कि साथ रहूँ तो दर्द से जरा सी राहत मिल सकेगी। आखिर हम सहपाठी हैं, कोई शत्रु तो नहीं।’

प्रभाकर को गुस्सा तो बहुत आ रहा था, पर वह सँभलकर बोला—‘कुमुद जी, तबीयत इतनी खराब नहीं है कि आपको साथ रहने की तकलीफ उठानी पड़े। अब काफी आराम है, आप अपना काम कर लें। इस चिन्ता के लिए धन्यवाद तो कह ही दूँ आपको।’

‘आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? हम कोई अहसान तो नहीं कर रहे कि हमें धन्यवाद की जरूरत पड़े। हम सहपाठी हैं, हैं कि नहीं?’

कुमुद के कहे पर प्रभाकर धीरे से बोला—‘सहपाठी हैं इसीलिए तो आप साथ हैं वरना किस अधिकार से साथ होतीं।’

‘चलिए माना तो कि सहपाठी हैं। आप भी बड़े अडियल और गुस्सैल हैं। बैठिये’ पानी लाती हूँ, दवा तो ले लीजिये, समय हुआ जाता है।’

वह उठी और यकायक चल दी। प्रभाकर को कुछ कहने का अवसर ही न मिला। वह यूँ ही बैठा रहा। कुछ ही समय में कुमुद एक गिलास पानी लेकर आयी और प्रभाकर को टेबलेट खाने को कहा। प्रभाकर चिढ़ता हुआ बोला—‘आप पीछे क्यों पड़ी हैं कुमुद। अभी पेट खाली है इसमें दवा खाकर दूसरी परेशानी बढ़ा लूँ क्या?’

कुमुद ने इतना सुनते ही अपने थैले से एक बॉक्स निकाला और उसमें से दो परांठे उसकी तरफ बढ़ा दिये। प्रभाकर ने बिना उस पर कोई प्रश्न किये परांठे लेकर खाने लगा। कुमुद भी एक परांठा लेकर खाने लगी। खाने के बाद उसने टेबलेट लिया और कुमुद को कहा—धन्यवाद। उसके धन्यवाद पर कुमुद बिफर पड़ी। अचानक रुअँसी होकर बोली—‘किस बात का धन्यवाद? यह तो मित्रता का कर्तव्य है। इतना भी नहीं जानते क्या?’ कहते-कहते वह रो पड़ी थी। प्रभाकर ने हँसते हुए उसे समझाने की कोशिश की। वह मान भी गयी, पर प्रभाकर मन ही मन बहुत लज्जित हुआ। सच में वह भुच्च देहाती ही है। उसे मित्रता और वह भी किसी लड़की से मित्रता का क्या अनुभव है जो वह दिखा पाये। अब से वह प्रयत्न करेगा कि कुमुद जैसी भली लड़की का दिल न दुखाएगा। पर प्रश्न है कि क्या यह मित्रता ही है? उसके मन में ऐसे न जाने कितने-उटपटांग प्रश्न उठे और चलते बने। उसका स्वभाव ही ऐसा था कि वह किसी भी बात पर जरूरत से ज्यादा सोचता। जिस बात का कोई सिरा न होता, उस पर भी सोच-सोचकर परेशान होने की अपनी आदत से त्रस्त प्रभाकर अचानक उठा तो कुमुद भी खड़ी हो गयी। समय देखा तो दिन के तीन बज चुके थे। अब कोई कक्षा भी न थी। उसे ध्यान आया कि 4 बजे तक सुहाग प्रोपर्टी के दफ्तर में पहुँचकर आज से ही काम शुरू करना है। उसने कुमुद से छुट्टी पाकर लौटने का निर्णय लिया, पर कुमुद भी

घर लौटना चाह रही थी। कुमुद का घर भी तिलक नगर के रास्ते में था, सो तय हुआ कि दोनों साथ ही चलेंगे। कुछ दूर पैदल चलने के बाद 518 नम्बर की बस मिल गयी जो तिलक नगर सीधे जाती थी।

तिलक नगर पहुँचने के बाद वह सीधे सुहाग प्रोपर्टी पहुँचा। उसका मालिक जसप्रीत लूथरा सोफे घर अपनी तोंदियल थुलथुली देह के साथ पसरा हुआ था, देखते ही बोला—‘आओ, आओ, तिवारी जी। समय से ही आए हो, अभी सिर्फ चार-पाँच हुए हैं।’

‘जी’, कहते हुए प्रभाकर सामने की प्लास्टिक की कुर्सी पर बैठ गया। अभी वह बैठकर साँसें स्थिर ही कर रहा था कि लूथरा सोफे से उठा और बोला—‘हम तुम्हारा ही इन्तजार कर रहे थे तिवारी। मुझे किसी काम से विकासपुरी जाना है, आने में देर होगी। तुम कोई खबर हो तो लिखकर रखना। फोन आए तो जवाब देना। कोई आए तो बिठाकर बात करना। हम जल्दी ही लौटेंगे।’ प्रभाकर ‘जी...जी...’ करता रहा। वह सोफे से ऊपर लगी साईं बाबा की फोटो को प्रणाम कर स्कूटर को फटफटाता चला गया। उस पहले दिन कुछ खास करने को न हुआ। दो-चार नये मकानों की कीमत सम्बन्धी कुछ फोन आए और कुछ लोग लूथरा से मिलने आए जिसे उसने मेज पर रखे रजिस्टर में दर्ज कर लिया। काफी देर तक अकेले बैठे रहकर ऊबन तो हो रही थी, पर वह करता क्या। यह उसकी जिम्मेवारी थी जिसका निर्वह करना था। शाम हुई, रात होने को आयी, पर लूथरा न लौटा। रात के आठ बजे उसने फोन करके प्रभाकर को दफ्तर बन्द करने और दूसरे दिन सुबह काम पर आने की सूचना दी। प्रभाकर ने दफ्तर बन्दकर अपने कमरे की राह ली।

वह सुबह का निकला था। लौटना अब उसी सीलन भरी कोठरी में था जिसमें वह पूरी रात ठीक से सो भी न पाया था। उसने पिछले दिन की तरह सामने के ढाबे से दो रोटी और सब्जी खरीदी। जैसे-तैसे रोटी-सब्जी हलक में डालकर उसने चटाई पर बिस्तर लगाया और सोने की चेष्टा में अपनी आँखें मूँदीं। फिर वही अशान्ति, अकेलापन

और दूर-दूर तक पसरी उदासी। उमस से चिपचिपाता बदन और क्षुब्ध मन। कल की रात की अनिद्रा, दिनभर की थकान और पैर के अँगूठे में हल्के दर्द से पूरी देह बोझिल थी। सुबह जल्दी उठने की जरूरत भी थी, कुछ कपड़े धोने थे और दस बजे ही सुहाग प्रोपर्टी पहुँचना था। शनिवार के बाद ही उसे छुट्टी मिलनी थी। अचानक उसे सन्दीप का ध्यान आया जिससे उसकी भेंट नहीं हो पायी थी। वह रविवार को ही उससे मिलेगा, अगर सम्भव हुआ। बहुत देर तक उथल-पुथल के बाद थकी हुई देह उमस और उलझनों को पस्त कर नींद के आगोश में समा गयी थी।

सुबह के कामों से निवृत्त होकर प्रभाकर जब चाबी का गुच्छा लेकर सुहाग प्रोपर्टी के दफ्तर चला तो उसका मन उचटा हुआ था। अपने पर ही खीझ हो रही थी और कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। देह में दर्द था और अँगूठे की चोट टीस मार रही थी। आसमान से आग बरसते मौसम में बेतरह बेचैन प्रभाकर जब दफ्तर पहुँचा था तो अभी दस ही बज रहे थे। ताला खोलकर जब प्रभाकर अन्दर दाखिल हुआ तो फर्श और मेज पर धूल की मोटी परत जमी थी। उसने कुढ़ते मन से पास रखे झाड़ू से फर्श की धूल बुहारी और कपड़े से मेज को साफ किया। पास के नल से पानी लाकर कन्टेनर भरा और बगल की दुकान से चाय लेकर पीने बैठा ही था कि लूथरा आ धमका। आते ही पूछ पड़ा—‘अरे तिवारी, साईं बाबा की फोटो को अगरबती नहीं दिखाया?’ ‘यह भी काम में शामिल है?’ झाड़ू-बुहारू करके उखड़े प्रभाकर ने झल्लाते हुए कहा।

प्रभाकर के प्रति प्रश्न पर चिढ़ते हुए लूथरा ने कहा—‘यार, दुकान खोलकर भगवान की पूजा तो करते ही हैं यह कोई कहने की बात तो नहीं!’

‘आप आए हैं तो पूजा कर लें। पूजा मालिक को करनी होती है लूथरा जी, कारिन्दे को नहीं।’ सुनकर लूथरा थोड़ा असहज हुआ, पर चुप रहा। प्रभाकर का यह दूसरा दिन था और उसे लग रहा था कि

सन्दीप ने यहाँ फँसा दिया है। अभी वह अपने उधेड़बुन में ही लगा था कि लूथरा ने उसका ध्यान भंग किया और कहा—‘यार तिवारी, गिलास धोकर पानी तो पिला दो।’ अब प्रभाकर को न बर्दाशत होना था न हुआ। उसने गुस्से में जवाब दिया—‘लूथरा जी, हम यहाँ फोन कॉल सुनने और लोगों को बिठाने के लिए रखे गये थे। हमें न तो यह पता था, न हमने सोचने की कोशिश ही की कि झाड़ लगाने, मेज साफ करने से लेकर आपके नौकर का भी काम करना पड़ेगा। अगर यही है तो मुझसे यह काम न होगा। आप किसी दूसरे को देखिये और मुझे आजाद कीजिये।’

लूथरा ने समझाने की कोशिश की, पर प्रभाकर अपने आपे से बाहर था। उसका गुस्सा अकारण न था। वह इतना मजबूर भी क्यों बन जाता कि अपनी ही नज़र से गिर जाए। उसे अब लूथरा पर कम सन्दीप पर गुस्सा आ रहा था जिसने उसे इस हाल में पहुँचा दिया था। उसने चाबी का गुच्छा लूथरा के हवाले किया और मकान की चाबी भी उसके सुपुर्द कर विदा लिया।

बाहर धूल भरी आँधी चल रही थी। सूरज धुँध में कहीं खो चला था। हल्की बूँदें भी पड़ी थीं, पर धरती का सीना ठण्डा न हुआ, वह सुलगता ही रहा। उसने जब अपना सामान समेटकर सन्दीप के घर की ओर जाने का रुख किया तो लगा कि उसकी दिशा बदल गयी है। उसे वहाँ नहीं जाना चाहिए। पर जाना इसलिए भी जरूरी था कि वह लूथरा की हरकतें उसे बता सके और काम छोड़ने की सूचना भी दे सके। जो हो, इस काम का जरिया तो वही था और यह इलाका भी उसी का था। वह जब सन्दीप के घर पहुँचा था तब दिन के बारह बज चुके थे। वह घर के बरामदे में बैठा कुछ पढ़ रहा था।

सात

धुँध भरी दोपहरी और बादलों में जा छुपा सूरज। उमस इतनी कि जान बेजार। पसीने से तरबतर प्रभाकर जब सन्दीप के सामने पड़ा तो सहसा वह उछला—‘यार यह क्या, क्या हुआ? कुछ बताया नहीं। कैसे हुआ यह सब?’ उसने एक साथ कई प्रश्न कर दिये। प्रभाकर चुप्पी साथे बगल की कुर्सी पर बैठा कुछ कहने की स्थिति में नहीं लग रहा था।

कहते हैं, जीवन आपको बार-बार मापता है। मापने का फीता उसका अपना होता है। कई बार आप उस फीते से बाहर होते हैं, कई बार अन्दर। लेकिन वह फीता आपके अन्दर-बाहर की जद को भलीभाँति माप लेता है। फीते में होते हुए तो आप अपनी हैसियत में होते हैं, पर उसके बाहर हुए तो जीवन की हैसियत में होते हैं। आप उसके बाहर जा ही नहीं सकते; क्योंकि वह हमेशा आपके हिसाब में रहता है—आपके हर किये-धरे का हिसाब और कुल हासिल के बही-खाते से जीवन आपका निर्धारण करता है और एक दिन आपके लिए बने फीता सहित हिसाब का बही-खाता जल जाता है और आप स्वयं उस बही-खाते की जली हुई चिन्दियों में बदल जाते हैं। प्रभाकर को जीवन तो अब मापने चला था और इस माप से बार-बार छूटता जाता वह बेतरह टूटता और जुड़-जुड़कर दरक उठता।

‘कोई उत्तर नहीं है इसका। तुमने भरसक मेरी मदद की। लेकिन वह जगह मेरे काम लायक नहीं, यही समझ लो।’ प्रभाकर ने कहा।

‘यार, हुआ क्या, यह तो कहो। सन्दीप झल्लाते हुए बोला।’

‘कुछ नहीं हुआ। हम काम समझ नहीं पाये थे। जब समझ में आया तो लगा कि यह काम मेरे वश का नहीं है।’

‘कुछ अनुचित हुआ?’

‘नहीं तो।’

‘फिर?’

‘कुछ नहीं।’

‘उफ्फ!!’

‘हम सुहाग प्रोपर्टी के सहायक तो हो सकते थे सन्दीप, उसके नौकर तो नहीं कि झाड़ू-बुहारू करें और लूथरा हमारे साथ नौकरों जैसा बर्ताव करे।’

‘अब समझा। चलो चलते हैं, पूछते हैं उससे कि यह तो बात नहीं हुई थी।’ प्रभाकर ने सन्दीप के बनावटी तैश को समझते हुए भी उसे समझाने की चेष्टा की।

‘कोई बात नहीं। तुम क्यों सम्बन्ध खराब करोगे उससे। यहीं रहना है तुमको। इसे विवाद का विषय न बनाओ। हम कोई दूसरा रास्ता देख लेंगे, कुछ निकल ही आएगा। संयम रखो। अपने काम पर ध्यान दो।’

‘हाँ, पर?’ सन्दीप ने लम्बी साँस लेते हुए कहा।

‘बात समझा करो। यही ठीक है। हम शाम को चले जाएँगे। कोई समस्या नहीं है। हम तो मिलते ही रहेंगे—पर तुम पर अपना बोझ लादना ठीक नहीं।’

सन्दीप के चेहरे पर तरह-तरह के भाव आ रहे थे। वह कभी परेशान होता तो कभी गहरी शान्ति महसूस करता। प्रभाकर उसके चेहरे को पढ़कर आश्वस्त हो रहा था कि समय रहते इससे मुक्त हुआ और अवांछित उपकार के ऋण से बाहर आना हो सका।

सुहाग प्रोपर्टी का प्रकरण समाप्त हो चुका था। अब दूसरा ठिकाना देखना था। उस दिन शाम तक प्रभाकर वहीं रहा। सन्दीप ने अपनी

तरफ से कुछ कहने की जरूरत भी नहीं समझी। उसकी अपनी दुनिया थी। ट्यूशन सेण्टर चल रहा था—तीस-पैंतीस की संख्या में छात्र थे, जिन्हें वह पढ़ाता। सभी आठवीं-दसवीं के छात्र थे। सभी पैसेवाले घरों से थे। उसे अच्छे पैसे मिलते थे और वह सभी छात्रों के परिवारों में भी पैठ बना चुका था। सुबह और शाम की ट्यूशन कई बार रात में भी शिफ्ट हो जाती। रात की शिफ्ट में वह लड़कियों को पढ़ाता—भोजन बनता और सबके साथ ही वह खाता। नीरु के साथ कुछ और लड़कियाँ थीं जिन्हें वह बहन कहता, पर उन्हें वह दोस्त मानता, घुमाने ले जाता और उन पर पैसे भी खर्च करता। इससे कभी-कभी नीरु को ऐतराज होता तो वह चिढ़ जाती। सन्दीप उसे समझाता और बहुधा दोपहर को सबसे छुपाकर उसे पढ़ाता, तब वह खुश होती और उसका काम मजे-मजे में चलता रहता। प्रभाकर उसकी इन आदतों से भी सतर्क था और चाहता था कि वह इससे दूर ही रहे तो ठीक है। वह हफ्ते-दस दिन पर कभी कक्षा जाता। कहता भी था, पास हो जाएँ वही बहुत है, नौकरी तो करनी नहीं है। ट्यूशन सेण्टर चलता रहे तो बहुत है। कक्षा में जाने से अच्छा है, नयी सड़क से माया अग्रवाल की किताबें खरीदकर पढ़ लेना और पास हो जाना।

उस दिन फिर नीरु आयी, देखा तो नमस्ते किया। प्रभाकर से नज़र बचाकर सन्दीप ने उसे शाम को आने का संकेत किया, पर वह उस दिन न जाने क्यों अपनी जिद पर अड़ी थी! बोली—‘आज तो मैं नहीं जाती। चलो पढ़ाओ मुझे।’

‘देखो, जिद ठीक नहीं। अभी प्रभाकर जी हैं। इनसे बात हो रही है। शाम को ये चले जाएँगे तो आना। अभी इनके पास न बैठूँ तो यह अव्यावहारिक होगा।’

‘क्या प्रभाकर जी?’

सन्दीप की डॉट पर प्रभाकर की ओर देखती हुई नीरु बोली थी।

इसके बाद प्रभाकर ने सन्दीप को समझाया था। कहा था कि उसके होने से क्या फर्क पड़ता है। हम मिलते रहेंगे, बात होती रहेगी।

तुम नीरू को पढ़ाओ। हम तब तक आराम कर लेते हैं। इसमें बुरा मानने जैसी कोई बात नहीं है। प्रभाकर के सुझाव से उसकी बाँहें खिल गयी थीं और नीरू भी चहकने लगी थी। उसके बाद प्रभाकर सन्दीप के कमरे में चला गया था और सन्दीप ट्यूशन सेप्टर के हॉल में। प्रभाकर आराम करने गया था, पर आराम करने की स्थिति तो थी नहीं। अब अगले ठिकाने की तलाश थी। समझ जवाब दे रही थी और बुद्धि चकरा रही थी। इस बीच सन्दीप और नीरू के हँसी-ठहाके रह-रहकर गूँजते और तकरार-मनुहार की भी आवाजें आतीं। लेकिन इससे प्रभाकर को क्या करना था जो करता।

शाम को जब वह तिलक नगर से निकला तो तय न था कि कहाँ जाना है। लेकिन जब सड़क पर आ गया तो अचानक मन में आया कि उसे हैदरपुर चलना चाहिए। हैदरपुर में उसके गाँव के हरिहर विश्वकर्मा रहते थे। उन्होंने वहीं एक फैक्ट्री खोल रखी थी जिसमें लोहे के छोटे-मोटे घरेलू उपयोग में आने वाली वस्तुएँ बनती थीं। उसमें चार-पाँच मजदूर थे। फैक्ट्री की जगह किराये की थी। हरिहर के परिश्रमी स्वभाव के कारण और ईमानदार साख की बदौलत अच्छी आमदनी होती। चूँकि वे उसके गाँव के थे इसलिए पहचान पुरानी थी और दिल्ली आकर वह उनसे मिला भी था।

हैदरपुर आकर जब वह हरिहर विश्वकर्मा से मिला तो वे खुश हुए। हाल-चाल पूछने के बाद मय सामान देख जिज्ञासुभाव से उन्होंने कहा—‘सामान लिए-दिये कहीं जा रहे हैं पण्डी जी, किधर से आ रहे हैं?’

‘कहीं जा नहीं रहे हैं हरिहर जी, आपके पास आए हैं।’

‘ओह, माफ करियेगा। हम क्या कर सकते हैं, बताइये।’

‘हमें रहने की कोई जगह दिला दें। खर्च भर की ट्यूशन भी मिल जाती तो काम चल जाता।’

‘ठीक है, देखते हैं। अभी आप चाय-वाय पी लें, सोचते हैं कि क्या हो सकता है।’

प्रभाकर ने वहाँ बैठे-बैठे मट्टी खायी और चाय पी। इस बीच हरिहर विश्वकर्मा के पास फैक्ट्री के काम से लगातार लोग आते रहे, वे उनसे बात करते रहे। बीच-बीच में वे अपने दफ्तर से पीछे फैक्ट्री में जाते रहे, मजदूरों को झाड़ पिलाते, समझाते लौटते। फिर कहीं से किसी सामान की शिकायत आती तो अन्दर जाकर वे मजदूरों पर चीखते—उनकी पगार काटने को कहते और चले आते। प्रभाकर दफ्तर के कोने में एक कुर्सी से चिपका यह सब देखकर परेशान होता रहता। कई बार उसकी समझ में नहीं आता कि सहज और विनम्र हरिहर विश्वकर्मा फैक्ट्री के अन्दर जाते ही बदजुबान क्यों हो जाते हैं।

बहरहाल, हरिहर विश्वकर्मा रात को आठ बजे खाली हुए। उसके बाद उन्होंने प्रभाकर को अपने घर चलने को कहा। उन्होंने उसे समझाते हुए कहा था—

‘पण्डी जी, आप खुद बहुत देर से आए हैं। शाम हुई तो आए, ऐसे में कोई बन्दोबस्त तो अभी नहीं हो पायेगा। कल प्रयास करेंगे कि कोई रास्ता निकले। फिलहाल तो आपके रहने की व्यवस्था करनी है, उसके बाद आगे का जो होगा सो होगा। अभी घर चलिये, भोजन कर सोइये। कल का कल देखेंगे।’

प्रभाकर कुछ न बोल सामान लेकर उनके साथ चल पड़ा था। हरिहर विश्वकर्मा उन दिनों पीतमपुरा के एक अपार्टमेण्ट में सपरिवार रहते थे। उनके तीन छोटे बच्चे थे और पत्नी। हरिहर विश्वकर्मा जैसे-तैसे दसवीं की परीक्षा देकर दिल्ली भाग आए थे। उनके पिता सामान्य किसान थे। हरिहर अभी पढ़ना चाह रहे थे, पर पिता की ऐसी इच्छा न थी। उनकी माली हालत अच्छी न थी। यही कारण भी था कि वे चाहते थे, हरिहर कुछ उद्यम करके कमायें-धमायें और उनकी जान छोड़ दें। बचपन की शादी की भेंट चढ़े हरिहर की अक्सर अपने पिता से तकरार होती और कई बार तो हाथापाई की नौबत भी

आ जाती। गाँव के लोग बीच-बचाव न करते तो पता नहीं क्या हो जाता। हरिहर के पिता धरीछन विश्वकर्मा आदमी बुरे न थे, पर मुँह के फूहड़ थे। बात-बात में गाली दे देना और बदजुबानी करना उनकी आदत में शुमार था। घर में जब मेहरी बैठ जाती है तब कौन मर्द होगा जो उसके सामने अकारण गालियाँ सुने और मेहरी की नज़र में तमाशा बन जाए। घटे हुए घर में बीस जरूरतें होतीं जो धरीछन विश्वकर्मा की जेब से बाहर निकल जातीं। उनकी पत्नी सुनयना बवाल टालने का भरसक प्रयत्न करतीं पर बात बिगड़ती तो सँभाले न सँभलती। फिर घर में दो-दो दिन तक चूल्हा ठण्डा रहता। कोई न किसी से बोलता, न कुछ खाता-पीता। इस हालत में तो हरिहर ने पढ़ाई-लिखाई की। जब तीन-चार साल में उनके लगातार दो बेटे हो गये और खर्च बढ़ गया तो जैसे घर की शान्ति को साँप सूँध गया। ऐसी ही दशा में एक दिन टोले भर के लोगों के सामने थूकम-फजीहत होने के बाद हरिहर विश्वकर्मा ने घर छोड़कर दिल्ली की राह ली थी। यहाँ आकर हरिहर ने बड़ी मेहनत की। लोहे पीटने से लेकर सरिया काटने और वेलिंडग करने से लेकर मोलिंडग तक के काम करने, रात-रात भर फुटपाथ पर सोकर पैसे जुटाने की घोर जुगत कर हरिहर ने अन्ततः अपनी फैक्ट्री खोल ली, किराये की जगह लेकर सस्ते मजदूर जुटाये और पुराने अनुभव के बल पर अपना धन्धा चमका लिया। अब बीवी-बच्चे उनके साथ रहते थे। फैक्ट्री की जगह से कुछ दूरी पर एक अपार्टमेण्ट था जिसमें वे गृहस्थी जमाकर रह रहे थे। अभी नयी उमर थी और नया लिया वेस्पा स्कूटर था जिस पर चलते हुए हरिहर एक ही गीत गुन-गुनाया करते—‘जब अपने हों जाएँ बेवफा तो दिल टूटे।’

प्रभाकर जब आपर्टमेण्ट के तीसरे माले पर स्थित उनके घर गया तो हैरान रह गया। चकाचक फर्श पर बिछी दरी, दरवाज़े से सटा फ्रिज और उस पर ओनिडा का पोर्टेबल टीवी हरिहर की शान बढ़ा रहा था। घर में पहुँचते ही हरिहर ने टीवी खोल दिया। डीडी नेशनल पर शोभना जगदीश समाचार पढ़ रही थीं और बता रही थीं कि इस

साल मॉनसून के आने में देर होगी इसलिए अनेक राज्यों में भयावह सूखे की आशंका है। हरिहर ने टीवी को बन्द कर एक भद्री गाली दी और कहा—‘जिनको खेती के सहरे जीना है, वे जानें। अपने तो काम करते और खाते हैं, इसमें क्या सूखा और क्या बाढ़।’

‘अरे सुनो बबिता, पानी लाओ दो गिलास। गाँव से पण्डी जी आए हैं—शर्बत बना दो खस वाली।’

इतने सबके बाद अपना ध्यान प्रभाकर की तरफ करते हरिहर ने कहा—‘अब कहिये पण्डी जी! रात में रहिये, खाइये-पीजिये। कल कोई इन्तजाम करेंगे। चिन्ता की कोई बात नहीं है।’

प्रभाकर कहता भी तो क्या, इतना ही कह पाया कि—‘अब देखिये, अगर कुछ हो पाया। रहने का ठिकाना बन जाए तो कुछ और देखें।’

‘हाँ, होगा। क्यों नहीं होगा। मेहनत से सब होता है जी। ऐसे ही कभी हम भी आए थे। पर पूरी जान लगा दी, देह तोड़कर काम किया। इसके बाद यह सब किया है। अब हाल यह है कि बड़े-बड़े पनाह माँगते हैं। लाखों की जरूरत पड़े तो चुटकी में कर दें। पंजाबियों के बीच अपना काम है, पर मजाल क्या जो कोई दायें-बायें कर दे। आँख निकाल लें हम। बिहारियों का पूरा जत्था अपने पास है—एक मिनिट में इशारा हो तो हजारों की फौज खड़ी कर दें। सब डरते हैं और हम मौज से रहते हैं।’

प्रभाकर हरिहर विश्वकर्मा की शौर्यगाथा सुनने को विवश था। करता भी तो क्या। वह सिर्फ हूँ, हाँ करता रहा था और हरिहर अपनी जय-यात्रा के तरह-तरह के किस्से सुनाकर उसके थके मन को और थका रहे थे। समय हुआ तो भोजन हुआ और बैठकखाने में ही उसके सोने की व्यवस्था हुई। फर्श पर बिछी दरी उसके सोने के काम आयी। दरी पर रखी मेज किनारे कर दी गयी तो सोने भर की जगह निकल आयी। सोने का उपक्रम आज न करना पड़ा, देह थकान से चूर थी। पीठ को जरा सी नरमी मिली तो आँखें जल्दी मूँद गयीं। नींद

के आगोश में आकर प्रभाकर हर झंझट से मुक्त था। पर स्मृति में डूबतीं-उतरातीं वे घटनाएँ कहाँ जातीं जिनसे वह जूझ रहा था! सोया तो सपनों के द्यूले में द्यूलने लगा था।

प्रभाकर को उन दिनों सपने बहुत आते थे। उसे अकेले सोने की आदत न थी, सोता तो डरावने सपने आते। पर जब से वह दिल्ली आया था, अकेले ही रहने-सोने की विवशता आ पड़ी थी। जब वह अकेले होता तो अन्दर न जाने कैसे-कैसे डरावने विचार आते रहते। उसे अक्सर वैसे सपने आते, जो भय पैदा करते। शायद ही कभी उसे वैसे सपने आते जो सुखद होते या जिनमें डूबकर वह अपने अचेतन में भी सुखी हो पाता। अजीब बात थी कि वह जहाँ कहीं भी रहता, उसे अपने गाँव से जुड़े हुए डरावने सपने ही आते। गाँव के दक्षिण के तालाब के छोर पर खड़ा विशाल बरगद का पेड़ सपने में तरह-तरह के रूप बदलता। वह कभी आदमियों की तरह चलने लगता, कभी बादल बनकर बरसने लगता तो कभी आग की तरह दहकता। कभी लगता कि वह उसके पास से गुजर रहा है और तब तक एक बवम्डर उठता है जो उसे आकाश में समेटकर ले जाता है और छोड़ देता है। यह देखते हुए उसकी घिंघी बँध जाती, गला रुद्ध हो जाता और चीखना चाहकर भी वह चीख न पाता।

आज उसने एक ऐसा ही सपना देखा। गाँव के तालाब से काला कलूटा आदमी, जो देखने में बहुत भयानक है—निकलता है। निकलकर अपनी दोनों बाँहें फैलाकर जोर-जोर से चिल्लाता है। उसके बाल खुले हैं और उसके घुटनों तक फैले हैं। उसके बालों से पानी गिर रहा है। अचानक पानी की जगह खून गिरने लगता है। वह धीरे-धीरे बरगद की तरफ बढ़ता है। बरगद के पत्ते एक साथ खड़खड़ा उठते हैं और वह भयानक हँसी हँसते हुए उन पत्तों में लुप्त हो जाता है। प्रभाकर इस सपने को देखकर बुरी तरह डर गया था। अन्दर से काँपता हुआ वह उठा तो धीमी रोशनी में दीवार पर लगी घड़ी पर नज़र गयी—अभी रात के डेढ़ बजे थे। अब वह कैसे सो

पाता और सोकर भी दोबारा सपने से राहत मिलती, यह भी क्या पता था।

उसने बैठकर हनुमान जी का ध्यान किया और 'जय हनुमान ज्ञान गुणसागर' की जाप शुरू कर दी। अपने दोनों हथेलियों को सिर पर ले जाकर मन ही मन गायत्री का भी स्मरण किया और थोड़ी राहत महसूस की। पर अब भय की आशंका से घिरे प्रभाकर को नींद न आनी थी, सो नहीं आयी थी। ऐसी स्थितियों में वह बुरे ख्यालों में चला जाता था। उसे अपने घर की चिन्ता होने लगती। माता-पिता सहित अपनी पत्नी-बच्चे तथा भाई-बहनों की चिन्ता कर वह काँप सा जाता। कुछ अनिष्ट तो नहीं होने वाला। कुछ ऐसा, जो अनहोनी हो या ऐसा कुछ जो उसे गाँव लौटने पर विवश कर दे। नहीं, नहीं। वह अब लौटेगा नहीं। जी भर अपने भवितव्य से लड़ेगा, पराजित होकर पीठ दिखानेवाला वह नहीं है। पर गाँव की तो कोई खबर मिलनी चाहिए। कोई इस बीच उधर से आया-गया भी नहीं कि हाल-खबर का पता चलता। उसने तय किया कि कल एक चिट्ठी लिखकर गाँव भेजेगा और गाँव के कुशलक्षेम की जानकारी लेगा।

शेष रात को तो उसने आँखों में काटा और सुबह होते ही दैनिक कामों से निवृत्त हो, नहा-धो लिया। हरिहर विश्वकर्मा उठकर जब बैठक में आए तो उसे देखकर हैरान होते हुए बोले—

'अरे, पण्डी जी आप तो एकदम चुस्त आदमी निकले। कोई असुविधा तो न हुई रात को सोने में?'

'नहीं, नहीं हरिहर जी, सुबह उठकर जल्दी नहा-धो लेने की पुरानी आदत है। अपने ही घर में था, क्या असुविधा होती।' प्रभाकर ने कल रात के स्वप्न को दबाते हुए कहा था।

'अच्छा, अच्छा कहकर हरिहर ने अपनी पत्नी बबिता को आवाज़ देकर चाय लाने को कहा था।' उधर से बबिता की आवाज़ आयी थी—

'बच्चों को तैयार कर रिहन हैं, सकूल जाना है न, लाएत हैं, तनी

धीरज राखीं।'

'ठीक है, ठीक है, कहते हुए हरिहर विश्वकर्मा की आँखें चमकीं।' थोड़ी देर चुप रहने के बाद हल्की हँसी बिखेरते हुए वे बोले—इसे ही कहते हैं 'बगल में छोरा नगर में ढिंढोरा।'

प्रभाकर ने अपनी नासमझी ज़ाहिर करते हुए कहा—'हरिहर जी, हम तो समझे ही नहीं कि किस बात पर आप यह मुहावरा सुना रहे हैं।'

'वही तो अजरज है पण्डी जी।' बताते हैं।

इतने में हरिहर की पत्नी बबिता सर पर पल्लू डाले दो गिलास चाय लेकर आयीं, मेज पर रखकर बोलीं—

'बिसकुट, पानी भी चाहीं का?' प्रभाकर ने देखा, पल्लू की ओट में कनखी से देखते हुए बबिता ने हरिहर से कहा था।

'हाँ, हाँ, लाओ जी। पण्डी जी नहा—धो चुके हैं। मुँह में पानी डाले बिना चाय पीकर क्या कलेजा जलाएँगे।'

हरिहर के कहे का तुरन्त असर हुआ और बबिता ने एक डली मिश्री के साथ एक गिलास पानी लाकर रख दिया था।

चाय सुड़कते हुए, (पीने की बजाय उसे सुड़कना ही कहना चाहिए क्योंकि जब हरिहर चाय पी रहे होते तो सुड़कने की तेज आवाज़ करते और उसे सुन अजीब सी स्थिति होती। वे चाय को ठण्डा करने के लिए गिलास में जोर-जोर से फूँक मारते और चाय को सुड़कते हुए पीते।) हरिहर ने कहा—'कह यह रहा था कि मेरे तीन बच्चे हैं। एक छठवीं में, दूसरा चौथी में और तीसरा दूसरी में। इन्हें ही पढ़ा दें। खर्चा-पानी का इन्तजाम कर दूँगा, रही बात रहने की, तो आज फैकट्री चलकर कोई रास्ता निकालते हैं।'

प्रभाकर बच्चों की कक्षाएँ सुनकर थोड़ा घबराया, पर करता क्या? जो नसीब में हो, उसे दुःखाना भी तो ठीक न था। एक सन्तोष जैसा महसूस हो आया, अगर यह भी हो गया तो एक आसरा बन सकेगा।

फैक्ट्री पहुँचकर हरिहर ने रमेश को बुलवाया। रमेश हैदरपुर के औद्योगिक इलाके से सटे हैदरपुर गाँव में रहता था और रोज शाम को अण्डे की रेहड़ी लगाता। वह नित्य ही पाँच बजे से 9 बजे रात तक हैदरपुर बस स्टैण्ड पर रेहड़ी लगाता और उबले अण्डे से लेकर आमलेट आदि बनाकर बेचता। उसकी रेहड़ी पर भारी भीड़ उमड़ती। बिहार से आए आसपास रह रहे और काम करते मजदूर उसकी रेहड़ी पर आ धमकते, उबले अण्डे खाते और कभी पैसे देते, तो कभी उधारी कर जाते। पर रमेश का धन्धा चल निकला था और वह खा-पीकर हजार रुपये तक बचा लेता था। बोलने में वह थोड़ा तुतला था, पर बहुत तेज था, मजाल क्या कि कोई हेठी दिखाकर अण्डे ले ले और वह उसे ऐसे ही जाने दे। एक-दो बार स्थानीय जाट लड़कों से उसकी मुठभेड़ हो चुकी थी और उसने उनकी अच्छी धुलाई कर दी थी। आसपास चूँकि बड़ी संख्या में पूर्वांचली मजदूर थे इसलिए रमेश सीना चौड़ा किये रहता और किसी की धौंस में नहीं आता था। वह रेहड़ी पर अपनी शादी में मिले मरफी रेडियो रखता था और विविध भारती पर फिल्मी गीत सुना करता था। बीच-बीच में वह बज रहे गीत को गुनगुनाकर उसकी पैरोडी भी करता था।

बहरहाल, वह आया तो हरिहर ने प्रभाकर से उसका परिचय देते हुए कहा—

‘रमेश बड़ा कर्मठ लड़का है। अपने सीवान के मैरवा का है—रमेश विश्वकर्मा। दूर के रिश्ते में पड़ता है। पिता इसके पुश्तैनी कुम्हारी में लगे हुए हैं, पर पढ़ा-लिखा लड़का कुम्हारी करके क्या करता। ज्यादा नहीं, पर नवीं तक तो पढ़ा ही है—शादी हो गयी तो दिल्ली आ गया। मैंने समझाया, काम तो लोहा पीटने का मिलेगा, हाथ में ठेले पड़ेंगे, मेहरी को छू भर लोगे तो भाग खड़ी होगी। इससे अच्छा है कि अपना धन्धा करो और मौज से रहो। अब यह अण्डे की रेहड़ी लगाता है और पूरे हैदरपुर में ‘रमेश अण्डा’ नाम से जाना जाता है।’ कहते हुए हरिहर जोर से हँसे, प्रभाकर खड़े-खड़े लजा उठा था। बाद

में उन्होंने उसके बारे में रमेश को बताते हुए कहा था—‘भई रमेश, ये पण्डी जी हैं प्रभाकर तिवारी। मेरे गाँव के हैं, बी.ए. करके आए थे, एम.ए. कर रहे हैं। तंगी में हैं। इन्हें रहने का कमरा चाहिए, तुम्हीं लोगों के साथ रह लें तो क्या हर्ज है?’

प्रभाकर को थोड़ी हैरानी हुई। यह तो अण्डेवाला है, और न जाने कितने रहते होंगे और क्या करते होंगे। पर वह चुप रहा, कुछ भी कहना उचित न था वरना यह अवसर हाथ से गया तो आफत ही आएगी। वह अभी सोच ही रहा था कि रमेश बोल पड़ा—‘भैया जी हम चार हैं न। लोकेश, रामाधार और विनायक सहित हम चार। कमरे में जगह कहाँ है कि यह पण्डी जी रहेंगे। और ये पण्डी जी हैं, अण्डा-वण्डा क्या इनको रुचेगा रहने में?’

हरिहर थोड़ा सकपकाये, फिर बोले—

‘बात तो ठीक कह रहा रमेश। आपको दिक्कत तो न होगी?’

प्रभाकर ने केवल इतना ही कहा था—

‘एक बार वह जगह देख लें जहाँ रहना है, उसके बाद कुछ कहना ठीक रहेगा।’

हरिहर ने हामी भरी थी—‘पण्डी जी की बात एकदम ठीक है। शाम को चलते हैं वहाँ। सुनो रमेश, आज थोड़ी देर से ही निकलना, बाकियों को भी आ जाने देते हैं, तब आते हैं, ठीक ना?’

‘हाँ, ठीक है। आकर देख लीजिये, वही अच्छा रहेगा।’

शाम को हरिहर उसे लेकर हैदरपुर गाँव गये जहाँ एक सीध में बने दस कमरों में, एक में रमेश अण्डे वाला अपने तीन अन्य दोस्तों के साथ रहता था। उसमें एक लोकेश शालीमार बाग के एक ड्राइ क्लीनर्स में काम करता था, तो रामाधार आजादपुर मण्डी में सब्जियों और फलों के बोरों से लदे ट्रकों को खाली कराने का काम करता। वह बोरों को उतरवाता, गिनता और मजदूरों के भुगतान कराता। विनायक एक होटल में बेयरा था। हरिहर ने सब से मिलवाया। छुट्टी का दिन होने से सब एक साथ मिल गये थे। उसमें रमेश ही था जो

केवल मंगलवार को छुट्टी करता था; क्योंकि हनुमान जी का दिन होने के कारण लोग अण्डे खाने से डरते थे। वह खुद भी हनुमान जी का सेवक था जो मंगलवार को उनकी पूजा-पाठ कर उपवास रखा करता था। एक कमरा और इतने लोग। अन्दर अबाड़-कबाड़ से भरा कमरा तिल भर भी खाली न था, पता नहीं वे सब कैसे सो पाते थे। उसी में एक किनारे वे स्टोव पर खाना भी बनाते। प्रभाकर को यह रास न आया। वह खिन्ह हो उठा। हरिहर ने भी पाया कि यह जगह तंग है और महौल बेहद खराब है। पर सवाल यह था कि पन्द्रह सौ माहवार के नीचे कोई कमरा मिलता न था। हरिहर होशियार आदमी थे। उन्हें पता था कि अपने बच्चों की ट्यूशन के नाम पर कोई कमरा दिला दें तो उसकी रकम उन्हें खुद भरनी पड़ेगी जो बहुत ज्यादा होगा। सोचते हुए जब वे कमरे से बाहर दरवाजे की ओर लॉबी में आए तो उनकी आँखें चमकीं। एक चारपाई डालने भर की जगह तो थी ही, साथ में स्टोव पर कुछ बना-खा लेने भर की सुविधा भी बन रही थी। वह जगह लगभग खाली ही थी। उन्होंने प्रभाकर को बिना देर किये सुझाया—‘पण्डी जी, यह जगह बुरी नहीं है। यहाँ चारपायी डालिए, एक लकड़ी की रेक दिला देते हैं उसे कोने में लगा दीजिए जिसमें कुछ किताबें आ जाएँगी आपकी। काम चलाइये। अन्दर का कमरा हमेशा भरा नहीं होता। ये सब के सब काम पर होते हैं। केवल रमेश ही दिन में रहता है। पढ़ने-लिखने के काम अन्दर के कमरे में भी कर सकेंगे। सोच लीजिये, बुरा नहीं है।’

प्रभाकर का चेहरा बुझा हुआ था। वह कुछ बोल नहीं पा रहा था। हरिहर ने यह भाँपते हुए फिर कहा—‘पण्डी जी, बात समझिये, अच्छा है। आप भी तो दिन में अधिकतर बाहर ही रहेंगे। गुजर करना है जी, ज्यादा न सोचिये। इस लॉबी में जरा सा चूना हो जाएगा तो अच्छा लगेगा। चलिए जरूरी चीज़ें दिला देते हैं, आज से रहिये—सोचिये मत। सोचा तब जाता है जब रास्ता होता है। इसके अलावा कोई दूसरा इन्तजाम फिलहाल दिखाई नहीं देता।’

प्रभाकर करता भी तो क्या, उसे हामी भरनी ही थी। इस तरह विवश होकर उसने वहाँ रहना मंजूर किया। उसी दिन एक फोलिंडग चारपायी खरीदी गयी, ओढ़ने-बिछाने की चादरें, एक तकिया, एक बाँस की छोटी रैक—प्रभाकर की गृहस्ती थी इस प्रकार इस नयी जगह में आ जमी।

दूसरे ही दिन हरिहर विश्वकर्मा के बच्चे आ धमके जिन्हें पढ़ाने की लाचारी से वह बच नहीं सकता था। जिस दिन सुबह की कक्षा होती, उस दिन बच्चे शाम को आते, नहीं तो दोपहर को आकर उसको थकाते। सुबह-सुबह जिस दिन कक्षा होती, वह पैदल तीन किलोमीटर की दूरी नापता और मुख्य सड़क पर आकर बस पकड़ता। दो या कभी-कभी तीन बसें बदलनी होतीं, तब वह दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर पहुँचता। शनिवार-इतवार की घोषित छुट्टियों के अलावा मंगलवार को भी उसकी कक्षाएँ परिसर में नहीं लगती थीं, इसलिए वह इसे छुट्टी में ही गिनता और आने-जाने से राहत मिलती। इस बीच उसके साथ एक ऐसी दुर्घटना घट गयी कि उससे वह कई हफ्ते परेशान रहा। हरिहर विश्वकर्मा के सुझाव पर उसने कमरे के बाहर की लॉबी में, जिसमें वह रह रहा था, चूना लगाकर सफेदी करने को सोचा। दिनभर के थकाऊ काम के बाद लॉबी तो साफ-सुथरी हो गयी, पर उसके दायें हाथ की उँगलियाँ बुरी तरह जख्मी हो गयीं। दायें हाथ की तीन उँगलियों में जख्म इतना गहरा हो गया था कि उनसे खून रिसने लगा था। दवा ली, पर कोई असर न हुआ। इस नयी आफत से वह बहुत परेशान हुआ। इस हाथ से लिखना-पढ़ना तो दूर कुछ भी न हो और दर्द हो सो अलग। एक दिन किसी के सुझाव पर उसने राममनोहर लोहिया अस्पताल जाकर ओ.पी.डी. की पर्ची बनवायी। अपनी बारी के इन्तजार में दो घण्टे तक बैठा रहा प्रभाकर जब डॉक्टर के पास गया और दाहिने हाथ की जख्मी उँगलियों को दिखाया, तो डॉक्टर क्रोधित हो कर बोला—

‘क्या करते हो सफेदी का काम? क्या इतना भी नहीं मालूम कि

चूना करते समय हाथ में सरसों का तेल लगा लेते हैं ? तेल लगाये होते तो यह हाल न होता ।'

अब प्रभाकर कहता भी क्या, उसने धीरे से विश्वविद्यालय से मिला अपना परिचय पत्र मेज पर रख नज़र नीचे गड़ा दी । डॉक्टर ने परिचय पत्र देखकर कहा—‘भई माफ करिये, हमने आपको मजदूर ही समझ लिया था । हाथ तो आपका चूना करने से ही कटा है । कोई दूसरा काम नहीं मिला जो आप यह काम करते हो ।’

प्रभाकर ने डॉक्टर को सारी व्यथा सुनाई, कहा कि यह उसका पेशा नहीं, मजबूरी में अपनी लॉबी की सफेदी करने से यह हादसा हो गया है । डॉक्टर ने ठीक होने का भरोसा देकर पर्ची पर दवाइयाँ लिखीं, उस पर मुहर लगाया ताकि वे सभी दवाएँ अस्पताल से ही मिल सकें । प्रभाकर दुखी मन बाहर निकलकर काउण्टर से दवाएँ लेकर लौट आया था ।

उन दिनों दिल्ली के प्रायः सभी अस्पतालों में साफ-सुधरी व्यवस्था थी और दवाएँ भी मिला करती थीं । केन्द्र सरकार के प्रायः सभी अस्पतालों में मन्त्री का दौरा अक्सर हुआ करता था इसलिए कोई लापरवाही नहीं होती थी । उस समय के प्रधानमन्त्री राजीव गांधी की दृष्टि में स्वास्थ्य सेवाएँ प्राथमिकता में थीं और वे स्वयं हर महीने स्वास्थ्य मन्त्री से अस्पतालों की रिपोर्ट लिया करते थे । इन्हीं दिनों की एक घटना है, जो बहुत दिनों तक चर्चा में रही थी—साऊथ एवेन्यू से गुजरते हुए राजीव गांधी ने पेड़ की छाँव में सोई बीमार वृद्ध औरत की चीख सुनकर अपने काफिले को वहीं रोक दिया था । उन्होंने स्वयं उस औरत को एक गाड़ी में बिठाकर राममनोहर लोहिया अस्पताल ले जाकर भर्ती कराया था । अस्पताल प्रशासन को सख्त निर्देश था कि किसी भी रोगी के प्रति बुरा बर्ताव न हो, उसे ठीक से जाँचा जाए । हर सम्भव इलाज हो और दवाएँ उपलब्ध कराई जाएँ । उन्हीं दिनों अपनी ड्यूटी से गायब मिले कई डॉक्टरों को निलम्बित कर दिया गया था । उस बूढ़ी औरत को अस्पताल में दाखिल कराने की राजीव गांधी की

पहल पर अङ्गबारों ने अपनी सुर्खियाँ बनायी थीं।

बहरहाल, हफ्तों बाद प्रभाकर का हाथ ठीक हुआ था। इस बीच तकलीफ के बावजूद वह हरिहर विश्वकर्मा के बच्चों को ट्यूशन पढ़ाता रहा। विपरीत माहौल में रहते हुए भी काम भर का समय निकालकर वह लिखता-पढ़ता भी, पर यह जगह ऐसी हर्मिज न थी कि वह अधिक दिन तक रह सकता। रात को जब चारों जन जमा होते तो तरह-तरह के बेढ़ंगे किस्सों और फिजूल की बातों से उसका माथा ख़राब करते। अपने हाल-रोजगार का रोजनामचा सुनाना उनका रोज का शागल था। वे फिल्मी पत्रिकाएँ लाकर पढ़ा करते और कभी-कभी किराये पर वी.सी.आर. लाकर मनपसन्द फिल्में देखते। प्रभाकर के कारण वे भी बहुत संयम बरतते, पर करते भी क्या; वे जेल में तो थे नहीं, मनमर्जी से न जीते तो रहते कैसे। हाल यह कि जितना प्रभाकर उनसे परेशान था, उससे अधिक वे परेशान थे—पर दोनों तरफ अपनी-अपनी लाचारियाँ थीं। हरिहर से वे रार मोल नहीं ले सकते थे इसलिए प्रभाकर को झेल रहे थे और प्रभाकर की मजबूरी यह थी कि उसके पास कोई दूसरा ठिकाना न था।

इधर काफी दिनों के बाद जब प्रभाकर विश्वविद्यालय गया तो कुमुद से भेंट हुई। कुमुद ने लम्बे समय तक उसके गायब रहने का कारण पूछा तो उसने मन गढ़न्त बहाना बनाकर टाल दिया। उसे कुमुद का यूँ चिपके रहना बिल्कुल पसन्द न था। जब भी वह मिल जाती, साथ छोड़ने का नाम ही न लेती। उसके पास पढ़ाई-लिखाई की बातें कम होतीं। अक्सर वह उसके बारे में जानने की कोशिश करती। कहाँ रहता है, घर में कौन-कौन हैं—आगे क्या करना है आदि-आदि। वह यह सुनकर चिढ़ता। वह तो अपने ही अवाल-बवाल में फँसा है, इन बातों का जवाब वह क्या दे। और यह सब पूछने का मकसद उसका क्या है, सोचने पर समझ आया, इसमें कोई बात हो सकती है। जो हो, वह सहपाठी है, इतना ही मतलब रखे तो क्या बुरा है। पर नहीं, वह सहपाठी ही केवल नहीं मानती थी उसको। उस दिन बात-बात में

बात बढ़ गयी और वह रोने को हो आयी। प्रभाकर ने समझाया। कहा कि कोई गलत तो न कहा। सहपाठी हो, मित्र भी हो। साथ पढ़ते हैं, एक-दूसरे पर भरोसा कर सकते हैं। इसके बाद और कौन सा रिश्ता होता है भला?

‘होता है प्रभाकर जी, आप इसे नहीं मानते तो न मानें, मैं तो मानती हूँ।’

‘क्या मतलब?’

प्रभाकर ने अचकचाकर पूछा था।

‘हम बालिग हैं प्रभाकर। अपना हित-अहित भलीभाँति समझते हैं। एक-दूसरे को भी हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। हम केवल सहपाठी ही क्यों रह सकते हैं।’

पहली बार कुमुद ने प्रभाकर के आगे से जी हटाकर औपचारिकता की दीवार गिराई थी। प्रभाकर सकते मैं था। यह क्या तमाशा है। वह तो खुद अपने अस्तित्व का संघर्ष कर रहा है। आगे-पीछे उसके कोई है नहीं। अकेले ही जूझना है। अपने पीछे उसकी अपनी गृहस्थी है। माँ-बाप, भाई-बहन और पत्नी-बच्चे भी। यह कह क्या रही है? यह तो अजीब लड़की है।

‘सुनो कुमुद, तुम्हारी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। चार दिन परिचय के हुए और तुम जाने क्या-क्या सोचने लगी। कहा तो, सहपाठी हो, मेरी चिन्ता रखनेवाली भली मित्र हो। तुम्हारी भावनाओं का सम्मान ही कर सकता हूँ, इससे अधिक कुछ नहीं।’

कुमुद जब विश्वविद्यालय आती, तो दोपहर के लिए जो रोटियाँ लाती, उसमें प्रभाकर का भी हिस्सा होता। जैसे ही भोजनावकाश होता, वह उसे पकड़कर पार्क के एक कोने में ले जाती और टिफिन खोलकर फैला देती। प्रभाकर एक-दो रोटियाँ खा लेता और उसकी तारीफ करता, तो कुमुद की आँखें छलछला जातीं। कभी-कभी प्रभाकर को उसके अध्यापक भी भोजन के लिए बुलवा लेते। उन समयों में वह बिना खाये ही रह जाती। प्रभाकर जब पूछता तो दुखी

हो कहती कि अकेले मन न किया तो न खाया। भोला प्रभाकर यह समझ न पाता और बात आयी गयी हो जाती। पर यह तो अजीब बात थी कि वह एक पल भी उसे छोड़ती न थी। कभी यह बात, कभी वह बात। कभी कक्षा में पढ़ाये विषयों की बात करती, कभी नयी रिलीज हुई किसी फिल्म की। वह सुनता रहता और अधिक कान न देता। वह चाहे जो करे या समझे, सहपाठियों के बीच उन दोनों की चर्चा इस तरह चल निकली जैसे कि वह प्रेमी युगल हों। जहाँ भी छात्रों के जत्थे मिलते, उसे देखकर मुस्करा देते। कुछ तो व्यंग्य कर हँस भी देते, तब कुमुद उसे खींचकर आगे बढ़ा ले जाती और मन ही मन खुश हो जाती। प्रभाकर गाँव से भले आया था, पर इतना भोला न था कि यह सब उसकी समझ में न आता। वह खुद पर कुढ़ने लगा था और उसके साथ को गाहे-ब-गाहे झिड़क कर दूर हो जाना चाहता था। पर जाने क्यों वह इतना क्रूर नहीं होना चाहता था। एक दिन कुमुद उसे अपने घर भी ले गयी थी। उसकी माँ को प्रभाकर का वहाँ जाना पसन्द नहीं आया था। घर की बैठक में ही उसने अन्दर से आती आवाजें सुनी थीं जब कुमुद की माँ उस पर नाराज होकर कुछ-कुछ कहे जा रही थीं। उसने कुमुद की दी हुई चाय पीकर जब लौटने का रुख किया था तो कुमुद का आँसुओं से भींगा चेहरा देख परेशान हो गया था। वह दरवाजे तक ही निकल पायी थी और बस इतना ही कहा था—‘कल आओगे तो बात होगी।’ प्रभाकर कुछ कहे बिना वहाँ से चल पड़ा था। नाना झंझटों के बीच यह प्रसंग उसे अब त्रास देने लगा था। उसे डर भी लग रहा था कि कहीं वह फँसा न लिया जाए, उसके साथ कोई अनहोनी न हो जाए। उसे किसी अज्ञात की आशंका से डर लगने लगा था और वह समझ नहीं पा रहा था कि उसे क्या करना चाहिए।

प्रभाकर हैदरपुर लौट आया था, पर स्मृति में कुमुद इस तरह बैठ गयी थी कि उसे कुछ सूझ ही नहीं रहा था। आज विनायक, रामाधार, लोकेश और रमेश में किसी बात को लेकर झगड़ा हो गया था, इसलिए वहाँ शान्ति थी, कोई किसी से बोल नहीं रहा था। बहुत

खोज-खाज करने पर पता चला कि चारों ताश खेल रहे थे। बुधवार का दिन होने के कारण पूरे इलाके में साप्ताहिक छुट्टी थी। रमेश को शाम को अण्डे की रेहड़ी लगानी थी सो दोपहर में ताश का खेल शुरू हुआ। खेल में विनायक ने एक पत्ते की चोरी कर ली थी, जो खेल का काट था। इस पर हाथापाई हो गयी थी। रमेश ने विनायक की नाक पर घूसा जमा दिया था जिससे उसे चोट लगी थी और खून बह निकला था। हरिहर विश्वकर्मा सुने तो दौड़े आए और डाँट-डपटकर सबको शान्त किया था। विनायक की नाक पर पट्टी थी और चेहरा सूज गया था। इस नीम खामोशी का कारण जानकर पहले तो प्रभाकर को लगा कि इन्हें कुछ समझाना चाहिए, फिर यह सोचकर कि यह इनका आए दिन का धन्धा है, वह बीच में न ही पड़े तो बेहतर। बस उसने सबके बीच जाकर यही कह पाया था कि —‘मिलकर रहना चाहिए। आपस में एक साथ रहते हुए इस तरह विवाद में उलझना अच्छा नहीं होता। रहना तो साथ ही है।’ उसके कहे का कितना असर हुआ और इससे आगे कोई नतीजा भी निकलेगा, इस सोच से पीछा छुड़ाकर प्रभाकर ने दो दिन पहले के ब्रेड को स्टोव जलाकर तवे पर सेंका और जेम लगाकर जैसे-तैसे निगलकर पानी पिया। तबीयत ठीक नहीं लग रही थी और मन वैसे भी भारी ही था। उसने सो जाना बेहतर समझा; क्योंकि सुबह उसे फिर विश्वविद्यालय जाना था।

सोने के प्रयत्न के बावजूद नींद नहीं आ रही थी। अपने कठिन दिनों के साथ कुमुद का यूँ गले पड़ते जाना उसे डरा रहा था। गाँव की सीधी-सहज बुद्धि उसे चकरा रही थी। किसी लड़की के साथ होने और हँस-बोल लेने भर से ही उसके पीछे पड़ने का सबूत मान लेना मूर्खता ही थी। पर प्रभाकर को यह पहली लड़की मिली थी जो उसकी इतनी चिन्ता करती थी और उसका साथ चाहती थी; यह बात भी सही ही थी। वह कल्पना में खोता और डर जाता। उसे अपनी पत्नी का चेहरा याद आता, बच्चों की आवाजें गूँजतीं और अचानक लगता जैसे कोई विस्फोट हो जाएगा। वह बुरी तरह डर जाता और

काँपने लगता। इसी उधेड़बुन में उसे नींद आयी भी, तो जाने कहाँ बहा ले गयी। उसके सपने में एक सीता थी, पूर्वी नेपाल के एक कस्बे की नहीं नेपाली बच्ची सीता। वह भी तो नहा था—लगभग बराबर की उम्र का। उसके अस्थायी रिहाइश की सीध पर नेपाली पण्डित की चाय की दुकान थी। चाय के साथ पावरोटी, चना और पकौड़े वहाँ मिलते थे। वह कभी-कभी उसकी दुकान पर चला जाता, तो सीता उसे पावरोटी खिलाती और जब वह पैसे देने की बात करता, तो वह कहती—‘तुमछे हमाला छादी होगा, ममा कहती है। हम तुमछे पईसा नहीं लेता।’ वह रो पड़ता और आकर अपनी माँ से सीता की कही हुई बात बताता। माँ नेपाली पण्डितानी पर गुस्सा करती और कहती कि तुम लोग ऐसे सपने न देखा करो। दुकान यहाँ से हटवा देंगे। बच्चे को बिगाड़ रहे तुम लोग। इस पर नेपाली दम्पत्ति घबरा जाते और मान-मनौव्वल करके मामले को शान्त करते। तब वह छह-सात वर्ष का ही रहा होगा। उन दिनों पूर्वी नेपाल के दमक बाजार के निकट रतुआ नदी पर पुल बनाने का काम चल रहा था। उसके पिता हिन्दुस्तान कंस्ट्रक्शन कम्पनी के विभागीय ठेकेदार थे जिनके अधीन सैकड़ों श्रमिक काम करते थे। उसके पिता की खूब धाक थी और तिवारी जी के नाम से वे ऐसे मशहूर थे मानों किसी रियासत के मालिक हों। वहाँ रहते नहे प्रभाकर ने उस साइट के इन्वार्ज दामोदर फड़के के घर पर बड़े रेडियो सेट पर पहली बार कोई फिल्मी गाना सुना था, जो राजकपूर की फिल्म ‘मेरा नाम जोकर’ का था—‘ऐ भाय जरा देख के चलो।’ वह इंजीनियर फड़के के यहाँ किसी काम से गये अपने पिता के साथ चला गया था। उसके बाद तो उसकी जिद पर पिता ने रेडियो भी खरीद दी थी जिसका एन्टीना वह घर से सटे एक खम्भे पर लगाकर गाने सुना करता। इसके लिए उसे मार भी पड़ती, पर वह पढ़ने में कम रेडियो में ही अधिक ध्यान लगाता। जब वह रेडियो के मीटर घुमाता रहता तो सीता भी आकर शैतानी करती और वह नेपाली गाना सुनने की फरमाइश करती। उसे याद है, एक बार

उसके और सीता की धमा चौकड़ी से आजिज आकर उसकी माँ ने रेडियो को टेबल से उठाकर बाहर फेंक दिया था। तब कई दिनों तक वह रोता-बिसूरता रहा था। जब रेडियो ठीक कराकर फिर टेबल पर रख दिया गया था, तभी उसे शान्ति मिली थी। उसके रेडियो प्रेम से महाबल दुबे भी परेशान रहते। चूँकि वे उसे पढ़ाने के लिए ही रखे गये थे इसलिए उसकी बदमाशियों से वे भी तंग थे। कभी रेडियो तो कभी सीता; इसके अलावा वह कुछ जानता ही न था। पिता नाराज होते तो माँ उन्हें समझा देती—‘छह-सात साल के लड़के से इतनी उम्मीद भी क्या, अभी बच्चा है, पढ़-लिख लेगा’ और वे समझ जाते। उनके पास कम्पनी के कामकाज का इतना दबाव होता कि देर-देर तक रात तक घर लौटते। इस बीच वह बच्चा भगत के साथ साइट पर भी जाने लगा। बड़े-बड़े क्रेन, पत्थर ढोते ट्रक, ढलाई के लिए मिक्सचर बनाती मशीनें, तगड़ी में माल ढोते मजदूर, सब तरफ शोर—उसने पहली बार देखा-सुना। लौटकर सीता को तफसील से सब बताता, तो वह भी जाने की जिद करती। कुछ ही समय बाद पुल बनने का काम पूरा हो गया, तो घर लौटना पड़ा था। उसे याद है कि सीता जिद करके रो रही थी कि वह उसके साथ आएगी, पर उसके माता-पिता ने हम सबको नम आँखों से विदा करते हुए उसे समझा-बुझाकर मनाया था। फिर वह सीता उसे कहीं न मिली, कभी न मिली। वह उसे याद करके उदास हो जाया करता है और सोचता है—बीत गया समय न जाने क्या-क्या हममें बीत जाने देता है—जगहें, लोग, चेहरे, यादें, खट्टे-मीठे अनुभव; और एक गहरी खामोशी ही हमारे हिस्से में रह जाती है जो हमें अकेला होने से बचाती है; शेष में तो वह बीता समय रीता ही होता है जिसे यादकर मन पर बोझ देना है। यह संसार केवल जीवन-मरण का चक्र ही नहीं है। जीवन भी उसी तरह स्मृति हो जाने को अभिशप्त है जैसे कि मृत्यु। जो होते हुए भी न मालूम जगह पर हो और सिर्फ यादों में ही जिन्दा हो, वह क्या किसी मृत की याद से कम दुखद होता है? शायद नहीं होता। सीता भी कहीं होगी ही, वह

उसका होना न होने की ही तरह महज याद भर है; सीता की याद इस तरह कभी-कभी उसके रीते मन को व्यथा से भर देती।

और यह कुमुद! अचानक मस्तिष्क में कौंध आए उसके नाम ने प्रभाकर की तन्द्रा तोड़ दी। वह अब तक जिस सीता को याद कर व्यथा में डूब गया था, उसकी जगह इस कुमुद का प्रकट होना, कोई संयोग न था। एक सहज और निश्च्छल मन का आमन्त्रण ही तो थी कुमुद, जिसे वह स्वीकार नहीं करना चाहता था। करना भी चाहता हो, तो उसकी नैतिकता इसकी अनुमति नहीं देती थी। वह अनुमति ले भी ले, तो वह कुमुद के साथ कितनी दूर तक चल पायेगा और चल भी पायेगा तो क्यों? एक शादीशुदा युवक को क्या यह सब सोचना चाहिए? क्या उसे किसी भी ऐसी लड़की से बातचीत रखनी चाहिए, जो उसकी बनायी सीमा को तोड़ रही हो? आज बन रही मित्रता कल अगर एक संकट को दावत दे तो क्या वह उससे निकल पायेगा? एक गाँव का युवक, जिसे ठीक-ठाक दुनिया-जहान की समझ भी नहीं है और न ही व्यक्ति के अच्छे-बुरे की पहचान? प्रभाकर अपने वर्तमान से लड़ता हुआ स्वयं अपने से भी लड़ रहा था। उसे यह सब सोचने की फुर्सत ही कहाँ है। वह अपने को क्या-क्या बना सकता है। एक साथ वह किन-किन जिन्दगियों को जिएगा, और क्यों जिएगा? जिसे कल का आसरा नहीं, उसे किसी के भ्रम का कारण बनना भी अपराध है। उसे ऐसे किसी सम्बन्ध को जीने का अधिकार नहीं, जो स्वयं उसके जीवन पर भारी पड़ जाए।

न जाने किन-किन उलझनों, विचारों और किन्तु-परन्तु में उलझकर प्रभाकर बहुत देर तक जगा रहा। देह थकी थी और हल्की तपिश में थी। भूख भी गयी न थी—ऐसे में प्रभाकर को नींद भी आती तो कैसे? गाँव की चिन्ता, घर-बार, माँ-बाप, अपना जीवन, उसकी दिशा और फिर सब शून्य! वह चारपाई पर से उठा। मन हुआ कि कम से कम एक चाय ही बनाकर पी ले। अधिक से अधिक नींद ही तो नहीं आएगी, पर बेकार के सवाल तो उसका पीछा नहीं कर पायेंगे।

वह उठा तो चारपाई चर्चा उठी। उठने पर उसने पीछे के कमरे का दरवाजा खोलकर निकलते हुए रमेश को देखा। वह देखते ही परेशान हुआ और बोला—‘अरे पण्डी जी, क्या हुआ? सोये नहीं। तबीयत ठीक नहीं है?’

‘ठीक है, कोई दिक्कत की बात नहीं है।’

‘अरे नहीं, कोई बात हो तो कहिये, लजाइए मत महराज?’

रमेश के कहे पर प्रभाकर को गुस्सा आया, पर वह अपने पर काबू रखते हुए कहा—‘क्या बात हो सकती है कि कहूँ?’

‘अरे नाराज न होइये। देखने में आया था कि आप बिन खाये-पिये ही खाट पर चले गये थे। आज कुछ पढ़ना भी नहीं दिखा आपका। हमलोग तो झँझट कर मगज खराब किये पड़े रहे। अभी दो दिन तक मन ऐसे ही रहेगा। आप तो पढ़ने वाले आदमी हैं, आपका काम हम लोगों की तरह तो न चलेगा। बुरा न मानें तो दो अण्डे का आमलेट बनाये देते हैं, खा लीजिये; नींद आ जाएगी, वह भी अगर अण्डा खाते हों तो।’

प्रभाकर गुस्से में था और जाने क्या-क्या सोच रहा था, पर रमेश की नेकदिली ने उसके मन को तसल्ली दी। वह बोल पड़ा—

‘नहीं रमेश, भूख नहीं लगी। देह टूट रही इसलिए नींद नहीं आ रही। पढ़ने दूर जाना पड़ता है तो थक जाता हूँ। कोई और बात नहीं है। उठा तो मन हुआ कि एक चाय बनाकर पी लूँ, शायद इससे देह में थोड़ी फुर्ती आ सके।’

रमेश ने सुनते ही प्रभाकर का स्टोव जला दिया और बोला—‘चलिए हम ही बना देते हैं। हम भी एक प्याली पी लेंगे आप ही के बहाने। नींद तो हमें भी नहीं आ रही और अन्दर मच्छर भी बहुत परेशान करते हैं।’

रमेश की बनायी चाय और उसके जबर्दस्ती दिये हुए दो बिस्कुट खाकर प्रभाकर ने थोड़ी राहत महसूस की। पर रमेश को जाने क्या सूझा कि वह उसे जगाये रखने पर ही तुल गया। धीमी आवाज में

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ , प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों

और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं,

तो हमारे विशेष ➡️  टेलीग्राम चैनल से जुड़ें

और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

 हमारे चैनल में आपको मिलेगा:

 अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)

 प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)

 धार्मिक ग्रंथ और किताबें

 विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य

 बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)

 और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खजाने

 कृपया "Join Now" बटन या लिंक पर Click करें!

HINDI BOOKS CHANNEL

[Join Now](#)  (धार्मिक, आजादी, इतिहास...से सबधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नई, पुरानी किताबों के लिए)

Join Now 

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

Join Now 

https://t.me/Google_Ebooks

Join Now 

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

Join Now 

<https://t.me/Hindilibrary>

अपनी तकलीफ का किस्सा जो उसने शुरू किया, तो प्रभाकर की रात चुटकियों में उड़ने लगी। रास्ते बेशक अलग-अलग थे, पर दुख का वृत्तान्त एक जैसा ही था जो नाम और स्थान के बदल जाने से बदलने वाला न था। उस दिन प्रभाकर को पता चला था कि अण्डा बेचकर जीनेवाला रमेश कई जिन्दगियों को साँसें देता है और कइयों के सपनों को पंख देते हुए वह अपने आँसुओं में पिघलती बर्फ को महसूस करता है।

रमेश चार भाइयों में दूसरा है। तीन बहनें छोटी हैं और उनकी शादी की उमर होने जा रही है। रमेश का बड़ा भाई दिनेश भी शादीशुदा है और माँ-बाप से अलग ससुराल में रहता है। उसकी पत्नी अपने माँ-बाप की अकेली सन्तान है; इसलिए दिनेश घरजमाई बनकर श्वसुर भगेलू विश्वकर्मा की कुम्हारी का पुश्टैनी धन्धा सँभालता है और अपने घर की तरफ कभी झाँकने भी नहीं आता। दो छोटे भाई हैं जो घर का काम-धन्धा करते हैं और पढ़ते भी हैं। उसमें से एक दो बार मैट्रिक में फेल हो चुका है और छोटेवाला जी-जान से जुटा रहता है कि फेल होने का कलंक नहीं लगने देगा। वह अभी नवीं में है। घर की माली हालत बुरी है; उस पर रमेश की अपनी गृहस्थी; पत्नी और असमय हुए दो बच्चे मुसीबत की तरह आए हैं, जो कभी निरोग नहीं रहते। माँ को रत्नेंधी है, आँख से कुछ सूझता नहीं। पिता की कमर चटक गयी है, सो वह अब उठकर कुछ करने की हालत में नहीं। सत्तर पार की उम्र में पूरा जीवन बैठकर चाक पर मिट्टी राँधकर बर्तन बनाने में लगा चुके परमेश्वर विश्वकर्मा की देह सूखी लकड़ी की तरह चुस्त दिखती है, पर बेजान है। उनसे अब काम नहीं होता। बेटों-बेटियों की मदद से जो थोड़े-बहुत बर्तन बन जाते हैं, उसे बाजार में बेचकर घर का काम चलाने की कोशिश होती है। ज़मीन के नाम पर घर के पिछवाड़े कट्टा भर का एक कोला*

* खेत का एक टुकड़ा

है जिसमें मौसमी तरकारियाँ उगायी जाती हैं; शेष तो सब बाज़ार के आसरे है। पुराना खपैरल का घर भी गिरने-गिरने को है। खपड़े बदलवाने की हालत नहीं, इसलिए बरसात भर छत टपकती है। सर्दी की मार उसी तरह, तो गर्मी की तपिश सहने में नहीं आती। इस झूबते जहाज का एकमात्र आसरा यह रमेश ही है जो अण्डे बेचकर घर चलाता है और आगे का सोचकर भय खाता है कि जाने क्या हो। इस मुसीबत में उसकी सातवीं पास पत्नी सावित्री की कभी-कभार भेजी चिट्ठी उसे दोहरी परेशानी में डाल देती है। वह तड़प उठता है। सूझता नहीं कि क्या करे। कल से उसी की चिट्ठी पाकर वह बौराया हुआ है, समझ जवाब दे रही है; वह करे तो करे क्या। चिट्ठी में जो लिखा है उसका सारांश यह है कि—‘तुम परदेश में काम करके मगन हो। छठे-छमासे आते हो और हाथ पर कुछ पैसा रखकर चल देते हो जैसे सारी जिम्मेवारी पूरी कर ली। दो-दो बच्चों का बोझ, बार-बार उनका बीमार होना, तुम्हारे बूढ़े माँ-बाप की सेवा, बिगड़े देवरों और मुँहजोर ननदों के नखरे अब सहे नहीं जाते। ऊपर से पास-पड़ोस की औरतों की फब्लियाँ और करमजले मर्दों की टोह जीने नहीं दे रही। आकर या तो मुझे भी ले चलो या अपने इन छौनों को सँभालो कि मैं मायके में जाकर दिन काटूँ। अब नहीं सहा जाता। ऐसे ही कठकरेज होना था तो व्याह कर ही क्यों लाना था।’

प्रभाकर उसे क्या समझाता। चिट्ठी पढ़कर तो वह खुद अपराधबोध से भर गया था। उसे अपने घर की याद हो आयी। गनीमत यही थी कि उसकी पत्नी को इस तरह चिट्ठी भेजने की आदत न थी। चिट्ठी तो घर के दूसरे लोग भेजते। रमेश की समस्या गम्भीर थी। उसकी घरेलू परिस्थितियाँ डरा रही थीं। बुरा हो उसके बड़े भाई का जो अपना घरबार छोड़ घरजमाई बनकर खुश है और उसके ही माँ-बाप निराश्रित हो रोने को विवश हैं।

रमेश को प्रभाकर ने समझाने की कोशिश की, ढाँढ़स बँधाया और कहा—‘समस्या सचमुच गम्भीर है, सन्देह नहीं। ऐसे में रोना-

बिसूरना इसका समाधान नहीं है। लगन से काम करके पैसे समय से भेजते रहो और कोई ठोस काम पकड़ने का प्रयास भी करो ताकि पैसे अधिक मिलें जिससे अपनी पत्नी और बच्चों को ला सको। भाइयों को पढ़ने और काम बढ़ाने में लगाओ जिससे तुम्हारी जरूरत कम से कम पड़े। बहनों की शादी में जल्दीबाजी न बरतो। उन्हें अभी बड़ी होने दो। समय आने पर बड़े भाई और रिश्तेदारों की भी मदद लो। सब ठीक होगा। जीवन इसी तरह चलता है।' प्रभाकर ने यह कहते हुए जब रमेश के कन्धे पर हाथ रखा था, तो वह झार-झार आँसुओं में डूब सा गया था। बहुत तसल्ली देने के बाद वह सहज हो पाया था। शान्त होने पर उसने प्रभाकर का आभार माना और पाया कि वह अकेला ही दुखियारा नहीं है, दुनिया में बहुत से लोग उसके जैसे हैं, वह हार मानकर टूटने के लिए नहीं बना है। उसे लड़ा होगा और उबरना होगा।

रात जा चुकी थी, अब सुबह की धूप थी। हर तरफ शोर और काम में जुटने का ताव। प्रभाकर की नींद तो आँखों में कटी थी, देह अलसायी हुई टूट सी रही थी। उसके सामने क्या दुखों का अम्बार कम था, जो वह दूसरे के दुख में डूबता। रमेश को भरोसा देकर ढाढ़स बँधाया, वह कम तो न था, पर क्या उससे कोई आसरा बनता भी है? जीवन जब तक देह को कोल्हू का बैल नहीं बना देता, तब तक वह जाने क्यों किसी अर्थ तक नहीं पहुँचने देता।

आठ

इसी तरह जूझते हुए प्रभाकर ने कुछ महीने और काटे। यहाँ रहकर पढ़ना उसके वश के बाहर जाता दिखा। प्रतिकूल वातावरण की बात तो थी ही, जो एकाग्र मन से पढ़ने-लिखने का अवसर नहीं देता था। हालाँकि उसकी जो दशा थी, उसमें ऐसे अनुकूल वातावरण की कल्पना ही बेमानी थी जिसमें वह मन को स्थिर कर सकता। पर यहाँ तो जैसे वह हरिहर विश्वकर्मा के बच्चों का गिरवी मास्टर ही बन गया था जो हमेशा उसके दिमाग पर सवार रहते। अँग्रेजी माध्यम के बच्चों को पढ़ाने के लिए वह अधिक समय शब्दकोशों में शब्द खोजता रहता या उनके गृहकार्य को दुरुस्त करने में उलझा रहता। अपनी पढ़ाई पर ध्यान ही न जाता। न करता, तो पेट के लाले पड़ते। बदले में हरिहर विश्वकर्मा की शाबासी, दो गर्म समोसों के साथ चाय और प्रतिमाह आजादपुर के आकाश सिनेमा में किसी नयी फ़िल्म के दर्शन तक उसका भाग्य सिमट गया था। परीक्षा का समय आया तो आशंकाएँ फलित हुईं और प्रभाकर को निराशाजनक सफलता मिली। यह सफलता विफलता ही थी; क्योंकि उसे पचपन प्रतिशत अंक नहीं आए थे। वह अपने पर झल्लाया और पछताया, पर रोया नहीं। रोकर क्या होता जो रोता। मामूली किसान परिवार का जन्म और बड़े सपने के बीच का संघर्ष ही था जो उसे बेध रहा था; वरना वह भी पिता के साथ खेती के काम करता और गाँव की सीमा को जीवन का संसार मान लेता, तो इतना झेलता ही क्यों। दोष उसका ही तो था जो उसने

सपनों को पर दिये, पर उनके साथ चल सकने की हिम्मत न जुटा पाया। लेकिन उसी हिम्मत के लिए तो वह जूझ रहा है, शायद मिले, न मिले तो मौत ही मिले, पर मौत को भी उसे लड़कर ही परास्त करना होगा।

अगले कुछ ही दिनों में प्रभाकर ने दूसरा ठिकाना खोजा और हैदरपुर से विदा लिया। उसके जाने से हरिहर विश्वकर्मा नाराज थे तो रमेश विश्वकर्मा दुखी था। बाकी बचे लोगों को इससे न फर्क पड़ना था, न पड़ा।

प्रभाकर का अगला ठिकाना मंगोलपुरी ही था, पर यह ब्लॉक दूसरा था, पहले वाला नहीं। यहाँ उसके एक स्थानीय श्रमिक रहते थे हीरालाल, उनके साथ एक अन्य कामगार था—नगेसर महतो। एक ही कमरे में रहने की बात बैठ गयी और उनका समर्थन पाकर प्रभाकर नये ठिकाने पर आ जमा। इस नये ठिकाने का वातावरण इस मायने में ठीक था कि दोनों श्रमिक उसे पढ़ने का अवसर देते और यथासम्भव सहयोग भी। माहवार खर्च वह कुछ लिख-पढ़कर और अतिरिक्त काम करके जुटा लेता। मेहनत अधिक थी लेकिन लोगों के सद्भाव ने हौसला देकर उसके संघर्ष को अधिक तीखा नहीं बनने दिया और इस तरह उसका जीवन चल पड़ा। इस बार वह इस संकल्प के साथ आया था कि अपने लक्ष्य से नहीं भटकना है। भटक गये तो यह जीवन ही अझेल हो जाएगा। मेहनत की, लक्ष्य पर दृष्टि सही रही। इधर-उधर से जुगत कर काम भर के पैसे जुटाने में सफल हुआ तो सिलसिला चल निकला। उसकी कक्षाएँ मंगलवार को नहीं लगती थीं सो एक अध्यापक की मदद से एक नामी आलोचक के यहाँ महीने में चार दिन यानी प्रत्येक मंगलवार को जाना तय हो गया। वहाँ जाकर उनके पास आयी चिट्ठियों का जवाब तैयार करता, एक हफ्ते से पढ़े अखबार के सम्पादकीय पढ़कर सुनाता और उन आलोचक की किताबों के चयनित हिस्से पढ़कर सुनाता, जिन पर उन्हें कक्षाओं में आगे के दो-तीन दिनों में बोलना होता।

हिन्दी के रससिद्ध आलोचक के रूप में विख्यात उन देश-विख्यात आलोचक के जीवन में रस न था; ऐसा तो नहीं कह सकते, पर कुछ था जिसकी खोज उन्हें सदा उग्र और आतुर बनाये रखती। उनका बड़ा प्रभाव था। विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े अध्यापक और लेखक उनके सामने ऐसे आते जैसे कोई बड़ा अपराधी न्यायाधीश के पास आता है। कारण कोई हो या नहीं, वे उसे फटकार कर बड़े खुश होते। कई बार तो उनका कुछ लिखा भी वे सड़क पर फेंक हिकारत से कहते; कुछ नहीं आता, लेखक बनने का शौक है कि होश में नहीं रहने देता। इन रससिद्ध आलोचक के घर में सिर्फ उनकी वृद्धा पत्नी थीं जो बेहद धर्मपरायण और भद्र थीं। प्रभाकर को वे बहुत मानतीं और जब तब उसे कुछ पैसे जबर्दस्ती भी दे दिया करतीं। प्रभाकर को इससे क्या करना था कि आलोचक के जीवन में क्या है, क्या नहीं है; उसे तो पचास रुपये प्रति मंगलवार की हाजिरी बजानी थी सो वह बजाता। मन के कोने-अँतरे में यह भाव भी यदाकदा जन्म लेता कि इनकी कृपा हो जाएगी तो शायद भविष्य सुधर जाए। लोग ऐसा ही भरोसा देते रहते। पर कुल जमा यह कि वह एक ऐसी दुनिया में आ गया था जहाँ सपनों की जगह थी, सपने देखे जा सकते थे। वे पूरे होंगे, हो सकेंगे, यह सोचना उसका काम न था। उसके लिए इतना ही काफी था कि वह अब एक ऐसी दुनिया में तो है जो पढ़े-लिखे और सपने देखनेवालों की थी। इस उत्साह में प्रभाकर कभी-कभी वह काम भी कर देता, जो वह कभी नहीं करता था; मसलन—डेयरी से दूध लाना, कभी-कभी सब्जी खरीदना या धुले कपड़ों की इस्तरी करा देना। इससे उनका घरेलू नौकर मुन्ना उस पर खुश रहने लगा था और अवसर पाकर उसे फल-मूल भी खिलाने लगा था।

प्रभाकर को यहाँ से प्रति मंगलवार पचास रुपये मिल जाया करते थे यानी चार मंगलवार मिलकर उसकी जेब में दो सौ रुपये डालते; हालाँकि वहाँ से कभी भी समय से पैसे न मिलते थे, पर मिलते जरूर थे, वरना प्रभाकर यह काम न करता। वहाँ काम करने से एक

फायदा उसे जो विशेष रूप से हुआ, वह यह था कि कभी-कभी वे आलोचक गाड़ी से उसे अपने साथ विश्वविद्यालय ले जाते। इससे वह सहपाठियों के बीच अचानक ऊँचा उठ गया था। अब सहपाठी उससे बात करते सहमते और शेष अध्यापक उसके भाग्य पर इतराते। बेशक अब उनका जमाना न था, पर अपने जमाने में उन्होंने जिसे चाहा अध्यापक बना दिया था; इसलिए अब भी उनका प्रभाव बना हुआ था। वे जहाँ जाते, अध्यापकों में उनके चरण छूने की होड़ लग जाती। वह पास खड़ा अपने भाग्य को सराह-सराह कर दोहरा हो जाता। हालाँकि उसे इसका एहसास था कि वह ऐसी किसी गिनती में नहीं है जिस पर उनकी दृष्टि जाएगी; और कभी जा भी सकने की सूरत बनेगी, उसमें अभी लम्बा समय है इसलिए वह कभी अपनी सीमा से बाहर नहीं होता। सच तो यही था कि अभी बहुत कुछ देखना-समझना शेष था।

इसके अलावा उसने जो एक काम और पकड़ा था, वह भी कम दिलचस्प न था। उसने अपने एक दूर के रिश्तेदार के परिचित की मदद से एक धार्मिक संस्था में भी काम शुरू किया था। यह संस्था उत्तरी दिल्ली के एक छोर पर थी और उसके मुखिया अवतारी पुरुष माने जाते थे। वहाँ से एक पाक्षिक अखबार और एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन होता था। इन दोनों प्रकाशनों में स्वयंभू मुखिया को अवतारी पुरुषों में रखकर उसकी पुष्टि में लेख छपते थे। संस्था के कार्यक्रमों, शिविरों, प्रवचनों की सचित्र झलकियों के साथ संस्था के मुखिया यानी बाबा के वचनों को प्रमुखता से छापकर उन्हें दिव्यवाणी बनाकर प्रस्तुत किया जाता था गोया उनकी संगत से इनकार करना परमधाम से वंचित ही होना हो। प्रभाकर इस संस्था के सम्पादकीय विभाग में शनिवार और रविवार को जाता था। महीने के आठ दिन के एवज में उसे डेढ़ सौ नकद मिलते। इसके साथ-साथ वहाँ दोपहर का भोजन भी मिला करता। प्रत्येक दिन दोपहर और शाम को चलने वाले लंगर में वह महीने के आठ दिन दोपहर के भोजन की चिन्ता से मुक्त

होता। वह संस्था की रीति-नीति से ताल्लुक नहीं रखता था, उसका काम तो अखबार और पत्रिका में छपने वाली सामग्री का प्रूफ देखना था और वह उसी से मतलब रखता था।

अखबार और पत्रिका के एक ही सम्पादक थे जो मोटी रकम पाते थे और संस्था की भक्ति का प्रदर्शन किया करते। कभी-कभी वे भी प्रभाकर को ज्ञानोपदेश दिया करते—‘ईश्वर एक ही है, हम जिस रूप में उसे देख लें। यूँ समझें कि हम यदि एक निरीह व्यक्ति को भी आदर श्रद्धा से ईश्वर मान बैठें, तो उसमें ईश्वर का वास हो जाता है। फिर वह साधारण मनुष्य नहीं रह जाता। इस पर भी यदि उस व्यक्ति को यह अहसास हो जाए कि वह सचमुच ईश्वर है; तो सारा ऐश्वर्य उसमें ऐसे समा जाता है जैसे बारिश की बूँदें धरती में समा जाती हैं। इस तरह वह पुरुष महापुरुष हो जाता है, दिव्य गुण उसमें प्रकट होने लगते हैं, उसकी वाणी से आप्त वचन झरने लगते हैं मानों मोती हों।’

प्रभाकर उनका प्रवचन हूँ-हाँ करके सुनता और अपने काम में लगा रहता। सम्पादक महोदय; चाहें तो उन्हें श्रीयुत आत्मानन्द कह लें, उसके इस अनमने भाव पर खीझ उठते और इस कारण उसे व्यर्थ ही झिड़की भी लगाने की चेष्टा करते। लेकिन उस पर इसका कोई खास असर होता न था। कई बार वे आज के युवकों पर छीटाकशी भी करते—‘बुरा हाल है, आजकल के युवा धर्म-कर्म से दूर हैं। संसार की असारता में ऐसे ढूबे हैं कि मनुष्य-जन्म का सुन्दर लक्ष्य भी भूल बैठे हैं।’

पास बैठा टाइपिस्ट परमिन्दर यदाकदा उनकी बातों पर प्रतिक्रिया देता। उसकी टोकाटोकी से श्रीयुत आत्मानन्द को गुस्सा आता। पर वे बहुधा उससे उलझने से बचते। वह अड़ियल सिख था। बेमतलब बातें उसे गुस्से में ला देतीं। एक दिन जब श्रीयुत आत्मानन्द अपनी मौज में आए आगन्तुकों के बीच प्रवचन मुद्रा में दिव्यज्ञान की वर्षा कर रहे थे, परमिन्दर तनिक तेज स्वर में बोला—‘माफ कीजिये सम्पादक जी, जब आप इतने ही धर्मात्मा हैं, तो यह नौकरी क्यों करते

हैं ? मोटी रकम के बदले जो आप दूसरों को उपदेश देकर भरमाने की कोशिश करते हैं, उसका रत्तीभर भी असर है आप पर ? हिन्दू कुल में पैदा होकर वेद-वेदान्त की परम्परा से आया व्यक्ति एक सम्प्रदाय के संस्थापक को ईश्वर बनाता हो, उसकी समझ तो स्वयं एक अवसरवादी भ्रष्ट व्यक्ति की है ।'

परमिन्दर की बातों से छलनी हुए श्रीयुत आत्मानन्द अचानक चुप हो गये थे और आगन्तुक विदा लेकर बाहर निकल गये थे । प्रभाकर इस घटना से आशंकित हो चला था कि कहीं श्रीयुत अनर्थ न कर बैठें । यहाँ अक्सर होता था कि जो लोग उनसे असहमत होते, उन्हें वे बाहर का रास्ता दिखा देते । परमिन्दर नियमित नौकरी पर था । सोमवार की साप्ताहिक छुट्टी थी । शेष दिन वह नियमित काम करता और व्यर्थ की चापलूसी से दूर रहता । डर उसी को लेकर था वरना प्रभाकर को क्या फर्क पड़ना था । आज है, कल नहीं है । उसका काम जैसे-तैसे चल जा रहा था, इसका सन्तोष उसे था । पर यह भी कब तक चलेगा; इसकी आशंका तो उसे रहती ही थी ।

उन दिनों छात्रों के लिए महीने भर के लिए पास बनता था जो डी.टी.सी. की तरफ से बस पर दिल्ली भर की यात्रा के लिए बड़ी रियायत थी । तब डी.टी.सी. की बसें दिल्ली की जीवन-रेखा थीं । कहीं भी आना-जाना सहज लगता था । दूसरा कोई खर्च था नहीं जो उसके लिए मुश्किल होता । काम चल रहा था । वह कक्षाएँ नियमित रूप से जाता, समय निकालकर थोड़ा-बहुत पढ़ता भी; और इन पकड़े हुए दोनों कामों का निर्वाह भी करता । अभाव था तो समय का, जो उसे परेशान करता । आराम करना या कोई और काम, घूमना-फिरना, सिनेमा या मटरगश्ती; यह सब उसके जीवन में था ही नहीं । बस मेहनत कर दो जून की रोटी का प्रबन्ध और जिस तरह भी बन सके पढ़ाई, इसके सिवा न कोई सपना, न कोई चाह ।

और वह कुमुद, जी हाँ, एक बस वह कुमुद ही थी जो उसको छकाये जा रही थी । वह साये की तरह उससे लगी रहती । सप्ताह में

चार दिन; जब उसे कक्षा के लिए जाना होता, वह साथ बनी रहती। तरह-तरह की बातें। अपनापे में ढले उसके व्यवहार से प्रभाकर भीग-भीग जाता। पर उसे वह कुछ और न समझ पाता और यही कुमुद की शिकायत थी। उसे वह पत्थर तो नहीं कहती, पर एक ऐसी मशीन कहती जो सिर्फ एक ही लय में चलती रहती है। उसकी फट-फट की बेसुरी आवाज़ में कोई लय नहीं होती। बस वह चलती भर है। ठीक उसी तरह प्रभाकर चलता ही रहता है। ठीक ही तो कहती है कुमुद, दौड़ में भी क्या कोई लय हो सकती है? निर्बाध दौड़ में, नहीं न? इसमें लय लाने की चेष्टा तो धावक को मार ही डालेगी। दौड़ते हुए गिरा तो गया। फिर वह दौड़े नहीं तो करे क्या। दिल्ली में सहानुभूति के दो शब्द और अधिक उदारता हो, तो एक गिलास सादा पानी के सिवा कुछ देने का चलन नहीं है। उसे यह देखते दो बरस होने को आए, कुछ भी तो नहीं बदला। आश्वासन, सुझाव, सञ्जबाग और फिर लौट जाने की नसीहतों के सिवाय उसे किसी ने कुछ नहीं दिया। उसे शरण भी उन लोगों ने दी जो हाड़तोड़ मेहनत करके दो पैसे कमाते हैं और समाज की बुलन्दी की ईंट बनकर हमेशा के लिए ओझल हो रहते हैं।

कुमुद तिल भर भी हिलने को तैयार न होती, वह जहाँ थी वहाँ थी। प्रभाकर उसे भाता था, उसमें वह ईमानदारी और सहजता देखती। बनाव और झूठी कहानियों से बेखबर सीधा-सच्चा प्रभाकर जितना उससे दूर होने की चेष्टा करता, वह उतना ही करीब आती जाती। वह चाहे जितना कटने की कोशिश करता, विफल होता जाता। एक दिन जब लम्बे विराम के बाद अन्तिम कक्षा सम्पन्न हुई और साँझ घरने को आयी तो दोनों साथ निकले। समय के हिसाब से साँझ में अभी देर थी, लेकिन आज जाने क्यों बादल घर आए थे और सूरज उनमें जा छिपा था। पहले तो धूल भरी आँधी आयी, फिर हल्की रिमझिम फुहरें पड़ीं। दोनों एक-दूसरे से पास-पास चलते धौलाकुआँ बस स्टैण्ड तक बढ़े आ रहे थे। बीच की सूनसान सड़क पर अचानक

कुमुद ने प्रभाकर को टोका—‘जब देखो, भागते रहते हो। तनिक ठहरो न, मौसम कितना अच्छा है।’ प्रभाकर अभी उसके बदले हुए सम्बोधन से उबर भी न पाया था कि कुमुद उसकी बाँह पकड़कर सड़क के किनारे घसीट लायी। निर्माणाधीन सड़क पर इधर-उधर फैले बड़े पत्थरों से बचते-बचते वह उसके साथ हो लिया। वह असंयत हो उठा था। कुमुद के बदले व्यवहार से घबराहट तो थी ही, उसके भीतर भी उथल-पुथल जैसा मचा था। वह कभी ऐसी अनुभूति से गुजरा भी न था।

सड़क के किनारे झुरमुटों के बीच एक ही बड़े पत्थर पर कुमुद के साथ वह भी बैठा था। दोनों देर तक चुप रहे, पर बादलों की गड़गड़ाहट जारी थी और साँझ के साए जैसा अँधेरा पसरता जा रहा था। अचानक कुमुद ने प्रभाकर के कन्धे पर हाथ रख दिया और उसकी आँखों में जाने कैसे देखने लगी कि उसकी आँखें बन्द होने लगीं। वह अपने में नहीं पा रहा था। प्रभाकर प्रतीक्षा में था कि कुमुद कन्धे से हाथ हटाये पर कुमुद ने हाथ न हटाया; उल्टे अपनी बायीं हथेलियों से प्रभाकर का हाथ पकड़कर उसकी ऊँगलियों को गिनने लगी जैसे कोई गणित का सूत्र हल कर रही हो। प्रभाकर पसीने में ढूबता चुप बैठा हुआ था। होठ मानों सिल गये थे, बोल फूटते न थे। होता कि क्या-क्या कह दें, पर कहने में आता नहीं। पर यह कुमुद जाने आज क्या ठानकर आयी थी कि उस पर तनिक भी रियायत नहीं बरत रही थी। प्रभाकर परेशान हाल चुप ही था कि कुमुद ने उसका कन्धा छोड़, अपने हाथों में उसके हाथ लेकर बोल पड़ी—

‘तुम्हारा बहुत इन्तजार किया। पर तुम गूँगे हो कि बहरे, मेरी समझ में नहीं आते। पर अब चुप रहना मेरे वश की बात नहीं।’

प्रभाकर को बात करने का सिरा मिला, तो उसने अपने हाथों को छुड़ाते हुए बोला—

‘तुम यह क्या कर रही हो, मेरी समझ से बाहर है। जो कहना है कहो, पर मैं उस राह चल ही नहीं सकता जिस पर तुम चलाना चाहती

हो।' कुमुद ने जैसे प्रभाकर की बातों को अनसुना करते हुए खड़े होकर उसके चेहरे को दोनों हाथों में लेकर चूम लिया। प्रभाकर सन्न, यह सब देख सह रहा था। अचानक वह उठा और झटक कर आगे बढ़ने लगा, तो कुमुद ने हाथ पकड़कर घसीटते हुए कहा—‘नहीं, अभी जाने न दूँगी। देर मुझे भी हो रही है, पर जरूरी बात है, सुननी तो पड़ेगी तुमको?’

‘और अगर नहीं सुनना चाहता तो?’

‘कैसे न सुनोगे। मेरे जीवन का प्रश्न है प्रभाकर।’ कहते हुए वह फिर पत्थर पर बैठकर रोने लगी थी और प्रभाकर वहीं ठिठका किंकर्तव्यविमूढ़ सा खड़ा उसको देख रहा था। वह क्या करता, मुड़ा और कुमुद के पास बैठ गया। पहली बार उसके भीतर जाने क्या-क्या उमड़ने-घुमड़ने लगा। कुछ ठोस और कठोर था जो पिघलने को आतुर था। उसने उत्तेजना में कुमुद का माथा चूम लिया और खड़े होकर उसके चेहरे को सीने में समेटते हुए कहा—‘क्या कहती हो कुमुद, जीने न दोगी मुझे? इस तरह बर्ताव करोगी तो कैसे रह पाऊँगा।’ कहते हुए वह रूआँसा हो गया और देह थर-थर काँपने लगी जैसे हवा के वेग से धरती में धाँसे बाँस, पत्तों सहित उखड़ जाने को आतुर दिखते हैं।

वह चुप रही। लाल हो गया चेहरा झर-झर आँसुओं में नहा उठा था। आँखें मानों पहाड़ का कोई सोता बन गयी थीं जो लगातार रिस रही थीं। अचानक वह उठी और प्रभाकर को बाँहों में भींचकर खड़ी हो गयी। उसके सीने के दबाव से प्रभाकर की साँसें ठहरने लगीं। यह पहली बार था जब कोई लड़की उसे इस तरह बाँधे खड़ी थी। प्रभाकर को उसका बन्धन मीठे ज्वर की भाँति लग रहा था और देह काबू खो रही थी। उसने बन्धन ढीला करने की कोशिश न की। यहाँ शब्द मौन थे। उनका कोई काम न था। साँसें थीं उठतीं-गिरतीं और एक गहरा अन्तराल था जिसमें दोनों यूँ ही निश्चेष्ट खड़े अपने को भर रहे थे जैसे कितने अतृप्त और अवश हों। थोड़ी देर बाद दोनों अलग

हुए और पुनः दूरी बनाकर बैठ गये। साँझ घिर आयी थी, सड़क पर जल उठी लैम्पपोस्ट की रोशनी में कुमुद का सुन्दर चेहरा दमक उठा था। आज पहली बार प्रभाकर ने कुमुद को ठीक से देखा था। सुनहले बालों से सजी कुमुद की गोरी छरहरी देह चमक उठी थी और उसके चेहरे की आभा में वह खोता हुआ सा पा रहा था।

‘क्या कहती हो, कुछ बोलती क्यों नहीं। लौटना भी तो है। रात हो जाएगी। मेरा क्या है, कभी जाऊँ, पर तुम्हारे घर के लोग चिन्ता करेंगे।’

‘लौटना ही तो नहीं जानती मैं। घर काटता है। अब घर जाने से डर लगता है। जो अपने हैं, वे बहुत दूर जाते दिखते हैं जैसे वे अपने कभी थे ही नहीं।’

प्रभाकर की समझ में कुछ न आया। पूछा—‘यह क्या बात हुई, साफ-साफ कहो ना।’

‘तुम इतना तो समझ गये होगे कि मैं तुमसे किसी भी तरह की दूरी नहीं चाहती। जहाँ चाहते हो ले चलो, पर मुझे घर से आजाद कर दो।’

हत्प्रभ प्रभाकर कुमुद की बातें सुनकर हैरान था। वह उसे कहाँ ले जा सकता था कि ले जाता। इतना तक तो ठीक है, आगे के लिए क्या वह तैयार हो सकता है, नहीं नहीं, यह कैसे सम्भव है। वह तनिक लहजा बदलकर पूछा—‘पहेली न बुझाओ, साफ-साफ कहो ना; सुनूँगा जो भी कहोगी।’

‘क्या कहूँ। पिछले महीने दिन से बहुत परेशान हूँ। तुमको फुर्सत नहीं होती। जाने क्या सोचते हो, कहाँ रहते हो। कई बार लगता है कि मर्दों जैसी चाहत भी तुममें नहीं है, उफ्फ।’

‘अपनी बात तो कहो। क्यों परेशान हो पिछले महीने से, क्या हुआ है आखिर?’

मेरे दूर के रिश्ते में एक लड़का है जो लन्दन में रहता है। बताते हैं कि वह डॉक्टरी कर रहा है। एक बार उससे एक समारोह में भेंट हुई

है। लगातार शराब और सिगरेट में अपने को फूँकनेवाला वह लड़का जितना बेडौल है, उतना ही बददिमाग भी। घर से अच्छा है, खानदान से नामी। घरवाले चाहते हैं कि उससे मेरी शादी कर दें। वह बात करने के लिए लन्दन बुला रहा है, दोनों तरफ के हवाई टिकट और ठहरने का इन्तजाम कर रहा है। चाहता है कि अकेली जाऊँ। घरवाले मन बना चुके हैं, पर मैं चाहती नहीं जाना। गयी तो लौट नहीं सकूँगी; हालाँकि शादी करने की बात यहीं दिल्ली में ही है।'

'जब सब कुछ तय है तो वह लन्दन क्यों बुलाना चाहता है ?'

'वही तो तुम नहीं समझ रहे हो ? वह बुलाकर मुझे समझेगा और मुझको भी समझने का अवसर देगा, ऐसा वह कहता है और इस पर घरवाले राजी हैं।'

'अच्छा। तो क्या लन्दन जाने के बाद कुछ शेष भी रह जाएगा समझने को ?'

'वही तो मैं कह रही हूँ। जाने पर फिर लौटना न होगा; क्योंकि लौटने की राह न रहेगी, इसीलिए मैं चाहती नहीं कि जाऊँ और माँ-बाप अपने सिर का बोझ मुझे वहाँ भेजकर उतार देना चाहते हैं। वह और उसके घरवाले मेरी सुन्दर देह से खुश होकर दहेज में कुछ भी न लेंगे, इस पर मेरे माँ-बाप बहुत खुश हैं और मैं केवल देह भर होने से इनकार कर रही हूँ—असल समस्या यही है प्रभाकर, मेरे दोस्त।' कहते-कहते वह रुआँसी होती हुई उससे फिर लिपट पड़ी थी।

प्रभाकर अभी कुछ भी नहीं कहना चाहता था। उसे समझाया, बुझाया। उसके माथे को चूमा और इस पर आगे बात करने को कहकर चलने का संकेत किया। कुमुद हिलने का नाम नहीं ले रही थी, वह अवश मालूम होती थी, जाने उस पर क्या सवार हो। वह बार-बार कहती थी—'मुझे कहीं ले चलो, जहाँ चाहो। घर लौटना ही नहीं चाहती। जो चाहो सो करो, पर अलग न करो अपने से।'

पर प्रभाकर उसे ले भी जाता तो कहाँ और क्यों ?

वह पिघला तो था पर अपने घेरे से बाहर नहीं जा सकता था।

जाता भी तो कहाँ और क्यों, यह प्रश्न तो था ही। उसने कुमुद को समझाया—

‘ऐसी जिद अच्छी नहीं होती। घर तो जाना ही होगा न तुमको। घरवालों को समझाओ, कहो कि अभी जल्दी न करें। तुम्हें सोचने का अवसर दें। तुम भागी नहीं जा रही; और कोई है भी नहीं जिसके लिए तुम सबके कहे को हवा में उड़ा दोगी। समय लो, क्या पता धीरे-धीरे यह समस्या टल जाए और तुम अपनी अनिच्छा भी ज़ाहिर कर सको।’

कहने को तो कह गया था प्रभाकर, लेकिन अपने को अलग करने की उसकी कोशिश को कुमुद ने पकड़ लिया था; नाराज होकर बोली—

‘क्या कहा, कोई है भी नहीं? तुम कौन हो। इतनी देर से मैं साथ क्यों हूँ तुम्हारे? इसके बाद कोई किसी का कैसा होता है? अभी और इसी वक्त से मैं तुम्हारी हूँ। ले चलो न मुझे जहाँ चाहो। अपने मैं नहीं मैं। तुम्हीं मैं हूँ। तुम देखना नहीं चाहते, पर मैं अपने मैं तुम्हीं को पा रही हूँ। समझ नहीं आता कि तुमको क्या कहूँ? आदमी लगते नहीं, देवता हो नहीं। फिर क्या हो? क्या इतना सूखा भी होता है कोई? कोई कामना भी नहीं, अन्दर का सारा हूल क्या उस एक क्षण के लिए था जब मुझे भींचे खड़े थे? क्या प्रभाकर, प्रेम क्या कुछ और होता है? समझते नहीं कि यह प्रेम है? हाँ, हाँ, प्रेम। प्यार करती हूँ तुमसे और तुमसे विरत रहना चाहती नहीं। क्या है जो समझना नहीं चाहते, क्यों ऐसा करते हो?’

‘सब समझता हूँ। लेकिन यह समय नहीं जब इस पर बात हो। करेंगे आगे जब मिलेंगे। मैंने कुछ अप्रिय तो न कहा, पर किसी भी अनहोनी से भय खाता हूँ। इतना साहस नहीं कि आगे बढ़कर वह करना चाहूँ जो तुम चाहो। मेरी सीमा है और मर्यादा भी; जो कायर बना रही। अभी तो हमें चलना चाहिए। तुम्हें लोग खोज भी रहे होंगे। देर होगी तो बस भी न मिलेगी।’

कुमुद ने कोई हठ न किया और धीरे-धीरे बुझे कदमों से बस स्टैण्ड की राह ली। प्रभाकर भी साथ-साथ धीमी गति से चल रहा था। फिर कुमुद की बस आयी और उसे विदा कर वह अपनी बस की राह देखने लगा।

लौटने में बहुत देर हो गयी थी। आया तो सब तरफ सन्नाटा पसरा था। ग्यारह बज गये थे। साथ रहने वाले दोनों जनों की रात की ड्यूटी थी। एक चाभी उसके पास रहा करती थी सो दिक्कत की बात न थी। हाथ-मुँह धोकर दो रोटियों के साथ थोड़ी तरकारी ले क्षुधा तृप्त कर वह जो लेटा तो नींद का पता न था। उमड़-घुमड़कर वही-वही दृश्य सामने आता। कुमुद और कुमुद; सब तरफ कुमुद। उसका रोना-बिसूरना और उलझन—सब एक साथ उसे तंग कर रहे थे जैसे वह इसका जिम्मेवार हो। वह क्या करे, उसका तो कोई दोष ही नहीं। कोई अपनी खुशी से दुख चुन ले तो भला वह क्या करे। रह-रहकर उसका मन विद्रोह भी करता। यह भी क्या मुसीबत है कि जिसे दो रोटी की चिन्ता से जूझना है और भविष्य से लड़ना है, वह ऐसे फिजूल के बवाल में उलझ जाए और अपने गन्तव्य से भटक जाए। पर कहीं कोने-अँतरे से कोई पुकार भी उठती तो उसे थिर कर देती और उसके भीतर की जमी बर्फ पिघलने लगती। तब अतृप्त मन की बेतरतीब परतें खुलती जातीं। कितनी अच्छी, भली और सुन्दर है कुमुद; कितना ख्याल और राग है उससे, और वह खुद उससे दूर भागने की कोशिश करता है। तब जाने कैसे-कैसे ख्याल आते और वह उनमें डूबता-उतराता दूर तक बहा जाता। उसकी देह तब खुल जाती उसके भीतर, और उसके उजास से वह आह्लाद से भर जाता। ऐसे-ऐसे ख्याल आते कि वह मन ही मन लजा उठता। कभी यह, कभी वह, कभी इस तरह—कभी चुपचाप यूँ अकेले निःशब्द। उफ्फ! फिर उसकी चिन्ताओं में उतरता। कैसे तो माँ-बाप हैं जो उसकी इच्छा

के विपरीत उसे जबर्दस्ती उस व्यक्ति से जोड़ना चाहते हैं जिसे वह पसन्द नहीं करती। अभी उसकी ज़िदगी सामने है और अधूरे अरमान सपनों की मानिन्द आँखों में तैर रहे हैं। लड़की है, इसका मतलब यह तो नहीं कि उसकी अपनी कोई राय न हो। जिम्मेवारी का बोझ सर से उतार फेंकने का यह मतलब तो नहीं कि उसकी इच्छाओं की हत्या कर दी जाए।

बहुत देर तक ऐसे ही अनेक प्रश्नों से लड़ता हुआ वह जब सोया तो देह की सुधि ही नहीं रही।

आज शनिवार था और 10 बजे तक ही उसे कथित धर्मस्थान के सम्पादकीय विभाग में नौकरी बजाने जाना था। तैयार हुआ और श्रमिक सेवा की बस से बिन खाये-पिये ही निकल पड़ा था।

सम्पादक श्रीयुत आत्मानन्द ऐसे मिले जैसे वे उसी की बाट जोह रहे हों। आज उनकी शिष्टता किसी डरावने समाचार का संकेत लग रही थी। परमिन्दर अपने छोटे से कोने में टाइपराइटर पर नज़र गड़ाये खट-खट किये जा रहा था। उसे देख उँगलियाँ कुछ अधिक तेज चलने लगी थीं मानो उसे कहीं जल्दी जाने का ताव हो। उसको देख वह मुस्कराया और फिर-फिर खट-खट में लोप सा हो गया था।

इधर-उधर से मालूम हुआ कि परमिन्दर को कह दिया गया है कि वह आज अपने लम्बित काम करके कोई दूसरा ठिकाना खोज ले और यहाँ से मुक्त हो जाए। प्रभाकर को सुनकर दुख हुआ। उसे पहले से आशंका थी कि सम्पादक श्रीयुत आत्मानन्द का प्रतिवाद कर परमिन्दर को यहाँ रह पाना मुश्किल होगा। सुबह उसे आते ही कह दिया गया था कि अपनी मेज के काम निपटा कर एकाउण्ट से अपना हिसाब ले लो और कहीं दूसरा काम देख लो। सुनकर उसने कोई प्रतिक्रिया न दी, जैसे वह जानता हो कि यही होना है, या वह खुद से दमघोंटू जगह से निजात पाना चाहता हो, जो हो, बहुत बुरा है यह।

प्रभाकर बार-बार परमिन्दर की तरफ देखता, पर वह टाइपराइटर की खट-खट में खोया सिर भी न उठा रहा था। प्रभाकर पिछली चीज़ें

देखभाल उन्हें छाँटकर अलग कर रहा था और नये काम की तैयारी में जुटा था। कुछ मुद्रित लेख पड़े थे जिन्हें देखना था। तब तक श्रीयुत ने उसे बुलाया।

‘जी’! ‘कहो तिवारी कैसे हो?’

‘जी ठीक हैं।’

‘अच्छा, यह एक लेख आया है, हमारी पत्रिका के बहुत पुराने लेखक हैं डॉ. उत्फुल्लानन्द जी। यह उन्हीं का लेख है जिसमें उन्होंने आज के आपाधापी भरे समय में मानवता की एकमात्र राह की खोज की है; इसे पढ़कर कहीं कोई व्याकरणिक त्रुटि लगे तो ठीक करके हमें जल्दी दे दो, इसे आज ही प्रेस में भेजना है।’

‘जी’। श्रीयुत के हाथ से वह लेख लेकर प्रभाकर अपनी सीट पर गया और उसे पढ़ने लगा—

‘जब-जब धर्म की हानि होती है और धरती पर अत्याचार बढ़ता है, दीन-दुखियों को सताने की सीमाएँ पार कर जाती हैं, तब-तब भगवान् विभिन्न रूपों में धरती पर आते हैं। सत्युग में भगवान् कूर्म, नरसिंह और वामन रूप में आए, त्रेता में पहले परशुराम और फिर राम के रूप में प्रकट हुए और अब इस घोर कलियुग में उन्होंने बाबा का अवतार धारण किया है। यह बाबा भगवान् निराकार के धरती पर आए हुए प्रतिनिधि हैं। अब इन्हीं से इस धरती का कल्याण होना है।’

लेख लम्बा था, उसका धीरज जवाब दे रहा था। जो पढ़ गया था, वही काफी था कि वह उस लेख का निहितार्थ समझ सके। उसका आस्तिक मन विद्रोह कर रहा था। क्या था यहाँ जो वह मन पर पातक ले रहा था। अब ऐसे-ऐसे बाबा ही अवतार बने हुए हैं जिनके असंख्य भक्त हैं और जो सुरसा की भाँति अपना साम्राज्य बढ़ा रहे हैं। अव्याशी का कोई अवसर नहीं छोड़ते। उसने दराज के कागज उलट-पलट कर देखा, उसमें कुछ विशेष न था। मेज की सामग्री को व्यवस्था दी, उसकी एक सूची बनायी और सम्पादक श्रीयुत आत्मानन्द के पास जाकर उसने कहा—

‘सम्पादक जी, मेज की सामग्री की सूची हमने बना दी है। जो अब तक देख सकता था, देख लिया है। अब आगे सम्भव नहीं कि काम हो। यह लेख आप ही देख लें। यहाँ काम करने के लिए मैं इतना नहीं गिर सकता कि सबको ईश्वर का अवतार मानकर धन्य हो सकूँ।’

‘क्या हुआ तिवारी, ऐसा क्यों कह रहे हो?’

‘कुछ नहीं हुआ, गलती मेरी ही है जो यहाँ आया था।’

‘लेख में ऐसा क्या है जो इतने बिफर गये हो?’ श्रीयुत ने स्मित मुस्कान के साथ आँखें घुमाकर कुटिलता से कहा था।

‘कहा तो, आप देख लें और बाबा को भगवान मानकर पूजें। यह मेरे वश का नहीं।’

‘अरे भाई, यह लेखक की मान्यता है। इससे तुमको या हमको क्या करना है। तुम्हें लेख की अशुद्धियाँ देख लेनी हैं, मुझे उसे छाप देना है। इसमें पातक की बात है तिवारी? भगवान श्रीकृष्ण ने...।’

‘रहने दीजिये सम्पादक जी।’ उसने उन्हें बीच में टोकते हुए कहा। आप भगवान कृष्ण का कोई वचन गीता से उद्धृत करके हमें सुना देंगे और बात समाप्त हो जाएगी। पर ऐसा नहीं है। अवतारों की कथा आप हमसे अधिक जानते हैं। यह भी जानते हैं कि ऐसे स्वयंभू कहे जानेवाले कथित भगवानों को दण्ड देने के लिए ही वे प्रकट होते हैं। आप बतायें कि कौन सा राक्षस था जिन्हें ईश्वर ने मारा; उसने अपने को भगवान न माना था—हिरण्यकश्यपु, रावण, कंस, मूर... सबका नाम तो आप जानते ही हैं।’

‘उत्तेजित न हो प्रभाकर, यह धर्म संस्था है। इसके अपने उस्तूल हैं। व्यर्थ के तर्क में नहीं पड़ते। नये हो, लगन से काम करते हो, करते रहो; ऐसे बेकार में अपना मन मैला न करो। अपने भगवान को मानो, कौन मना करता है?’

प्रभाकर समझ रहा था कि श्रीयुत उसे छोड़ना नहीं चाहते। उसकी मेहनत और लगनशीलता से किये गये काम से उनकी जिम्मेवारी कम हो गयी थी। वे उसके अहं को तुष्ट कर बात बढ़ाये बिना चाहते थे

कि समझाकर रोकें, पर प्रभाकर अब मन बना चुका था कि उसे जाना ही है और जब जाना था ही उसे, तो रोकता कौन। उसने आगे कुछ भी कहने-सुनने से परहेज किया और श्रीयुत को सामग्री की सूची और वह विवादास्पद लेख सौंपकर थैला मेज से उठाकर कन्धे पर लटकाया और चलने को तैयार हुआ।

‘प्रणाम।’ वहाँ उसका वही अन्तिम शब्द था। कमरे से निकला तो पीछे-पीछे परमिन्दर भी आया था। उसे भी आज ही जाना था। दोनों ने हाथ मिलाये। फिर कभी मिलने की बात की। परमिन्दर ने अपने घर का पता दिया और हवा में हाथ लहराया। प्रभाकर वहाँ से चलते हुए भावुक हुआ था, थोड़ा हताश भी; लेकिन अपने निर्णय पर उसे मलाल न था। समस्या फिर सामने आ खड़ी हुई थी लेकिन उसे कोई भय न हुआ। अब भय का वह क्या करे। यही उसकी नियति थी और किसी स्थायी इन्तजाम के होने तक उसे इसी तरह जूझना और थकना बदा था।

* * *

उस रात प्रभाकर की नींद गायब रही। लेकिन उसने छत को निहारकर या करवटें बदलने के बदले कुछ पढ़ लेना ही जरूरी समझा। यूँ ही सोचते रहने से कोई लाभ तो था नहीं। सामने परीक्षा भी थी और पहला साल निराशाजनक गुजरा था। जब भी वह पढ़ने बैठता, दो-चार घण्टे इत्मीनान से पढ़ता—फिर पढ़े हुए को बार-बार स्मृति में लाकर उस पर विचार करता और इस तरह पढ़ी हुई चीजें उसे अपनी लगने लगतीं। उसके पढ़ने का यह तरीका बेहद अच्छा था। कहना चाहिए कि पढ़ने का तरीका यही होना भी चाहिए। इसी तरह से पढ़ने पर नये विचार भी आते हैं जो पढ़े हुए पर मुग्ध होने की बजाय सोचने और उस पर एक विचार देने की सम्भावना को जन्म देता है। लेकिन जब भी वह डूबकर पढ़ता और पाठ में उत्तरता, चाहे वह कविता हो कहानी, उपन्यास हो या निबन्ध, आलोचना हो या काव्यशास्त्र—उसे

इस बात पर बहुत कोफ्त होती कि अध्यापकों के लिखाए नोट्स को याद करने और उन्हें हूबहू उतार देने से ही अच्छे नम्बर आते हैं। विश्वविद्यालय में हर छात्र की यही राय होती थी। उसने पहले साल की परीक्षा में इस सच्चाई को जान भी लिया था। जिन छात्रों ने अध्यापकों के नोट्स को रट लिया था या जिन्होंने गाइड्स की मदद से यानी उन्हें यादकर परीक्षा दी थी, उनके अच्छे नम्बर आए थे और वह मौलिकता के चक्कर में फिसड़ी साबित हुआ था। जाने क्यों वह कक्षा में अध्यापकों के सीधे व्याख्यानों को ध्यान से सुनकर उनकी खास बातों को तो लिख लेता था, पर जब वे विषय से चुने हुए प्रश्नों के आधार पर नोट्स लिखवाते तो उससे लिखना न हो पाता। उसके सहपाठी इस आदत पर उसे झिड़कते भी, और कहते कि मौलिक होने के चक्कर में उसकी दशा बिगड़ जाएगी।

उसे यह समझ में न आता कि विश्वविद्यालय के अधिकतर अध्यापक अपनी वर्षी पुरानी फटी डायरियों से जो नोट्स लिखवाते थे, वही प्रश्न परीक्षा में क्यों पूछे जाते हैं? इसमें छात्र की प्रतिभा का और उसकी अपनी दृष्टि का किस तरह विकास होता होगा। जब छात्र को पाठान्तर कर उसके विवेचन की स्वतन्त्रता ही नहीं, तो फिर इस कथित नामी विश्वविद्यालय का मतलब क्या है? कुछ अच्छे अध्यापक, जो नामी आलोचक भी थे, अच्छा पढ़ाते थे और चिन्तन शक्ति को विकसित करते थे, पर उनकी कक्षाओं से छात्र बिदकते थे। कारण स्पष्ट था, वे नोट्स नहीं लिखते थे और ज़ाहिर था, उनके पढ़ाये पर मन देने से नम्बर नहीं मिलने थे। प्रभाकर को इस माहौल से बड़ी कोफ्त होती थी। उसे वे अध्यापक ही अच्छे लगते थे जो व्याख्यान देते थे, पर उनको सुनने से फायदा न होते हुए भी वह उन्हीं को सुनता और उन्हीं के सम्पर्क में रहने का प्रयत्न भी करता।

वह सोचता कि इस भारी भरकम विश्वविद्यालय में नोट्स और गाइड्स की परिपाठी क्यों नहीं बदलती। क्यों छात्रों को अपने विवेक से प्रश्नोत्तर देने पर नम्बर नहीं दिये जा सकते और क्यों साल भर

कक्षाओं से गायब रहे छात्र अचानक रट्टा मारकर अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाते हैं। विश्वविद्यालय में उसके दो साल पूरे होने को थे, पर उसने शायद ही किसी छात्र को मूल पुस्तकें पढ़ते देखा हो, या पुस्तकालय से ले जाते। यह भयानक और वीभत्स था जिस पर विचार करते हुए उसे लगता कि देश के किसी भी पारम्परिक ढब के पिछड़े विश्वविद्यालय से दिल्ली में स्थित इस विश्वविद्यालय को बेहतर मानने का कोई कारण नहीं। दूसरे विषय में होगा, पर क्या होगा—पद्धति तो यही है सब में। छात्रों की बेपनाह भीड़ और पढ़ाई का यह ढंग; और इसी पद्धति से धड़ाधड़ अध्यापक नियुक्त होते। अच्छे अंक आए कि आप अध्यापक बने और फिर गुरुजी के नोट्स के सहारे आपका भी बेड़ा पार हुआ जाता। इस पद्धति से उसका दम घुटता। कई बार उसे लगता कि वह जहाँ से पढ़कर आया है, उसकी स्थिति भले ख़राब मानी जाती हो, ख़राब थी नहीं। उसने अपने अध्यापकों की मेहनत और नयी-नयी जानकारियों में रुचि लेकर पढ़ाते देखा था और यह नोट्स लिखाने की बीमारी तो वहाँ कभी देखी नहीं। बेशक सूत्र, सिद्धान्त और महत्त्वपूर्ण बातें कोई भी अच्छा अध्यापक लिखाता है तथा विद्यार्थी रुचि लेकर लिखता भी है, पर कक्षा में आकर पूरे पचास मिनट नोट्स लिखवाने का चलन उसने पहली बार देखा था और छात्रों का मनोयोग से लिखना भी; ज़ाहिर है, इसी से उन्हें अच्छे अंकों से पास होना था—ज्ञानार्जन से उन्हें मिलना क्या था जो सोचते भी।

उसमें भी विडम्बना यह थी कि नोट्स लिखवाने वाले अध्यापक जब परीक्षा पुस्तिकाएँ जाँचते तो अपनी फटी-पुरानी डायरियाँ साथ रखते और यह गौर से देखते कि छात्र ने उनकी डायरी ज्ञान का कितना उपयोग किया है। अंक का प्रसाद इस ज्ञान के प्रयोग के प्रतिशत से ही तय होता था। इस दशा में छात्र के मौलिक प्रश्नोत्तर की दुर्दशा ही होनी थी, जो होती रहती थी। एम.ए. के पहले साल से सीख लेकर प्रभाकर ने भी थक-हारकर वही प्रक्रिया अपनाने का निश्चय किया

और सहपाठियों से नोट्स माँग-माँगकर उसकी कॉपी कराकर रखने लगा। सावधान न होता तो उसे पता था कि उसका बँटाधार होना तय है। नोट्स को याद करना और बताये गये निर्देशों के अनुसार प्रश्नोत्तर लिखने से ही बेड़ा पार होना था, सो वही सही। परीक्षा नजदीक थी। उसने रूटीन बनाकर पढ़ाई पर ध्यान दिया। सुबह उठकर नोट्स को विषयानुसार जबानी याद करने की कोशिश शुरू की। याद कर लेने के बाद नोट्स को रजिस्टरों पर उतारता जाता और दिन-दिनभर स्मृति में लेकर उसे फेटता रहता, गोया वह कोई मन्त्र बुद्बुदा रहा हो। उसे बचपन के अपने पहले गुरु शिवशरण चौधरी की तरकीब ने इसमें उसकी बड़ी मदद की थी। शिवशरण चौधरी उसके गाँव के प्राथमिक विद्यालय के शिक्षक थे। उन्होंने एक सौ तक की गिनती और एक से पाँच तक पहाड़ा इसी विधि से याद कराया था। वे बोलकर पहले लिखवाते, फिर याद करने को कहते। कहते कि याद करके लिख डालो; और तब दिन-दिनभर उसे राम-राम की तरह मन में जपते जाओ। कुछ समय बाद वह दिमाग की स्लेट पर इस तरह खुद जाएगा कि जीवन भर न मिट सकेगा।

अचानक पहले गुरु की याद कर उनकी स्मित छवि को सामने लाकर प्रणाम कर प्रभाकर ने जो मुहिम शुरू की, उससे उसे सफलता मिलनी शुरू हो गयी। उसे सब कुछ याद होने लगा था; पर उसी गति से अपनी निजी समझ भी फुर्र होती जा रही थी; वह इसका क्या करता। सामने परीक्षा थी और उसमें अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने का यही एक सनातनी मार्ग बचा था—रट्टा मारो पास करो।

अब उसके पास रोजी-रोटी के नाम पर एक ही व्यवस्था रह गयी थी; आलोचक महोदय के यहाँ प्रत्येक मंगलवार को जाने और काम बजाने की। महीने में दो सौ रुपये के इस प्रबन्ध से उसका काम नहीं चलना था। मुश्किल यह भी थी कि किसी से उधार-बाकी करके

काम भी चलाने की जुगत करे, तो लौटायेगा कहाँ से। यह प्रश्न भी था लेकिन हीरालाल की नेकनीयती से उसका काम बाधित न हुआ। वह उनसे पैसे न लेने की जिद करता, तो वे कहते—‘उधार ही है, जब भी होगा, मिल जाएगा, चिन्ता न करिये।’ वह बार-बार उनकी सदाशयता के प्रति कृतज्ञ होता और नये काम की खोज में लगा रहता। एक दिन उन दिनों के नामी कपड़ा मिल ‘स्वतन्त्र भारत मिल’ के एक पढ़े-लिखे कामगार से भेंट हो गयी तो उन्होंने उसे एक अच्छी जानकारी दी। बताया कि दिल्ली सदर इलाके में एक प्रकाशन है, नाम है—‘राम प्रेस।’ डिप्टीगंज में है वह। वहाँ धार्मिक पुस्तकों के मार्मिक और महत्वपूर्ण प्रसंगों को मुक्तकों में रूपान्तर कराया जाता है। छोटी-छोटी पुस्तिकाओं में छपकर मुक्तक लाभ का सौदा हो जाते हैं। मुक्तककार को उनकी योग्यता के अनुरूप मेहनताना मिलता है। उसने वहाँ जाने का निश्चय किया और एक दिन खोजते-खाजते ठिकाना पा ही गया। ‘राम प्रेस’ के तोंदियल मालिक सेठ पूरनमल मारवाड़ी थे। प्रेस के अपने कार्यालय में चन्दन लगाये और रामनामी ओढ़े ऐसे विराजते मानो हिमालय की किसी गुफा से प्रकट हुए हों। बात बहुत सलीके से करते और वाक्य के पूरा होते ही राम-राम करते। वे जितने सहदय और सन्त दिखते, अन्दर से उतने ही कृपण और ठग थे।

प्रभाकर बड़ी मुश्किल से उस गली में पहुँचा था जहाँ प्रेस था। जाने पर सन्तरी ने दरियाफ्त किया और जब प्रयोजन जाना तो किंचित विनम्र होता हुआ सेठ पूरनमल के कक्ष तक पहुँचा दिया। सम्भव है, प्रभाकर की दुबली-पतली काया को सफेद कुर्ता-पाजामा में देखकर उसे किसी ब्रह्मचारी का आभास हुआ हो; जो हो, वह बिना भय के उनके सामने हाजिर हुआ और हाथ जोड़कर प्रणाम किया। सेठ ने सामने की कुर्सी पर उसे बैठने को कहा और आने का प्रयोजन पूछा। प्रभाकर ने उक्त कामगार की चर्चा की और अपनी मंशा स्पष्ट की। सेठ ने अपने किसी अर्दली को आवाज़ देकर हाल ही छपी कुछ पुस्तिकाएँ लाने को कहा। पुस्तिकाएँ देखकर प्रभाकर ने उन्हें उल्टा-

पुल्टा। काम कोई आसान न था और रूपान्तरों में धोखा किये बिना काम होना मुश्किल था। मानस के 'सुन्दर काण्ड' से लेकर 'गीता', 'दुर्गा सप्तशती' जैसे ग्रन्थों को मुक्तक में ढालना सहज न था। वह अभी इन रूपान्तरित पुस्तिकाओं को देखकर सोच-विचार में ही मग्न था कि सेठ की धीमी आवाज़ उसके कानों से टकराई—

'नाम क्या बताया आपने ?'

'जी, प्रभाकर तिवारी।'

'और पढ़ाई-लिखाई ?'

'जी, एम.ए. कर रहे, आखिरी साल है।'

'अच्छा, होगा आपसे यह काम ? लगता हो कि हो जाएगा, तो नमूना दिखाइये।'

उसने सामने संकट खड़ा देखा। पर साहस के साथ डटा रहा। बोला—'जरूर, काम दीजिये, तो करके दिखाते हैं। यह पुस्तिकाएँ तो मुक्तक में रूपान्तरित हो चुकी हैं।'

'अच्छा !' जैसे सेठ पूरनमल को विश्वास नहीं हो रहा था। उन्होंने चुनौती देने के स्वर में कहा—

'आपको तो बहुत सी चीज़ें कण्ठस्थ होंगी।'

'रामचरितमानस' से 'सुन्दर काण्ड' के ही कुछ अंश मुक्तक में करके दिखाइये तो जानूँ।'

वह पहले डरा, फिर धीरज रखकर स्थिर हुआ तो सुन्दर काण्ड की स्मृति हो आयी। उसे सुन्दर काण्ड तो याद था ही, मानस के प्रायः सभी भावपूर्ण प्रसंगों की स्मृति थी। अब चुनौती उसके रूपान्तर की थी। तोंदियल सेठ पूरनमल बिहस रहा था और कठिन परीक्षा में डालकर वह खुश था कि इस नादान से क्या होनेवाला है, जो करेगा। लेकिन प्रभाकर ने थैले से डायरी निकालकर कलम सँभाल ली और कठिन राह को पार करने की जुगत सोचने लगा। उसने सेठ से कहा—'दस-पन्द्रह मिनट की मोहल्लत दें, प्रयास करता हूँ।'

उसने—'हाँ, हाँ, कहकर 'क्यों नहीं, क्यों नहीं, दो बार कहा।'

उसने अपनी याद को टटोला और आरम्भ से ही उसे रूपान्तरित करने लगा—

‘जामवन्त के वचन सुहाए। सुनि हनुमन्त हृदय अति भाए।

तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कन्दमूल
फल खायी ॥

जब लगि आवौं सीतहि देखी। होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी ॥

उसने मुक्तक में उक्त चौपाइयों का रूपान्तरण कर डायरी में लिखा—

‘जामवन्त की वाणी सुन हर्षित हो, हिय में पुलकित
हनुमान यह बोले।

जब तक सीता माता की सुधि लेकर लौटूँ, तब तक दुख
सहकर भी रहिये फल-मूल खाकर।
काम बनेगा निश्चय ही विश्वास है, हर्ष विशेष तभी होगा
यह आस है ॥’

वह अभी काम में तल्लीन ही था कि सेठ पूरनमल की तोंदियल
देह लहरायी और वे बोल पड़े—

‘बस, बस। जो किया है, उसे सुनाइये। अभी तो मुझे सिर्फ काम
का नमूना चाहिए, राम-राम।’

प्रभाकर ने उक्त रूपान्तरित पंक्तियों को उत्साह से सुनाया, तो सेठ की आँखें ललछौंही हो गयीं। वे राम-राम कहते पूरा पद सुनकर खुश हुए से लगे। प्रभाकर को अपनी विजय का हर्ष हुआ। हर्ष का कारण यह भी था कि सुन्दर काण्ड की रूपान्तरित पुस्तिका ठीक न थी। उसमें वर्तनी दोष तो था ही, भावान्तरण भी न था। सेठ पूरनमल की अनुभवी आँखों ने उसे परखा और लगभग घण्टे भर बाद अपने किसी आदमी को भेजकर उसके लिए मिसरी और एक गिलास पानी लाने को कहा। उसे प्यास तो बहुत लगी थी, पर संकोचवश उसने पानी नहीं माँगा था। आते समय सदर में दस पैसे में एक गिलास पानी पिया था। उसने की डली को कुर्र-कुर्र तोड़ता हुआ जब ठण्डे

पानी को गले में उतारा तो बड़ी राहत महसूस हुई। वह अभी आराम की मुद्रा में ही था कि सेठ पूरनमल की रसभरी वाणी उसके कानों से टकराई—

‘अच्छा कर लेते हैं। कविता लिखते होंगे जरूर; और सुन्दर काण्ड का कण्ठस्थ होना बड़ी अच्छी बात लगी, राम-राम।’

‘जी।’ उसने कहा।

‘तो ऐसा कीजिये कि सुन्दर काण्ड को पूरा मुक्तक में करके लाइये। पूरे पाँच सौ रुपये दूँगा।’

‘वह खुश हुआ, लेकिन पैसे को लेकर थोड़ा असमंजस में पड़ा। मन में यह चल रहा था कि पैसे इससे अधिक होते होंगे लेकिन उसे पता भी चले तो कैसे कि इस काम का पैसा होता भी है तो कितना? वह अभी यही सब सोच रहा था कि सेठ की भारी आवाज़ गूँजी—

‘क्यों पैसा कम लग रहा है? यह कम नहीं है। हम पाँच सौ रुपये में महीने भर चाकरी कराते हैं। देखिये, यहाँ जितने लोग हैं, सबका पगार पाँच सौ ही है, राम-राम।’

‘नहीं-नहीं, यह नहीं सोच रहा। कभी किया नहीं, तो मैं जानूँ भी क्या कि इस काम का कितना मिलता है।’

सेठ को जाने क्या सूझा, उन्होंने सौ रुपया और जोड़ दिया और कहा—‘पूरे छह सौ देंगे, पर दस दिन में काम चाहिए। जल्दी छापना है, राम-राम।’

‘कोशिश करेंगे, अपनी पढ़ाई भी है, सामने परीक्षा है, फिर भी भरोसा रखिये।’

सेठ को शायद विश्वास हुआ हो। पेशगी के तौर पर सौ का एक नोट पकड़ाते हुए वे बोले—‘करते चलिए तो बहुत फायदा होगा। यह पेशगी इसलिए है कि आप काम जल्दी पूरा कर लें। इसे अपनी बख्शीश हर्गिज न समझियेगा, यह काम करने के पैसे हैं, राम-राम।’

प्रभाकर ने हामी भरी। सेठ पूरनमल ने उसका नाम पता रजिस्टर में लिखकर उसमें पेशगी के सौ रुपये दर्ज कर उससे हस्ताक्षर कराया

और कहा—‘तो फिर मिलते हैं पण्डित जी, राम-राम।’

प्रभाकर चला तो खुश था, कोई काम तो मिला। धर्म संस्थान की बँधी आय से वह थोड़ा निश्चिन्त हो गया था लेकिन उसके छूटने से मुश्किल आ पड़ी थी। अब अन्दर से हल्का महसूस करता प्रभाकर खुशी महसूस कर रहा था। सोच रहा था कि जब पैसे पूरे मिल जाएँगे तो वह क्या-क्या करेगा। तब उसका घर भी दृश्य की भाँति समाने तैरता दिखा। उसकी बाट जोहते माँ की पनीली आँखें, पिता के कमजोर कन्धे, भाई-बहन की प्रतीक्षा और पत्नी की उम्मीदें; एक साथ दिखे उसे। उसे गाँव से आए लम्बा समय हो गया था। याद किया तो तड़प उठा। लगा कि सब छोड़-छाड़ अपने घर को चला जाए। कितना झेले वह और क्या-क्या करे कि जी सके। लेकिन सोचकर हिम्मत हारने का यह समय न था। सामने परीक्षा थी और अब तक लगातार झेलते रहने की फलश्रुति भी वही थी। सब अनुकूल होगा, तो जाना घर ही है। यूँ पीठ दिखाकर अब तक के किये-धरे पर मिट्टी डालकर भागना अपनी हँसी ही उड़वानी थी। यहाँ तो जो उड़ता, वह तो उड़ता ही, गाँव की फब्जियों को कैसे सहता। घर के लोग कुछ भी न कहेंगे लेकिन पास-पड़ोस के लोग हँसकर निहाल होंगे—दिल्ली पढ़ने गये थे। होश ठिकाने आया तो भाग चले। अरे, अरे मेहरी की याद आयी होगी, सो भाग आया। माता-पिता भले कुछ न कहें, पर उनका आसरा भी तो टूटेगा। लौटने पर उसे मिलेगा क्या अपयश के अलावा; और वह फिर करेगा क्या?

उसने माथा झटका, थकी और पस्त पड़ी देह से चिकट बनियान निकालकर नहाया, तो थोड़ा आराम मिला और यादों से छुटकारा भी। कल उसे विश्वविद्यालय जाना था। सम्भवतः परीक्षा के पहले अन्तिम बार। परीक्षा का प्रवेश-पत्र भी लेना था। लेकिन उसने सबसे पहले सुन्दर काण्ड के रूपान्तरण का काम आरम्भ किया और तीन-चार घण्टे लगातार लगे रहकर उसके दस पृष्ठ सम्पन्न कर डाले। उसे विश्वास हो आया कि वह दस दिन के पहले ही इस काम को पूरा

कर लेगा और शेष पैसे लाएगा। फिर कोई नया काम, फिर उसके बाद नया और नया...।

उस दिन थके होने के बावजूद उत्साह और खुशी में वह इतना निश्चिन्त हुआ कि रात में कोई भयावना सपना न आया। सोया तो खूब नींद आयी और सुबह तक बेसुध पड़ा रहा। कहते हैं कि उम्मीद और आसरा जब आदमी को सहारा देने लगते हैं, तो उसके सूने मन में रंग तैरने लगते हैं। उसे जीने का अर्थ नज़र आने लगता है और उसे लगने लगता है कि वह भी अकारथ नहीं है, उसका भी कोई मूल्य है, कोई मशरफ है और उसके हारते हुए पल कहीं ठहर से जाते हैं जैसे बादलों के बीच कभी-कभी सूरज ठहरा सा प्रतीत होता है। उन ठहरे हुए पलों में आदमी को अपने होने के न जाने कितने चित्र दिखने लगते हैं जो उसके भविष्य को गढ़ रहे होते हैं। निराश आदमी के जीवन में इन ठहरे पलों का बड़ा अर्थ होता है, भले ही वह उसकी कल्पना में हों; लेकिन होने जरूर चाहिएँ।

दूसरे दिन प्रभाकर विश्वविद्यालय गया और परीक्षा का प्रवेश-पत्र लिया। उसकी आँखें इधर-उधर दौड़ रही थीं और निश्चय ही खोज कुमुद की ही थी। कई दिन से उससे भेंट नहीं हुई थी। पर काफी खोजबीन के बाद भी वह न दिखी, तो वह कैन्टीन के पीछे एक पेड़ के नीचे बैठकर सुस्ताने लगा। इरादा साफ था कि धूप थोड़ी कम हो तो वह निकले। लेकिन उसे आश्चर्य हुआ जब कुमुद उधर ही आती दिखी। उसके हाथ में भी प्रवेश-पत्र था। चेहरे की रंगत उड़ी दिख रही थी और उसके बाल बेतरतीब ऐसे कि चिड़िया ने घोसला बना लिया हो। बहुत परेशान और थकी-थकी सी दिखती कुमुद आयी तो नमस्ते करके सामने के पत्थर पर बैठ गयी। कुछ समय तक चुप्पी रही, फिर कुमुद ने ही सिलसिले को आगे बढ़ाया—

‘कहाँ रहे इतने दिन, गायब ही हो गये अचानक।’

‘नहीं तो, दुनिया भर के जंजाल और एक अकेला आदमी मैं।
क्या करूँ?’

‘इसीलिए तो कहती हूँ कि इस जंजाल का संगी बना लो तो रास्ता
आसान हो जाए।’

उसने ऐसा दिखाया कि कुछ सुना ही न हो। चुप रहा और फिर
पूछा—

‘तबीयत ठीक नहीं लगती तुम्हारी। कुछ हुआ क्या। चेहरा उड़ा
लगता है, देह बेतरतीब बिखरी सी, बात क्या है?’

‘नहीं, नहीं, कुछ नहीं। सब ठीक है। तबीयत का क्या है, वह
कभी-कभी ढीली हो जाती है। अधिक भाग-दौड़ हुई तो थकान से
बुखार आ जाता है। दवा लेने पर ठीक हो जाता है। कल बुखार आ
गया था।’

‘अच्छा! ध्यान रखना चाहिए। सामने परीक्षा है। सेहत बिगड़ी तो
किस्मत बिगड़ जाएगी।’

‘किस्मत तो पहले से बिगड़ी हुई है, अब क्या उसे बिगड़ना है।’
कुमुद ने प्रभाकर की बात के उत्तर में कहा था।

दोनों एक-दूसरे से ऐसे ही विरत रहकर देर तक बैठे रहे, जाने
क्या सोचते हों। कोई हिल भी नहीं रहा था। प्रभाकर की आदत थी
कि वह मन से स्थिर नहीं रह पाता था। कहीं बैठे होने पर भी वह
जाने कहाँ विचरता रहता और अपनी सुधि भी न होती। ऐसा व्यक्ति
दया का ही पात्र हो सकता है, उससे उम्मीद भी कोई क्या करे। ऐसे
व्यक्ति से कोई प्रेम भी करे, तो वह उसका मूल्य क्या जाने। इसी उम्र
में जीवन ने उसे इतना थका दिया था कि लगता, अन्दर से खाली सा
हो गया है। न कोई चाह, न उमंग, न स्फूर्ति, न कोई सपना बस, जब
देखो अपना रोना, अपनी समस्याएँ, दुख; जैसे यह केवल उसी के
साथ है, कोई और तो सुखी ही सुखी है। कुमुद टूटी हुई थी। लन्दन
वाले रिश्ते को लेकर परिवार के विरुद्ध जाकर उसने घर तक छोड़
दिया था। वह एक रिश्तेदार के यहाँ रह रही थी जो उसके निर्णय के

साथ थे और इतने दिनों बाद मिलने पर भी प्रभाकर उससे कुछ नहीं पूछ रहा था।

कुमुद कब तक यूँ ही बैठती; चलने को हुई तो प्रभाकर ने रुकने को कहा। वह बिफर कर बोली—

‘बैठकर क्या करेंगे ऐसे ही पथर बनकर। तुम कुछ बोलते नहीं और मेरी हालत बोलने की है नहीं। इससे अच्छा है, रास्ता लें।’

यह सुनकर प्रभाकर जैसे सोते से जागा—‘ओह, तुमने बताया नहीं कि आगे क्या हुआ?’

‘किस बारे में?’

‘अरे, वही शादी वाले मामले में?’

‘तुमने पूछा ही कब कि बताऊँ; और अब उसका कोई फायदा नहीं।’

‘मतलब।’

‘मैंने साफ इनकार कर दिया है। घर में काफी झगड़ा हुआ। उसके बाद मैं एक रिश्तेदार के यहाँ रह रही हूँ। घर के लोग जब तक अपना मन नहीं बदलते, तब तक मैं वापस नहीं जाऊँगी।’

‘ओह! यह तो बड़ी मुसीबत है। न माने लोग तो? फिर क्या करोगी?’

प्रभाकर के प्रश्न पर तिलमिलाती हुई कुमुद बोली—

‘कुछ नहीं, ऐसे ही जी लेंगे। कोई काम-धन्धा खोजेंगे और गुजारा करेंगे।’

प्रभाकर फिर कुछ कहना चाह रहा था; पर वह उठ खड़ी हुई और चलने को तत्पर दिखी। उसके व्यवहार से साफ लग रहा था कि वह प्रभाकर से नाराज है और ज्यादा बात करने की स्थिति में नहीं है। नाराज वह अपने से भी थी। ऐसी परिस्थिति में कोई भी अपने आपे में नहीं रहता, तो वह भला कैसे रहती। वह कुछ कह पाता, इससे पहले वह लम्बे डग भरती हुई आगे बढ़ गयी।

‘सुनो, सुनो तो’ की टेर अनसुनी रह गयी। थक-हारकर प्रभाकर

भी उसके पीछे हो लिया। वह आगे बढ़ती हुई पीछे मुड़ी तो प्रभाकर को साथ पाया। साथ चलते हुए प्रभाकर ने कहा—‘इतनी बेरुखी क्या ठीक है?’

‘यह बेरुखी तो नहीं। जब खुद से ही जूझ रही हूँ तो बात क्या करूँ?’

‘इसका कोई रास्ता तो होगा?’

‘एक ही रास्ता है कि मैं घरवालों की बात मानकर लन्दन चली जाऊँ और उस डॉक्टर के नाम अपनी ज़िदगी कर दूँ नहीं तो जैसे रहना हो रहूँ।’

‘हूँ’ ही केवल कह पाया था प्रभाकर। साथ चलते दोनों साउथ कैम्पस के बस स्टैण्ड तक गये थे। इस समय स्टैण्ड खाली था। दोनों वहाँ बैठ गये।

‘घरवालों को मनाना चाहिए, उन्हें समझाना चाहिए।’

‘कौन समझायेगा, तुम? छोड़ो भी, यह भी क्या बात कर रहे।’

‘वह तो ठीक है, पर इसी उम्र में शादी क्या जरूरी है? यह तो कहा जा सकता है घरवालों से। अपने उन्हीं रिश्तेदार से कहो कि कहें, जिनके यहाँ तुम रह रही हो।’

‘कोई फायदा नहीं। माँ-बाप इतने हठी हैं कि किसी के सुननेवाले नहीं। उन्हें लग रहा है कि मेरी अकल फिर गयी है जो ऐसे रिश्ते से भाग रही हूँ।’

कहते-कहते कुमुद दोनों हाथों से अपना चेहरा ढाँपे फफक कर रो पड़ी। प्रभाकर क्या करे, समझ में न आता। उसे इसका भी पता नहीं कि लड़की रोए तो मनाएँ कैसे; और वह तो कुमुद थी, उसकी दोस्त। उसने हिम्मत करके उसके कन्धे पर हाथ रखा और समझाते हुए कहा—‘दिल छोटा न करो, मान जाएँगे लोग। आखिर कब तक अपनी सन्तान से दूर रहेंगे। एक दिन देखना, बुला लेंगे। फिर जो कहोगी, वही करेंगे देखना एक दिन, सच कह रहा हूँ।’

उसकी बातें सुनकर सुबकती कुमुद हँस पड़ी। उसे प्रभाकर की

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ , प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों

और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं,

तो हमारे विशेष ➡️  टेलीग्राम चैनल से जुड़ें

और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

 हमारे चैनल में आपको मिलेगा:

 अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)

 प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)

 धार्मिक ग्रंथ और किताबें

 विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य

 बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)

 और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खजाने

 कृपया "Join Now" बटन या लिंक पर Click करें!

HINDI BOOKS CHANNEL

[Join Now](#)  (धार्मिक, आजादी, इतिहास...से सबधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नई, पुरानी किताबों के लिए)

Join Now 

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

Join Now 

https://t.me/Google_Ebooks

Join Now 

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

Join Now 

<https://t.me/Hindilibrary>

भोली बातों से हँसी आ गयी थी। वह मन ही मन सोच रही थी; ऐसा भोला आदमी भी इसी दुनिया में है जो कुछ नहीं जानता अपने संघर्षों के अलावा। उसने उसका मन रखने के लिए कहा—

‘हो सकता है, मान जाएँ। मान ही जाएँगे, क्यों चिन्ता करना। थोड़े ही दिन लागेंगे।’

‘हाँ, बिल्कुल।’

‘तुम चिन्ता मत करो। जो होगा, ठीक ही होगा। और चिन्ता तुम्हें करनी ही क्यों चाहिए, रास्ते अलग-अलग हैं हमारे।’

कुमुद की इस बात से प्रभाकर तड़प उठा। उसे जाने क्या लगा कि बोला—

‘किस तरह की बातें कर रही हो जैसे कि मैं गैर हूँ, कुछ कह-सुन नहीं सकता।’

कुमुद अचानक चुप हो गयी। वह खड़ी हो गयी। प्रभाकर भी साथ ही खड़ा हो गया। दिन ढलने को था, लौटना भी था। वह अब क्या कहे, क्या न कहे के असमंजस में पड़ा था कि कुमुद का दायঁ हाथ उसके कन्धे पर आया महसूस हुआ। हाथ को जस का तस रहने देकर उसने कुमुद की आँखों में झाँका। दो निर्दोष आँखें पनीली हो गयी थीं। कुछ क्षण की चुप्पी के बाद कुमुद ने कहा—‘मेरी समस्या का निदान तुम कर सकते हो, अगर मेरी मदद करो।’

प्रभाकर अचकचाता हुआ बोला—

‘वह कैसे?’

‘मुझसे शादी करके।’

कुमुद के कहे पर प्रभाकर विस्मित हो गया। यह क्या हो गया इसे। वह कुछ बोलने की हालत में न था। बस उससे इतना ही कह सका कि बात करेंगे और चलने को हुआ। पर कुमुद यूँ उसे जाने देने को तैयार न दिखी, बोली—

‘बिना कुछ कहे कैसे चले जाओगे। यह तो कोई बात न हुई?’

उसने उसे समझाया, देर होने की बात भी और यह भी कि यह

समय ऐसी बातों का नहीं है, न यह उपयुक्त स्थान है जहाँ ऐसी बात की जा सके।

‘पर कब और कहाँ बात होगी, अब तो परीक्षाएँ शुरू होंगी, कक्षाएँ हैं नहीं कि मिलना होगा।’

प्रभाकर ने अगले रविवार को नेहरू पार्क में मिलने की बात की; पर कुमुद किसी छुट्टी के दिन मिलने से परहेज करती दिखी। लेकिन जब प्रभाकर ने रविवार को पुस्तकालय खुलने की बात याद दिलायी, तो वह तैयार हो गयी। उसकी झिझक का स्पष्ट कारण था और वह यह था कि अकारण घर से निकलना सन्देह बढ़ाता, भले ही घर रिश्तेदार का ही क्यों न हो। तो यही तय हुआ कि वे नेहरू पार्क में रविवार को दस बजे तक मिलेंगे। दोनों दो दिशाओं में मुड़े। कुमुद के कदम हल्के उठे तो प्रभाकर के पैर मनों बोझ से भारी हो चले थे।

कुमुद चलते हुए प्रसन्न दिख रही थी मानो चिन्ता का कोई कारण न हो। घर गयी तो रिश्तेदार ने उसे जरूरी नसीहत दी। कैसे रहना है, चिन्ता नहीं करनी है, अपनी सेहत का ख्याल करना है; और इसके साथ-साथ यह प्रचलित जुमला भी उछाला—‘सब ठीक हो जाएगा।’ रिश्तेदार दुर्गेश सिंह उसके मौसा लगते थे। कोई सरकारी अधिकारी थे और बड़ा रोब-दाब था उनका। घर में पत्नी थीं। दो ही बेटे थे जो बंगलौर में रहकर पढ़ते थे। कुमुद की मौसी शर्मिला अपने नाम के अनुकूल लजीली महिला थीं। वे बात करते हुए आँखें झुका लेतीं और पल्लू से सिर हमेशा ढका रहता। हो सकता है कि उनका नामकरण अदाकारा शर्मिला टैगोर की छाया में हुआ हो, पर शर्मिला टैगोर जैसी वह चपल न थीं; हाँ, नाक-नक्श और चेहरे के बनाव-कढ़ाव में वह सुन्दर थीं और माथे पर बड़ी बिन्दी लगाती थीं मानों वे बंगाली बहू हों, पर वे बंगाली न थीं। उनके ठीक उलट कुमुद की माँ यानी शर्मिला की बड़ी बहन कमला तेज-तर्रार और विवाद प्रिय महिला थीं। जितनी जिद्दी, उतनी ही बेलौस। रहम जैसी चीज़ उनमें न थी। उनके स्वभाव से कुमुद के पिता कामेश्वर सिंह डरे रहते थे। उनका

अपना कारोबार था जिससे गुजर-बसर ठीक से चल जाता। लन्दन के डॉक्टर लड़के से कुमुद की शादी की जिद कमला की ही थी। कामेश्वर सिंह ने जब कुमुद का एतराज जान लिया, तो मन न किया कि वे उसपर दबाव बनायें, पर कमला उन्हें जीने दें तब तो वे कुछ कर पायें। अन्ततः कमला के आगे अवश होकर उन्होंने भी वही टेक पकड़ ली थी; साथ तो उनको कमला के ही रहना था!

कुमुद का हालचाल जानने के लिए उसके पिता पत्नी से चोरी-छिपे प्रायः रोज ही दुर्गेश सिंह को फोन कर लेते। घर में मौका न मिलता तो किसी 'पब्लिक बूथ' से करते, पर करते जरूर। दुर्गेश सिंह उनसे छोटे थे लेकिन बात-बात में उन्हें कड़वी बातें भी बोल जाते और नसीहत देते कि बालिग बेटी के साथ इस तरह की जबर्दस्ती ठीक नहीं होती। वे कमला को समझाने को कहते और इस बात पर क्षुब्ध होते कि वे कैसे लोग हैं जो जवान बेटी को छोड़कर निश्चन्त पड़े रहते हैं।

लेकिन कामेश्वर सिंह का भीरू स्वभाव कमला के सामने टिक न पाता, वह एक ही रट लगाये रहती—‘पता है, काम से पाँच हजार रोज़ कमाता है वह। मालूम है, क्या किस्मत जागी है कि कुमुद पर वह लट्टू हुआ है। शादी हुई तो तुम्हारे भी भाग्य बदल जाएँगे। तब लन्दन घूम लेना जाकर, हमें भी ले चलना। जीवन भर दो वक्त की रोटी जुटाने में ही गर्क रहे तुम अपनी औकात पर तो लन्दन जाने से रहे।’

कामेश्वर सिंह क्या बोलते। अपना सा मुँह लिए इधर-उधर भटकते और कुमुद को याद कर घर के किसी कोने में दो-चार आँसू बहा लेते। पत्नी की जिद के आगे वे अवश थे।

इधर कुमुद माँ-बाप के मन बदलने की प्रतीक्षा में थी। स्वभाव से वह सहज और भली थी। उग्रता उसके व्यक्तित्व में न थी, लेकिन यह पहला ही अवसर था जब उसने इस शादी से इनकार किया था। उसके इनकार का एक कारण यह भी था कि उस कथित लन्दन वाले डॉक्टर लड़के ने दो-तीन लड़कियों को पहले भी लन्दन बुलाया था और बाद

में शादी से यह कहकर इनकार कर दिया था कि वे उसके साथ रहने लायक नहीं हैं और पिछड़ी मानसिकता की हैं। वे लड़कियाँ लन्दन से अपने को खोकर लौटी थीं। उन्हीं में से एक ने कुमुद से यह वृत्तान्त सुनाया था और उससे सावधान रहने को कहा था। कुमुद शान्त थी। खाने को मन न हुआ फिर भी मौसी की जिद पर थोड़ा खाकर लेटी तो थकी होने के बावजूद देर तक नींद नहीं आयी। सोच का सिलसिला ऐसा चल निकला कि थमता न था। प्रभाकर के बारे में वह जाने क्या-क्या सोचे चली जा रही थी। लड़का भला है, सीधा और ईमानदार। गरीब लगता है, पर उसमें कुछ कर गुजरने की क्षमता है और लगन भी। कितना अच्छा हो कि उसका साथ मिले, उसका मन उसमें लग जाए। लेकिन जब वह उसके स्वभाव के बारे में सोचती तो अजीब सा अनुभव होता। उसे सहसा उस दिन की याद आयी जब उससे कहीं ले चलने की बात कर रही थी। लाज से लाल होती सोचने लगी, अगर वह बात मान लिया होता तो; फिर क्या होता। क्या वह अपने को गँवा न देती? ना, ना, ऐसा न होता। प्रभाकर ऐसा है ही नहीं जो उस पर अविश्वास किया जाए। बहुत बार तो यह भी लगता है कि उसमें पुरुषोचित कामना है ही नहीं। वह जाने कहाँ खोया रहता है कि अपने में लगता नहीं। उसे वह अब तक रिझा न पायी, अब तक उसके साथ का एकान्त चाहकर भी न मिला, जबकि ऐसे न मालूम कितने अवसर थे। क्या वह दूर भागता है? क्या उसकी कोई विवशता है? कुमुद सोचती जाती, पर कुछ समझ न पाती। फिर एक प्रश्न तेजी से उभरा। अगर वह उसका साथ स्वीकार कर ले, तो क्या माँ-बाप को राजी कर लेगी? नहीं, राजी तो वे हर्गिज न होंगे। यह उसका विद्रोह होगा। तब स्थिति भयावह होगी और खुद से लड़कर जीना होगा। यह सोचकर सहम उठी कुमुद ने जब प्रभाकर को किन्तु-परन्तु से विरत होकर याद किया तो उसके रोम-रोम पुलकित हो उठे। दिल में मीठी अँगीठी सुलग गयी। अब कुछ सोचने में नहीं आता। बस, इस तपिश में रहने को जी चाहता है। देह यूँ ही तपती रहे। आँखें बोझिल पलकों

में छुपी रहें। पोर-पोट टूटता रहे और अंग-प्रत्यंग में फूल खिलते रहें। अचानक सिहर उठी देह एक मीठी लय में गा उठी। अब कहीं कोई चिन्ता न थी, न भय, न कोई उलझन। रविवार की प्रतीक्षा के पलों में बेसुध होकर वह जब सोयी तो बहुत गहरी नींद ने आ घेरा। महीनों बाद उसे ऐसी निश्चिन्तता मिली थी जिसमें वह अपने को पाकर निहाल हुई थी।

प्रभाकर को कोई उलझन न थी। वह निश्चिन्त था। उसे भरोसा देने के लिए ही उसने रविवार का दिन निश्चित किया था। भरोसा यह कि वह अपने निर्णय पर अटल रहे, वह उसके साथ है। एक मित्र की तरह जितना बन पड़े, उसकी मदद वह जरूर करेगा। न वह इसके पीछे था न आगे। उसका अपना एक परिवार था जिसके लिए उसे जीना था और वह जी रहा था। उसे अपने गँवई स्वभाव में ही धन्यता महसूस होती; क्योंकि उसे छोड़कर मन के पीछे-पीछे भागकर उसे जो ज़िदगी मिलती, वह मौत ही होती।

वह गाँव से शहर आया है गाँव को ही जीने, ऐसा वह कभी न चाहेगा कि शहर को जीने लगे। शहर को जब जीने लगेगा तो अपनों का क्या करेगा; और फिर इस जीवन का ठिकाना क्या है, कब तक साथ रहना है। वह यहाँ के जीवन को देख-देखकर वैसे ही कुढ़ता रहता। क्षुद्र कामनाओं की बहती नदी का कोई किनारा नहीं होता। बहती नदी अपने वेग में बहाती जब बलखाती है तब देह बेजान होकर किसी किनारे जा लगती। तब कुछ भी शेष नहीं होता और जिस देह के गुमान में मनुष्य सब कुछ की उपेक्षा कर बढ़ता जाता है; अन्त में अपनी साँसें भी गँवा देता है।

प्रभाकर अपनी सोच का पक्का था और इसी तरह जीने का आदी भी। उसे सिर्फ बसर कर सकने की व्यवस्था मिल जाए, तो वह धीरे-धीरे काम भर का आसरा जुटा लेगा और सबके साथ जी

सकेगा; जिनसे उसने अपनी ज़िदगी ली है और यही उसका दायित्व भी है। वह जानता है कि जिस राह पर है, वह कठिन है, पर इतना भी नहीं कि उसे पार न कर ले। उसे कोई बड़ा सपना नहीं आता। अपने माँ-बाप का सहारा बन जाए, भाई-बहन को किसी ठौर लगा सके और अपनी पत्नी तथा बच्चों की ठीक-ठाक परवरिश कर सके; बस इतना ही।

जो अपने उद्यम से हासिल हो जाए, वही बहुत है। बड़े सपने देखे तो बिखरना होगा, कामनाओं के बाज़ार में गये तो वापस नहीं लौटना, अब तक जिन लोगों ने उसे शरण दी है, साथ दिया है—वे सब के सब सपनों की नहीं, असलियत की ज़िदगी जीते हैं—देह चलती है तो साँसों की लय पर चैन की नींद थिरकती है। आज ही बस आज जीवन है। कल की चिन्ता कर होना क्या है जो करके गर्क हों। रविवार के पहले के दिन बेहद भारी थे। एक तरफ 'राम प्रेस' के लिए 'सुन्दर काण्ड' का मुक्तक में रूपान्तरण, तो दूसरी तरफ कुमुद। उसके भीतर एक संघर्ष जैसा छिड़ा था जो चैन लेने नहीं दे रहा था। कुमुद की उसके प्रति अनुरक्ति, उसकी देखभाल और उसके निश्छल व्यवहार से ऐसा न था कि वह पसीज न गया हो। वह बार-बार सोचता कि एक शहरी लड़की; जिसकी परवरिश एक बेहतर माहौल में हुई, वह सुन्दर और सबसे अलग दिखने वाली लड़की है, जिसके साथ के लिए अनेक सम्भान्त लड़के टोह में फिरा करते हैं उस जैसे फटेहाल ग्रामीण युवक पर उसका रीझना, जिसका अता-पता भी वह नहीं जानती, कोई मामूली बात नहीं थी। उसे कक्षा के दृश्य याद आते, परिसर में घूमने के भी, जब उसके पास कोई न आता। कपड़े-लत्ते और हुलिया से वह निपट देहाती और बेढ़ंगा ही था, उसे कुमुद ने इतना मान दिया—यह उसका बड़ाप्पन है और इस निपट देहाती पर अपने को लुटा देना कोई अनहोनी। इसका प्रतिदान उसके पास नहीं है, वह क्या करे। वह उसका कृतज्ञ हो सकता है, पर उसे स्वीकार करे तो कैसे करे!

आखिरकार रविवार का वह दिन भी आ ही गया जिसका बेसबर इन्तजार कुमुद को था, तो प्रभाकर को भी; कि इस द्वैत से मुक्ति पा सके। जल्दी उठा, नहा-धोकर तैयार हुआ और जो उपलब्ध था, उसे खाकर नेहरू पार्क के लिए चल पड़ा। वहाँ की सीधी बस न थी। वह पहले आर.के. पुरम पहुँचा, फिर सचिवालय जाने वाली एक बस से नेहरू पार्क के स्टैण्ड पर उतरा। समय दस से कुछ अधिक हो गया था। घबराया सा वह विशाल पार्क के गेट के अन्दर दाखिल हुआ तो जाने किस अनुमान से कुमुद को वहीं घास पर बैठा हुआ पाया। अप्रैल का पहला हफ्ता था, धूप अभी बुरी नहीं लगती थी। तीस-बत्तीस बरस पहले की दिल्ली में न इतनी भीड़ थी, न इतना प्रदूषण। अक्टूबर में ही ठण्ड शुरू हो जाती थी जो कई बार अप्रैल शुरू होने तक रहती। न सड़कों पर इतनी भीड़, न बाजारों में। जिंदगी जिनकी गुजरती, पुरसुकून ही होती।

उस दिन कुमुद को देखना कुछ नया देखना था। वह बदली हुई सी थी। होंठों पर पहली बार उसने लाली देखी। आँखों में काजल की हल्की रेखा थी। केश सँवरे हुए किलप में बँधे थे और पीछे एक लम्बी चोटी में बँधा हुआ लाल रीबन। सलवार-शूट का रंग गहरा धानी था जिस पर छींटदार दुपट्ठा खिल रहा था। उसकी गेहूँ जैसी देह पर दिपदिपाते रंग उसकी सारी तकलीफ हर ले रहे थे। उसे देखकर वह जितना खुश था, उतना ही उदास भी था। वह कहेगा क्या, कैसे इस भँवर से निकलेगा और जो होगा उसके बाद क्या उसका साथ रह पायेगा। हे हरि, तुम ही पार लगाना। अपने वश का नहीं कि इस संकट से उबरूँ। प्रभाकर का आस्तिक मन हरि-टेर में लगा था और चेहरे पर मुर्दनी उभर आयी थी।

पास बैठे कुछ समय यूँ ही एक-दूसरे को थाहने-निहारने के बाद कुमुद बोली—

‘क्या हुआ, ठीक तो हो? शीशा दूँ सकल देखोगे अपनी? क्या सूरत बना रखे हो यार।’

‘अरे नहीं, सब ठीक है। दूर है न, तो आने में...जानती ही हो।’
अपने को सँभालते हुए प्रभाकर ने कहा।

‘कोई बात नहीं, और नजदीक आ जाओ, छूत न लगेगी।’

उसके व्यंग्य से सतर्क होकर वह थोड़ा और पास गया, फिर और...जब तक वह सटकर न बैठा, कुमुद की कटुकित झेलता रहा।

‘आओ कुछ खिलाते हैं। कल शाम को अपनी पसन्द की चीज़ बनायी थी।’ कहकर उसने थैले से एक टिफिन निकाला और खोलकर दो इमरतियाँ हाथ में थमा दीं।

वह एक इमरती लेकर मुँह में डालने लगा, तो कुमुद ने हाथ पकड़कर कहा—‘तुम यार, यह जान-बूझकर करते हो या अकल नहीं, मेरी समझ में नहीं आता। पहले मुझे तो खिलाओ।’

प्रभाकर ने इमरती उसकी तरफ बढ़ाया। उसने उसका एक कोना जरा सा काटा और उसे संकेत किया कि वह अब खा ले। दोनों में इमरती का यह विनिमय तब तक चला जब तक वह उड़न-छू न हो गयी।

उसके बाद कहने-सुनने का लम्बा सिलसिला चला। मीठी बातें भी हुईं तो तिक्त करती नोंक-झोंक भी। अब वह मूल बात थी जिस पर दोनों को लौटना था। प्रभाकर ने ही बात शुरू की, कहा—‘अब बताओ, क्या कहना चाहती हो। क्या चाहिए मुझसे?’

‘तुम जानते तो हो कि पसन्द हो मुझे। प्रेम है, यह भी जान चुके हो। ऐसे में अगर तुम जीवन-संगी बनो तो मेरा संकट दूर हो। इसके लिए जो चाहोगे, करूँगी, पर राजी तो हो तुम?’

सुनकर प्रभाकर हैरान न हुआ। उसे मालूम था कि कुमुद यही कहेगी। वह कुछ क्षण की चुप्पी के बाद बोला—

‘कभी यह अवसर आया नहीं कि तुमसे फुर्सत में बात करूँ। अपने निजी जीवन के बारे में बताऊँ। मैं विवाहित हूँ कुमुद, ऐसे में जीवन-संगी कैसे बना सकता हूँ।’

प्रभाकर की बातें सुनकर कुमुद काठ हो गयी। उसे प्रभाकर की

बातों पर यकीन नहीं हो रहा था। उसने कहा—

‘यह विश्वास करने की बात तो नहीं लग रही कि तुम विवाहित हो। अधिक से अधिक चौबीस-पच्चीस के होगे और शादी भी हो गयी, क्या बात करते हो तुम भी प्रभाकर? तुम्हें कोई और बहाना करना था अगर इनकार ही था तो?’

‘तुम्हें कैसे समझाऊँ कुमुद। सिर्फ ग्यारह साल का था तो शादी हो गयी थी। मेरे दादा की जिद पर पिता ने शादी करने का निर्णय लिया था। बड़ी सन्तान मैं ही था और माँ अक्सर बीमार रहा करती थी।’

‘कहते-कहते अन्दर से फूट पड़ा था प्रभाकर। उसकी आँखों से अविरल बहते आँसू इस बात के गवाह थे कि वह झूठ नहीं बोल रहा है। कुमुद ने अपने दुपट्टे से उसके आँसू पोंछे और कहा—

‘फिर।’

‘फिर क्या? तीन साल बाद गवना हुआ और जब चौदह का था तो पत्नी घर आयी। इन्हीं परिस्थितियों से लड़ता-मरता जैसे-तैसे पढ़ता रहा और यहाँ आया कि जीवन को कोई राह मिले।’

‘तब तो बच्चे भी होंगे?’

‘हाँ, तीन हैं। एक बेटी, जो बड़ी है और दो बेटे। अभी छोटे हैं और मुझे सबके लिए जीना होता है, उस पत्नी के लिए भी; जो जबरन मेरे साथ बाँध दी गयी। अब तो उसी का निवाह मेरा धर्म भी है—सोचकर देखो कि उसका बलिदान कितना बड़ा है?’

‘समझ रही हूँ। सब कुछ समझ में आ रहा है। कैसे-कैसे तो माँ-बाप होते हैं जो कभी सोचते भी नहीं कि वे कितना बड़ा अपराध कर रहे हैं। एक बच्चे की ज़िदगी को इस तरह मसल देने का अपराध...उपर्फक। अब समझी कि तुम कभी एक सामान्य युवक की तरह क्यों नहीं लगते थे। क्यों तुममें कभी कोई कामना नहीं जागी। तुम हमेशा सबके बोझ तले दबे रहे और उनके प्रति जिम्मेदारी और नैतिकताबोध ने तुम्हें कभी जीने ही नहीं दिया।’

कहकर कुमुद रो पड़ी। उसका चेहरा आँसुओं से भींग गया।

अपना दुख लेकर आयी थी, पर यहाँ तो प्रभाकर के ही दुख ने उसको रुला डाला था। अब वह क्या करती, उपाय भी दूसरा क्या था। वह देर तक चुप रही, प्रभाकर भी चुप्पी साधे सिर झुकाये बैठा था। कुमुद को कुछ सूझा तो बोली—

‘क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मुझे भी पत्नी स्वीकार कर लो। न बाजा-गाजा, न शादी की रस्म; पर पत्नी—मानद पत्नी, जिससे मैं शादी की चिन्ता से निकल सकूँ और बिना किसी अपेक्षा के तुम्हें वरण कर जी सकूँ। इसमें तो कोई बाधा नहीं न?’

‘यह कैसी बात कर रही हो कुमुद। यह कल्पना है और एक ऐसी कल्पना, जो वास्तविक नहीं हो सकती। तुम्हें इस तरह कोई रहने देगा जो रह लोगी? जो सम्बन्ध सार्वजनिक नहीं हो पाते क्या उसे समाज स्वीकार कर पाता है? नहीं न। यह तुम्हारा अतिशय अनुराग है, गहरी आसक्ति है जिसका मैं ऋणी हूँ। पर ऐसा होता नहीं न। तुम स्वयं इसकी स्वीकृति न पा सकोगी; और यदि सामाजिक स्वीकृति की अनदेखी भी कर लो, तो भी अपने जीवन को सदा के लिए वेदना में डालना होगा। और एक बात यह भी तो है कि अगर मुझे कोई राह मिली, जीवन-बसर करने लायक कुछ कमा सका, तो परिवार को लाना होगा। ऐसे में भावुक निर्णय कब तक टिक पाएगा; इसीलिए व्यावहारिक बुद्धि यह नहीं कहती कि ऐसा कोई निर्णय किया जाए जो जीवन को मृत्यु में बदल दे।’

प्रभाकर की बातें कठोर थीं, पर सच थीं। वह अपनी बातों में खरा था और राह मिल जाने पर भी एक चोर की तरह उसपर चलने को तैयार न था। कुमुद को उसका यह खरापन पसन्द आया और उसका आचरण भी। वह बोली—‘ठीक कहते हो, यह उचित नहीं है। पर हम कैसे रहेंगे और क्या रिश्ता होगा हमारा?’

‘ज़ाहिर है, एक मित्र की भाँति रहेंगे। हर तरह की कामना से मुक्त और एक-दूसरे के दायित्व से बँधे हुए।’

प्रभाकर की बातों से उसे करार हुआ। लेकिन वह अपने प्रेम का

क्या करे ? उस अनुराग का क्या हो जो उसे हमेशा जलाये रखता है ?
बदल चुकी दुनिया में इस नये अनुभव के कारण कैसे जिये वह ।

प्रभाकर उसकी मनःस्थिति समझ रहा था । वह खुद भी तो ऐसे दो राहे पर खड़ा था जहाँ केवल उलझन थी, राह कोई न थी । वह निरा पत्थर न था । उसमें भी दिल था जो फड़कता था, कामनाएँ थीं, तो अतृप्ति की ठहरी हुई झील भी; जो बह उठना चाहती थी—जिसे जब्त कर वह जीता चला जा रहा था । उसे मालूम था कि झील बही, तो वह स्वयं भी बह जाएगा । अपने को थामे रखना ही एकमात्र उपाय है । उत्तेजना में उठे कदम लौटकर घर की तरफ नहीं आ सकेंगे और उसे वैसे ही उखाड़ फेंकेंगे जैसे भुरभुरी ज़मीन लम्बे समय तक किसी पेड़ की जड़ें बर्दाशत नहीं करती और उसे गिरा डालती है । वह मन के वेग से नहीं चल सकता, न भावना के वशीभूत होकर अपने को गँवा सकता है । उसने सूने और बंजर जीवन में कुमुद की उपस्थिति को सावन के पहले दौँगरे की तरह महसूस कर उसे एक पूँजी की तरह सँभालकर रख लिया । वादे किये, तो आँसुओं में अपनी विवशता को बहाया भी । उसके हाथ को अपने माथे पर रखकर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता भी व्यक्त की ।

दोनों ने एक-दूसरे के प्रति अपने निस्पृह प्रेम की शपथ ली । दोनों के दुख और सन्ताप दूर होते दिखे, यह एक नयी शुरुआत थी । इस शुरुआत में विगत न था, वर्तमान था और आगत के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा थी । वे चले तो पाँव हल्के उठे । अब वे उन अपेक्षाओं से मुक्त थे जिसने उनमें मनोमालित्य ला दिया था । वे एक-दूसरे के लिए थे, पर कोई बन्धन न था । कुमुद में एक नया जीवन उत्तर आया था । उसके मन में दृढ़ आशा उमग आयी थी; जो होगा अच्छा ही होगा । और प्रभाकर भी एक नैतिक संकट से उबरकर खुश था । मित्रता की यह एक नयी परिभाषा थी जो प्रेम की राह से निकली थी । दुख में दोनों थे । पर मित्रवत् साथ का सुख उस दुख पर भारी था ।

प्रभाकर का मन हल्का हुआ तो सुन्दरकाण्ड वाला काम हफ्ते भर में पूरा हो गया। सेठ पूरनमल उसके काम से बड़े खुश हुए और बकाया पाँच की जगह छह सौ देकर उसे निहालकर दिया। परीक्षा की तैयारी को ध्यान में रखकर उसने आगे के लिए कोई काम न लिया। कहा था कि महीना-डेढ़ महीना बाद आकर कोई नाम काम लेगा। सेठ ने हामी भरी थी और कहा था—‘जब मन हो आइये, पर आइये जरूर, जुड़े रहेंगे तो फायदा होगा, राम-राम।’

राम-राम ही कहकर प्रभाकर वहाँ से खुश होकर चला था। आया तो हीरालाल के कुछ बकाया पैसे चुकता किये और शेष पास में रख अपनी तैयारियों में जुटा। इस बीच आलोचक महोदय के यहाँ जाना भी उसने बन्दकर दिया था; क्योंकि समय का अभाव था और पिछले दो महीने से उन्होंने भी बकाया लगा रखा था। समय खराब करके बेगारी करना ठीक न था। उसने बहुत नजदीक से बड़े नामों के पीछे छुपी धूर्तता को पहचाना था और भ्रम के परदे को हटा दिया था। फिलहाल ‘राम प्रेस’ ही उसका एकमात्र आसरा था जहाँ से काम लेकर खर्च के पैसे जुट सकते थे लेकिन अभी वह भी सम्भव न था।

उसे चिन्तित देख हीरालाल ने धैर्य से काम लेने की सलाह दी और जरूरत के पैसे देने की बात भी कही। वैसे भी मकान के किराये से लेकर चूल्हे-चौके का खर्च वे ही देखते थे। प्रभाकर के पास जब होता तो अपने हिस्से के पैसे चुकाता। हीरालाल के साथ रहने से उसे बड़ी राहत थी।

हीरालाल का पुश्तैनी पेशा बढ़ईगीरी का था। अधिक पढ़े-लिखे न थे। घर में आर्थिक तंगी बढ़ी तो पिता ने समझा-बुझाकर कहा कि उन्हें कुछ कमाना चाहिए। तब उनकी उम्र अट्टारह की रही होगी। शादी हो गयी थी। ज़मीन थी नहीं जो खेती हो। भीत का घर जर्जर हाल में था। पिता बूढ़े मेवालाल की काया अब रन्दा मारने और आरी चलाने से भय खाती थी। उनके काँपते हाथ न बसुला चला पाते, न हथौड़ा। आँखें भी जवाब दे रही थीं। ऐसे में पुश्तैनी पेशा अपनाकर

हीरालाल भी कुछ कमा-धमा तो लेते ही, पर उनका मन न माना और उन्होंने अपने एक रिश्तेदार के बुलावे पर दिल्ली का रास्ता लिया। यहाँ आकर हीरालाल ने बहुत मेहनत की और उसी का परिणाम था कि अब वे एक लोहा पीटने की फैक्ट्री में हेड टर्नर हो गये थे। उनका पुश्तैनी पेशा काम आ गया था और लोहे की चादरों की खराद में वे कुशल हो गये थे।

काम तो मेहनत का था। आठ-दस घण्टे वे खराद मशीन पर लोहे की चादरों की खराद करते और जखरत पड़ने पर ओवर टाइम भी लेते। उस समय वे दो हजार माहवार तक कमा लेते थे, पर उनके हाथ फोड़ों से पट गये थे और इतने सख्त थे कि छू लें तो देह छील जाए। फैक्ट्री से लौटते तो बना-खाकर ऐसे बेसुध सोते कि अब उठना ही न हो। अपनी मेहनत से उन्होंने पास में ही ज़मीन का एक टुकड़ा खरीद लिया था। गाँव की गृहस्थी भी चलने लगी थी। अपनी मेहनत के बल पर हीरालाल ने भीत के ढहते घर को ईटों के घर में बदल दिया था। आदमी इतने भले कि हमेशा दूसरों की सहायता के लिए तत्पर रहते। जितने सहज, उतने ही नेकदिल हीरालाल सबके चहेते थे। उनकी योजना थी कि दो-चार बरस में ली हुई ज़मीन पर दो कमरे डाल लें, तो बीवी-बच्चों को लाएँ। इसी धुन में वे इतना काम करते कि रात-दिन का फर्क भूल जाते।

नगेसर महतो पास की ही फैक्ट्री में हेल्पर था। अविवाहित रमण माँ-बाप और भाई-बहनों के लिए काम करता था। शादी के नाम से ही चिढ़ने वाला नगेसर चाहता था कि अपने दो छोटे भाइयों को कम से कम इतना पढ़ा दे कि वे उसकी तरह लोहा पीटने का काम न कर सकें। हीरालाल तो चालीस पार थे, पर नगेसर अभी बीस का भी न हुआ था। वह भी इतना भला था कि प्रभाकर को पढ़ते समय किसी काम के लिए न कहता और उसके निराश होने पर समझाता भी। कहता कि दिन सबके बहुरते हैं। मेहनत से सब कुछ हासिल होता है। हौसला बनाये रखना चाहिए। वह टूटा तो इस परदेस में सँभालेगा

कौन। सब तो हम बिहारियों को भिखारी ही समझते हैं। अपनी मेहनत का खाते हैं, दूसरे लोगों से कम पैसे पाते हैं फिर भी गाली हमलोग ही सुनते हैं जैसे कि हम चोरी करते हैं। कभी-कभी उसे फैकट्री का अधेड़ सरदार गालियाँ देता था, तो नगेसर बहुत उदास हो जाता था। जवाब देता तो नौकरी जाती। ऐसे में हीरालाल उसे समझाते—‘हेल्पर का काम, काम करने के साथ-साथ गाली सुनना भी है। लगन से काम करके मिस्त्री या फीटर बन जाओ तो यह झंझट खत्म हो।’ नगेसर रात में रोज पास के एक तकनीकी प्रशिक्षण केन्द्र में जाता था जो रात में ऐसे ही लोगों के लिए चलता था। वहाँ वह फीटर की ट्रेनिंग ले रहा था जिसमें उसका आधा वेतन चला जा रहा था। सब तरफ दुख था और उसका पसारा। दुख सबके एक से थे लेकिन उसके सहने और जीने के रास्ते अलग।

रात को जब तीनों जुटते तो दुख एक ग्रन्थ की तरह खुल जाता जिसे कोई एक भी पढ़ता तो सबकी कथाएँ दृश्य की तरह खुलती जातीं। दुख फटे कपड़ों में था, औंधे पड़े अल्युमीनियम के बर्तनों में, तेज आवाज़ से भभक उठने वाले पुराने स्टोव में था, बीस गज के प्लॉट पर खड़े इस कमरे की जर्जर दीवारों में था, तो उस फोलिंडिंग चारपाई में भी था जिसका एक कोना जाने कैसे तिरछा खड़ा हो गया था कि वह चारों पायों पर बैठती न थी। दुख था तो उसको भेदने के यह तीन बाँकुड़े भी थे जो उसे खुशी-खुशी जीकर उसका स्वागत कर रहे थे। उन्हें भरोसा था कि वह जाएगा और जरूर जाएगा, कब जाएगा—यह भले मालूम न हो।

इस तरह दुख को ओढ़ते-बिछाते यह लोग एक-दूसरे के आँसुओं में उतरते, अभाव की लम्बी भयावनी रात को काटते और एक स्वर से मानों मुनादी करते—हम थकने-हारने वाले नहीं हैं कि हताश होकर टूट जाएँ।

नौ

प्रभाकर की परीक्षा शुरू थी। आठ परचे की परीक्षा डेढ़ महीने तक चलनी थी। एक-एक परचे के बीच एक-एक हफ्ते का विराम था जो उसके लिए राहत की बात थी। इस अवधि में वह पढ़ने और परीक्षा देने के अलावा कहीं न गया। दिन-रात थका देने वाली मेहनत करके जो उसने तैयारी की थी, वह काम आने लगी थी। परचों के बीच एक-एक हफ्ते का विराम आने वाले परचे की तैयारी में सहायक बनता। वह सम्भावित प्रश्नों के नोट्स को बार-बार दोहराता, फिर उसे लिखता और इस तरह आश्वस्त होकर परचे हल करता। जब-जब वह परीक्षा देने जाता, कुमुद से भेंट होती। वह पहले से अधिक आश्वस्त और दृढ़ नज़र आती जिसे देख वह खुश होता। इस बीच उसके माँ-बाप ने उसकी जिद पर शादी की बात टाल दी थी। रिश्तेदारों के समझाने-बुझाने से उन लोगों की समझ में यह बात आ गयी थी कि उनके द्वारा उठाया जा रहा कदम अनुचित है। माँ-बाप चाहे कोई हो, वह सन्तान के लिए अनुचित निर्णय नहीं लेते। बात समझ में आ जाए तो वे अहित करने वाले कदम वापस मोड़ लेते हैं। असल बात उनको ठीक से समझाने की है और उनमें यह बैठाने की, कि उनका निर्णय उनकी सन्तान के हित में नहीं है। समस्या तब बढ़ती है जब उन्हें लगता है कि सन्तान ही अपने हितों के विरुद्ध जा रही है और उनके उठाये गये सही कदम की अवहेलना कर उनकी प्रतिष्ठा को गिरा रही है। जब उनकी समझ में यह बात आ गयी कि लन्दन

वाले कथित डॉक्टर युवक की यह आदत है कि वह लड़कियों को देखने के बहाने लन्दन बुलाकर उनके साथ गलत व्यवहार करता है और फिर छोड़ देता है, तो उन्हें लग गया कि उस अव्याश युवक के पास कुमुद को भेजना उचित नहीं। बाद में उन लोगों ने सन्देश भेजकर यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे ऐसा लड़का चाहते हैं जो आसपास रहता हो। इस तरह वह बात ही अब समाप्त हो गयी थी।

प्रभाकर को यह जानकर बहुत खुशी हुई थी कि कुमुद अपने घर लौट गयी है और आसन्न संकट से मुक्ति मिली है। उसके माता-पिता ने उसको इस बात के लिए राजी भी कर लिया था कि आगे जब भी शादी की बात होगी, वह तैयार होगी। शादी यहीं होगी और लड़का उनकी पसन्द का होगा जिसे वह भी स्वीकार करेगी।

कुमुद पहले से बेहतर थी, थोड़ी सी निश्चित भी। पर उसमें अब प्रभाकर के प्रति पहले सी अनुरक्ति न थी। वह मिलती जरूर, टिफिन से कुछ खिलाती भी; लेकिन वह समर्पण-भाव कम दिखता जो उसमें रहा था। प्रभाकर को यह ठीक ही लगता कि उसके दबाव से उसे छुट्टी मिली है। हालाँकि रह-रहकर उसमें कचोट सी भी उठती जिसे वह बमुश्किल थामता। था तो वह मनुष्य ही, कोई साधु-सन्त नहीं कि उसमें कोई कामना ही न जागे।

बहरहाल, परीक्षाएँ सम्पन्न हो गयीं और पर्चे अपने जाने ठीक ही हुए थे; सो, प्रभाकर को उम्मीद थी कि वह ठीक-ठाक अंकों से उत्तीर्ण हो जाएगा। इसी दौरान उसने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एम.फिल. में प्रवेश के लिए लिखित परीक्षा दी थी। वहाँ प्रवेश हो जाने से रहने की दिक्कत खत्म हो जाती और एक नये वातावरण में जीवन को नया आकार मिलता। उम्मीद थी, सपने भी थे; पर होनी उसके हाथ में न थी। जो होना था, उसे स्वीकार करके ही चलने की विवशता थी। फिलहाल उसके पास कोई काम न था; घर की याद भी बरबस उसे सताती। कई चिट्ठियाँ भी इस बीच घर से आयी थीं जिनमें उसके घर आने की बात लिखी थी और दुनियाभर के दुखों का

पसारा भी। किसी को यह चाहिए, किसी को वह चाहिए। किसी को इससे मतलब ही क्या था कि उसका जीवन किस तरह चल रहा है, यह भी जानने की जरूरत समझी जाए। लेकिन यह बात तो ठीक ही थी कि उसे घर जाना चाहिए, तीन बरस होने को आए। अब तक तो उसके बच्चे कुछ और बड़े हो गये होंगे। इस बीच गाँव में कई लोग गुजर गये थे। गाँव की दशा अब पहले से अधिक खराब थी। जाना तो था, पर जेब में फूटी कौड़ी न थी। राम प्रेस से मिले पैसे हवा हो गये थे और ऊपर से हीरालाल के कुछ पैसे भी उसके सिर लद गये थे। जाए तो कैसे और किस तरह। हीरालाल से अब पैसे लेना उचित न था, दूसरा कौन था जिससे वह उधार लेता। इसी उधेड़बुन में उसे राम प्रेस के सेठ पूरनमल की सुधि आयी। उसने सोचा कि कोई काम लेकर उनसे कुछ पैसे ले सके तो शायद व्यवस्था बन आए कि वह गाँव जा सके। वह इसी उम्मीद से सेठ पूरनमल से मिलने गया। सेठ ने प्रेमपूर्वक बिठाया, आवभगत की। उसने आने का प्रयोजन बताया। पर सेठ तो सेठ ठहरे। वे काम के बदले पैसा देने के आदी थे। उम्मीद पर पैसे देना उनके उसूल के खिलाफ था। बोले—

‘काम ले जाते और पन्ध्रह-बीस दिन में भी करके ला देते, तो पैसे देने में कोई हर्ज न था। अब महीने-दो महीने की उम्मीद पर पैसे देना अपने से होता नहीं, राम-राम।’

उसने भरसक उन्हें समझाने की कोशिश की, कहा—काम करके पार्सल से भेज देंगे। पर सेठ तैयार न हुए। बस इतना ही कहा कि लौटकर आइये तो काम लीजिए और पैसे भी, अभी के लिए क्षमा।

वह क्या करता। अपना सा मुँह लिए लौट आया। अरसे बाद उसकी स्थिति बहुत दयनीय हो चली थी। कहीं से कोई उम्मीद नहीं दिख रही थी। हीरालाल से कहते संकोच था। पुराने पैसे चुकता करे तो फिर माँगे। गाँव जाना था; पर कैसे जाए; करे क्या, मुश्किल स्थिति थी। तब उसके नजदीकी स्टेशन सीवान तक जाने का रेल किराया अस्सी रूपये लगते थे। पास में सिर्फ पचास का

एक नोट पड़ा था जिसे जब तब वह हाथ में लेता और देखता रहता। हीरालाल रहते भले साथ थे पर उसकी इस दशा से अनजान थे। वह क्या-क्या बताये, क्या-क्या छुपाये की हालत से जूझता अक्सर अपनी व्यथा मन में ही गोए रहता था। कोई उपाय न देख उसने पिता की खरीदी घड़ी को बन्धक रखकर पैसे लेने की बात सोची। आसपास कुछ पैसे देने-लेने का काम करने वाले ऐसी चीजें गिरवी रखकर पैसे देते थे। रिको फाइव नामक घड़ी उसके पिता ने 1981 में खरीदकर दी थी, जब वह मैट्रिक की परीक्षा में अच्छे अंकों से पास हुआ था। उससे उसे बहुत मोह भी था, पर दूसरी कोई चीज़ उसके पास थी भी नहीं जिस पर वह पैसे लेता। घर जाना जरूरी था।

अन्ततः एक व्यक्ति की मदद से उसने राजदीप धारीवाल नामक व्यक्ति से रिको फाइव घड़ी बन्धक रखकर ढाई सौ रुपये प्राप्त किये। घड़ी की पूरी कीमत देकर वह रख लेना चाह रहा था, पर पिता की स्मृति के कारण उसने इससे इनकार किया। चार सौ में घड़ी बेच देना उसे उचित न लगा था; क्योंकि तब भी बाज़ार में उसकी कीमत आठ सौ से कम न थी। तय हुआ कि गिरवी के एवज में उसे प्रतिमाह साढ़े बारह रुपये ब्याज अदा करना होगा। दो साल तक यदि घड़ी वापस न ली गयी तो घड़ी उसकी हो जाएगी। प्रभाकर ने इसी मजमून से तैयार कागज पर हस्ताक्षर किये और उन सज्जन ने, जो मध्यस्थ थे, बतौर गवाह सह जमानतदार अपनी ठप्पा मय दस्तखत की। सूनी कलाई के साथ लौटते प्रभाकर की आँखें भर गयी थीं और दिल बेतरह जल रहा था। पर उपाय न था और गाँव जाना ही था।

दूसरे दिन तय हुआ कि जाना है। तब हीरालाल ने अपने भाई के नाम एक चिट्ठी और सौ रुपये का एक नोट दिया था कि उन्हें देकर हालचाल कहें और बतायें कि सब ठीक है। प्रभाकर ने उसी शाम पन्द्रह-पन्द्रह रुपये की कुछ भुक्तिया घड़ियाँ बच्चों के लिए खरीदीं। चालीस रुपये में लुगदी से बनने वाला एक सूटकेश खरीदा। माँ के लिए एक बीस रुपये की एक साड़ी ली और हिसाब बिठाया

तो उतने पैसे अभी बचे रह गये थे जिससे वह गाँव जा सकता था।

दूसरे दिन शाम तक वह गाँव पहुँचा था। गाँव अब भी वैसा ही था जैसा उसके छोड़ने के समय था। वही अभाव, दुख और नाउम्मीदी। सब तरफ युवा लम्पटों की भीड़। आए दिन चोरियाँ और दहशत। यह 1990 का मध्य था। बिहार में लालू यादव का शासन शुरू हो गया था। अभी उन्हें लेकर बड़े-बड़े सपने पाले जा रहे थे और इन स्वप्नदर्शियों में हर वर्ग के लोग शामिल थे। रोजी-रोजगार, पलायन, सड़क, बिजली, शिक्षा व्यवस्था और बन्द होते जा रहे उद्योग धन्धों को फिर से नया जीवन देने जैसी अनगिनत समस्याओं का एकमात्र निदान लोग लालू यादव में देख रहे थे। तब वे काँग्रेस के कुशासन के विकल्प थे और ज़मीन से जुड़े होने के नाते माना जा रहा था कि वे सभी समस्याओं से परिचित हैं इसलिए उनसे उम्मीद व्यर्थ न थी कि वे सबका निदान करेंगे। यह अलग बात है कि उनके सत्तासीन होते ही बिहार भर में नये सत्ताकेन्द्र उभरे और प्रभाकर के जिले में उनके यादव रिश्तेदारों ने पुराने सभी केन्द्रों को बेदखल कर उन्हीं रास्तों को पकड़ लिया था जिससे पिछले सत्ताकेन्द्र लूट का केन्द्र बने हुए थे।

लालू यादव चूँकि उसी जनपद से थे इसलिए लोग आशान्वित थे कि वे जरूर कुछ न कुछ ऐसा करेंगे जिससे उनका जनपद विकास के मार्ग पर चल पड़ेगा। आजादी के बाद इस जिले के एक ही मुख्यमन्त्री हुए थे अब्दुल गफूर; जिन्होंने 1977 में सम्पूर्ण क्रान्ति आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए पटना के गांधी मैदान में जयप्रकाश नारायण पर लाठियाँ चलवाई थीं। लालू यादव सम्पूर्ण क्रान्ति आन्दोलन से निकले जयप्रकाश बाबू को आदर्श मानने वाले नेता थे इसलिए उम्मीद और आसरे के प्रतीक पुरुष लगते थे; बातें भी ऐसी ही करते थे—पर धरातल पर काम दिखना बाकी था।

घर में सभी खुश हुए। माँ की आँखें जुड़ा गयीं तो पिता के चेहरे

पर मुस्कान दिखी। भाई-बहन भैया-भैया कहकर खिलखिलाए। बच्चे पास आने से डरते थे सो वे दूर-दूर से किलकते दिखे। तब माँ-बाप के सामने अपने बच्चों को खेलाना-पुचकारना बेशर्मी मानी जाती थी। प्रभाकर इस लीक पर चलते हुए ही दिल्ली गया था; इसलिए बच्चे उससे हिले-मिले न थे। पत्नी देहरी की सीमा में रहते सूचना पाकर खुश हो रही होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। वह भी एक समय था जब घर की मर्यादा ही इसमें थी कि दिन के उजाले में पत्नियों से मिलना या बात करना निषिद्ध माना जाता था। प्रभाकर इस मर्यादा को तोड़कर सार्वजनिक निन्दा से बचने का यथासम्भव प्रयत्न करता। उसकी कमसिन पत्नी सुबह से लेकर देर रात तक चूल्हे-चौके में उलझी रहती। गेहूँ से जाँत पीसकर आटा निकालना हो या ढेंका चलाकर धान कूटकर चावल निकालना हो; झाड़ू-बुहारू, कपड़े-लते की सफाई और डलिया-मउनी बुनने की उसकी ऐसी कड़ी ड्यूटी थी कि केवल ठठरी बची थी। उसमें भी यदि कोई काम दायें-बायें हो गया तो वही जानती कि क्या गुजरता। चूल्हा भी गन्ने के पत्तों, मकई के डण्ठलों से ही जलता। सबके घरों का यह भाग्य न था कि लकड़ी पर रसोई बने। उस पर बच्चों को पालना-पोसना और दूसरे बहुत से काम; जिस फेहरिश्त में गये तो निकल न सकें।

छोटे भाई-बहनों ने घड़ी सँभाली और उसकी भुकभुक करती रोशनी देख उलछने लगे। प्रभाकर को खुशी हुई, पर दुख भी यह था कि वह अपने बच्चों के लिए कुछ न ला सका था। लाता तो यह दोष मढ़ा जाता कि वह अब अपने बच्चों को पहचानने लगा है। उसके बच्चे जहाँ और जिस तरह थे; उसमें मगन थे। उन्हें कोई शिकायत न थी।

माँ के पूछने पर उसने अपना कुशलक्षेम बताया। पिता चुप ही रहे। अपनी ही तकलीफों में घिरे रहने वाले वे भला पूछते भी क्या, जब बेटा अपनी ही बदौलत नाना तरह के दुख काटकर एक अज्ञात लक्ष्य के लिए जूझ रहा है। उसे स्वयं पता नहीं कि वह पाएगा

क्या और किसलिए इतना झेल रहा है। वह उन असंख्य युवकों के दिशाहीन युद्ध की एक संख्या भर है जिसे पता नहीं कि आगे क्या होना है। एक अँधेरी गुफा है जिसमें रोशनी की खोज ही उसका लक्ष्य है। रोशनी है भी, यह उसे नहीं मालूम।

खेतीबाड़ी की स्थिति खस्ताहाल है। पूँजी न लगे तो खेत में उपज क्या हो। घर की दीवारें अब तब कर रही हैं। छत जर्जर हो चुकी है और बारिश का वेग सहने में असमर्थ है। कहीं कोई आय का जरिया नहीं और खर्चे सँभाले नहीं सँभलते। बच्चे हैं तो पढ़ेंगे। उनके कपड़े-लते, फीस, पर्व-त्योहार, नेवत-निमन्त्रण कैसे चले यह सब। मुश्किल है बहुत मुश्किल। मानों पिता उससे यही कह रहे हैं। वह घर का बड़ा लड़का है न, न सुने तो दूसरा कौन सुनेगा। दिल्ली से वह जिस सन्ताप को झेलकर लौटा था, वह फिर भी बहुत कम था। यहाँ की दशा देख-समझकर लगने लगा कि अधिक दिन तक रुकना अपने को बीमार बनाना है और अन्दर से रिक्त हो जाना।

और सचमुच वह दूसरे दिन ही बीमार पड़े गया था। लगातार भागते-दौड़ते, खान-पान की असुविधा और अचानक ठहराव ने उसे जो खाट पर गिराया तो उसे होश ही नहीं रहा। पहले बदन दर्द के साथ मामूली बुखार हुआ, फिर उल्टियाँ आती रहीं। उसके बाद पता नहीं कैसे उसे मलेरिया हो गया। दवा लेता रहा, पर देह में जान ही नहीं महसूस होती। बमुश्किल वह अपने नित्यकर्म कर पाता और खाट पर पड़ा रहता। घर के लोग तिमारदारी करते, साहस बढ़ाते पर अन्दर से बुरी तरह कमजोर हो चुका प्रभाकर कराहता ही रहता। इस तरह पड़े-पड़े लम्बा अरसा हो गया। दवा लेता तो कुछ घण्टों बुखार उतर जाता, पर फिर चढ़ जाता। उन दिनों बुखार चाहे सामान्य हो या मलेरिया या मियादी हो, एक अजीब चलन यह था कि रोगी को फल और अधिक से अधिक दूध दिया जाता। दूध और फल की उपलब्धता न होने पर साबूदाना उबालकर दिया जाता। मौसम चाहे जो हो, कम्बल ओढ़िये, दवा खाइये, इंजेक्शन लीजिये और पड़े रहिये। इस हालत में

मरीज की देह टूट जाती और बहुधा कमजोर लोग महज बुखार से ही अन्तिम यात्रा पर निकल जाया करते। उसकी स्थिति भी कुछ-कुछ ऐसी ही हो गयी थी। घर के लोग चिन्तित थे। पास के बाज़ार का झोला छाप डॉक्टर रोज आता और नामालूम सा कोई इंजेक्शन घोंपकर दवाएँ लिखता और सांत्वना देकर चला जाता। पहले बाँह में और फिर कूल्हे में इंजेक्शन ले लेकर उसकी हालत और भी खराब हो रही थी।

बीच-बीच में सुधार होता और स्थिति फिर बिगड़ जाती। घर में तंगी और परेशानी का वातावरण था। वह इन्तज़ार कर रहा था कि ठीक हो जाए तो दिल्ली लौट जाए ताकि रोज ब रोज होने वाली किच-किच से बचे। अभाव में मर्यादा का बिगड़ना वह नित्य ही देखता। बात-बात में कहासुनी हो जाती और वह मन मसोसकर खाट पर लेटा रहता। बीच-बीच में गाँव का कोई आदमी उसे देखने के बहाने आकर कुछ लाग-लगेन की बातें बोल जाता। पिता के कन्धे वैसे ही गृहस्थी के भार से अवश हो रहे थे, उसमें किसी-किसी की कटुकित उसमें अधिक त्रासकारी बन जाती। कोई कहता—‘अब लड़के को कहिये कि यहीं रहे और अपने लायक काम-वाम करे, दिल्ली सबके वश की बात नहीं।’ कोई कहता—‘मान लो पढ़ भी लिया तो नौकरी बिना लिये-दिये तो न होगी। और जब देने की हैसियत नहीं तो क्यों दिन में सपने देखने की आदत बनायें। अच्छा होगा कि यहीं पर कुछ करे और सामने रहे।’ यह सब सुन-सुनकर पिता झल्ला जाते और माँ की आँखें छलछला जातीं। पत्नी चूल्हे में झुलसती अपने भाग्य पर बिसूरती। बच्चे उसकी खाट के आसपास निरीह भाव से निहारते उदास डोलते-फिरते। उसे भी रह-रहकर ग्लानि होती। सोचता कि न आया होता तो अच्छा रहा होता। गृहस्थी का समय है और वह आकर सब पर बोझ बन गया है। पन्द्रह दिन आए हो गये और तबीयत में सुधार दिखाई नहीं देता।

कुछ दिन बाद जाँच हुई तो पता चला कि उसे मियादी बुखार हो गया है। यह बड़ी चिन्ता की बात थी। मियादी बुखार यानी टायफायड

बहुत खतरनाक बुखार है, ठीक-ठाक इलाज न हुआ तो जानलेवा हो सकता है। शहर के डॉक्टर की बात से वह दहल गया था। देह बेजान सी हो चली थी, वह क्या करता और क्या कहता। बहरहाल, दवा शुरू हुई और कुछ जरूरी इन्तजाम हुए तो बुखार पर असर पड़ा और वह राहत देने लगा। आगे के पन्द्रह दिन और बीते। देखते-देखते जुलाई निकल गया। आषाढ़ में धान की रोपनी के लिए पिता ने जो इधर-उधर से कर्ज लेकर पूँजी जुटाई थी, वह उसके इलाज में लग गयी। वह ठीक होने लगा था, पर यह जान-सुनकर उसे बड़ी पीड़ा होती। तब दिल छोटा करना और मन-मसोसकर रह जाने के सिवा उसके पास कोई चारा भी न होता कि कुछ कह पाये। आखिर वह किस आसरे पर किसी को भरोसा भी दे। अपना पेट और खर्च चलाते उसका दम बेदम हो गया था; वह कहाँ से इतना कर पायेगा कि तंगहाल परिवार को सहारा दे सकेगा। जब अपनी अवशता बर्दाश्त न होती, तो उसकी आँखें झर-झर आँसुओं से नहा उठतीं और वह मुँह छुपाये देर तक सुबकता रहता। पत्नी उसे देख अपनी आँखों में ही बोलती। उसकी आँखें सजल हो जातीं और दिनभर ढुलकती रहतीं। वह लगातार आँखें पोंछती रहती कि कोई उसकी इस दशा को देख न ले। जबान सिली रहती और घरेलू काम के इतने दबाव होते कि सोचने भर को फुर्सत न होती; बोलने का तो अखिलयार ही न था। कभी दरवाज़ा खोल उसे दूर से निहार लेती और सुबकती हुई भाग जाती।

अगस्त का महीना शुरू हो गया था। बुखार से उबर कर वह अब घर से द्वार तक टहलने लगा था। इस बीच दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के एक मित्र का पोस्टकार्ड मिला कि एम.फिल. की लिखित परीक्षा उसने पास कर लिया है सो नामांकन के लिए मौखिकी देना जरूरी है और प्रस्तावित शोध का सिनोप्सिस भी। मन में खुशी हुई, पर देह की हालत यह न थी कि वह जल्दी घर से निकल सके। इस कमजोर देह के साथ बेसहारा प्रभाकर का दिल्ली जाना खतरे से खाली न था। वह मन मसोसकर पड़ा रहा। घर के लोगों ने

भी कहीं जाने की सलाह न दी। हफ्ते-दस दिन तक जैसे-तैसे घर में रहने के बाद जब वह चलने-फिरने लायक हुआ तो घर से निकलने की जुगत में जुटा। उसे मालूम था कि विलम्ब हुआ तो साल खराब हो जाएगी। उसे एम.ए. के नतीजे की खबर मिल चुकी थी जो बहुत अच्छी तो न थी, पर सन्तोषजनक थी और वह ठीक-ठाक अंकों के साथ पास हो गया था।

सम्भवतः ग्यारह अगस्त की बात रही होगी जब घर के लोगों को समझा-बुझाकर वह दिल्ली के लिए निकला था। अपने एक मित्र से किराये का पैसा लेकर यह भरोसा देकर निकला था कि जल्दी ही कुछ अच्छा होगा। यहाँ पड़े रहकर होना भी क्या है जो होगा। वह जाएगा तो कोई उम्मीद बनेगी, कोई काम भी कर पाएगा वह। कुछ पैसे मिले तो घर के ही काम आएँगे। वह जब निकला था तो देहरी के भीतर मौन प्रार्थना में झुकी पत्नी की आँखें बरस रही थीं और मुँह सिले थे। आँखें माता-पिता की भी गीली थीं, पर उनमें एक उम्मीद थी और आशीर्वाद में दुख दूर होने की लालसा से किंचित भींगे शब्द; जिनमें बेटे के स्वास्थ्य की चिन्ता और उसके संघर्ष को समझने की कोशिश न थी, थी तो बस किसी तरह बन सकने वाले आय के जरिये की चिन्ता थी; जिससे उनके दुख दूर हो सकें।

सम्बन्ध सदा स्वार्थी होते हैं, यह नहीं कह सकते। माता-पिता भी स्वार्थी हो सकते हैं, इसे तो बिल्कुल नहीं कहा जा सकता। पर विवशता, लाचारी और गरीबी की अवस्थाएँ ऐसी ही होती हैं जो आप में स्वार्थ भर दें और आत्मा को मलिन कर दें। आप अपना कर्तव्य भूल जाएँ और केवल अधिकार ही याद रह जाए। तब नैतिकता के मान बदल जाते हैं, मूल्य के अर्थ भी; और किसी भी तरह से अर्जित किया जाने वाला धन अर्थम नहीं लगता। गरीबी एक ही होती है, पर वह नाना तरह के पापाचारों को जन्म देती है और फिर भी वह जाने का नाम नहीं लेती; जाती भी कभी नहीं। हम समझते हैं कि धनागम से गरीबी चली जाती है, हम अभाव का जीवन छोड़ वैभव-विलास

का जीवन जीने लगते हैं तब महसूस करते हैं कि समृद्ध हो गये। पर नहीं, गरीबी के दिनों में पैदा हुई व्याधियाँ हमें मन से, आत्मा से और शुभ वृत्तियों से खोखला करती जाती हैं और हममें अबाध लोभ और लालसाओं की अग्नि अपनी लपट बढ़ाती झुलसाती जाती है। हमें सन्तोष नहीं होता। तृष्णा बढ़ती ही रहती है और वैभव में जीते हुए भी हम मनुष्य के रूप में अपने को खोकर इतने बौने हो जाते हैं कि कभी भान भी नहीं होता कि हम इतने गिर चुके हैं। पैसे और प्रभुता को हम तब अपनी सम्पन्नता समझ लेते हैं और असल दरिद्रता को भाँप ही नहीं पाते।

यह गरीबी कड़ी परीक्षा लेती है। जो इसमें जीना सीखकर अपने अर्थ को व्यर्थ नहीं करता, उसका वह कुछ नहीं बिगाड़ पाती; पर जो उस पर बलिहारी जाने को तत्पर होता है, उसे वह सदा के लिए मिटा देती है। तब पहचान का एकमात्र आधार वैभव होता है—व्यक्ति नहीं; और यही उसके पतन का साक्ष्य होता है।

बेटा पढ़े-लिखे, कमाये; सबकी जरूरतें पूरी करे, इससे कौन इनकार करेगा और किस बेटे को इससे परहेज होगा? पर उसके प्रति माँ-बाप का एक निश्चित कर्तव्य है कि वह यथासम्भव उसका दायित्व उठायें।

प्रभाकर जाते हुए सोचता जाता और अन्दर से उठती हूक से बेजार होता। माँ-बाप किसी के बुरे नहीं होते, बुरी होती है अभाव की मार; जो मन से शुभ को मिटा डालती है और उसमें सांसारिक एषणाओं का पातक भरकर सोचने-समझने की शक्ति भी हर लेती है। यह सभी सम्बन्धों की फलश्रुति होती है जिसमें आत्मीय स्निग्धता का सोता सूख जाता है और अपने हित की कामना ही सर्वोपरि हो उठती है। तब यह विचार सोचने में भी नहीं आता कि जिससे उम्मीद और आसरे की इतनी ही तीव्रता है उसकी तनिक चिन्ता भी की जाए।

इस तरह जाने क्या-क्या सोचता ट्रेन के सवारी डिब्बे में बैठा प्रभाकर अपना घर-बार, पहचान छोड़ उस तपते रेगिस्तान की तरफ

बढ़ा जा रहा था जहाँ आश्रय नहीं है, जहाँ दिन काटने भर की मोहलत नहीं। वह उस घर से जा रहा जहाँ उसे इतने पैसे भी न मिल सके कि अगले नामांकन की चिन्ता से मुक्त हो सके। वह कहे तो किसे ग़लत, किसे दोषी ठहराये और ऐसा सोचे भी तो क्यों? बेसहारा और नाउम्मीदी के बीच सिर्फ वह ही था जिसमें लड़ सकने का हौसला था और इसी हौसले से वह अपनी तक़दीर बदलने चला था।

बहरहाल, वह आया और दिल्ली की उसी दुनिया में आ जमा जहाँ से थक-हारकर गाँव लौटा था। तबीयत तो ठीक हो गयी थी, पर अभी बहुत कमजोरी थी। पैर ज़मीन पर गड़ाये नहीं गड़ते थे और देह बेहद शिथिल और कमजोर हो गयी थी। एक-दो दिन अभी हिलने-डुलने की सूरत न थी। हीरालाल और नगेसर ने भी उसे कहीं न जाने की सलाह दी और भरसक उसकी आवभगत की। दो दिन आराम करने के बाद जब उसने एम.फिल. के नामांकन के सिलसिले में पूछताछ की, तो सचाई जानकर उसे बहुत तकलीफ हुई। हुआ यह कि उसके पास सिप्पोसिस के साथ साक्षात्कार देने वाली चिट्ठी पहुँची ही न थी जिसके अनुसार उसे 22 जुलाई, 1990 को साक्षात्कार देना था; उस विषय पर, जिस पर उसे एम.फिल. के तहत शोध करना होता। एक बार फिर भाग्य ने उसके साथ खिलवाड़ किया था। हालाँकि उसे इसकी सूचना भी मिली होती, तो वह आने की सूरत में न होता। वह बुखार में था और सम्भव ही न था कि आ सकता। वह भ्रम में था कि लिखित परीक्षा में पास हो जाने भर से ही उसका नामांकन हो जाएगा। उसकी प्रतीक्षा लम्बी हो गयी; क्योंकि अब वह दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.फिल. करने का इच्छुक न था।

उसने कुछ दिन राम प्रेस से कुछ काम लेकर किया और जो पैसे मिले, उससे काम चलाये। गिरवी रखी घड़ी को छुड़ाने का प्रबन्ध न हो पाया था जिसका मलाल उसे था। राम प्रेस का काम थोड़ा कम

था। वहाँ इस बीच लोगों की भीड़ बढ़ गयी थी। पैसे में कटौती कर सेठ पूरनमल लोगों में काम बाँटते और मजे में रहते। ऐसी स्थिति व्यापारिक सोचवालों के लिए अच्छी ही होती है; क्योंकि इससे उनका काम भी हो जाता है और जरूरत से ज्यादा मुनाफा भी। वह दो-चार बार वहाँ गया और जैसे लोगों की भीड़ वहाँ देखी उससे वह विरक्त सा हो गया। कई लोग तो वहाँ ऐसे भी आते जो शराब के नशे में झूमते चलते और लगातार सिगरेट पीते। उनके मुँह से बदबू आती, व्यवहार उनका अभद्र होता, पर इससे सेठ पूरनमल को फर्क नहीं पड़ता था। उन्हें तो काम से मतलब था। वे बात-बात में राम-राम करते और अपना काम बनाने में मशगूल रहते। इस तरह तंगी होने के बावजूद उसने वहाँ जाना छोड़ दिया। वैसे भी वह काम उसे ठीक न लगता। लगता कि वह कोई भारी अपराध कर रहा है। शास्त्रीय और उत्कृष्ट रचनाओं का रूपान्तर करना उन्हें नष्ट ही करना होता। लोगों तक सहज भाषा में उन्हें पहुँचाने के चक्कर में सेठ पूरनमल को यह भान ही नहीं होता था कि इससे उन महत्वपूर्ण पुस्तकों का सत्यानाश हो रहा है। उन्हें इससे फर्क भी क्यों पड़ना था, वे व्यवसायी थे और व्यवसाय में मुनाफा महत्वपूर्ण होता है, मूल्य नहीं। उनका मूल्य बस इतना ही था कि सुबह नहा-धोकर अगरबती जला लें, माथे पर तिलक लगाकर राम-राम करते रहें और जिस विधि से धनागम हो, उसकी जुगत में लगे रहें।

इस बीच उन्होंने अनेक गायकों के ऑडियो रिकॉर्ड भी जारी कर दिये थे जिसमें रूपान्तरित पुस्तकों के गायन की रिकॉर्डिंग के कैसेट बिका करते। इन्हीं रिकॉर्डिंग में प्रभाकर का किया 'सुन्दर काण्ड' का रूपान्तर भी था जिस पर रूपान्तरकार का नाम सेठ पूरनमल ही लिखा था। इसी तरह छपी हुई पुस्तिका में भी सेठ पूरनमल ही रूपान्तरकार के रूप में मुद्रित थे। इस बात का भी उसे क्षोभ था और अन्दर से गहरा अपराधबोध भी कि उसे यह काम हर्गिज नहीं करना चाहिए था; पर अब तो यह अपराध उससे हो चुका था।

उसने अब साहस करके अङ्गबारों में कुछ लिखने का मन बनाया। धीरे-धीरे इसमें भी गति आयी और देखते-देखते कई अङ्गबारों में छोटी-छोटी सामयिक टिप्पणियाँ, पुस्तक समीक्षाएँ आदि छपने लगीं। वह किताबें लाता और पढ़कर उनपर टिप्पणियाँ लिखता। कुछ समय बाद वह नाटकों की प्रस्तुतियों पर भी टिप्पणियाँ लिखने लगा और अङ्गबारों में वह छपने भी लगीं। इसके लिए उसे मेहनत करनी पड़ती। नाटक देखना, अङ्गबारों के दफ्तर जाकर नियमित अपना लिखा देना उसका आए दिन का काम हो गया। अङ्गबारों से तीन महीने बाद ही पैसे आते थे, पर आते जरूर थे। इसके लिए उसने पहली बार बैंक में खाता खुलवाया, क्योंकि पैसे चेक में आते थे।

इसके साथ-साथ उसने एक ट्यूशन एजेन्सी में सौ रुपये देकर पंजीयन भी कराया ताकि कोई ट्यूशन मिल जाए तो जीना थोड़ा आसान हो जाए। तब दिल्ली में पी.टी.बी. यानी प्राइवेट ट्यूटर ब्यूरो नाम की एक एजेन्सी बड़ी मशहूर थी जो उन परिवारों को ट्यूटर उपलब्ध कराती थी जिनके बच्चे अपने घर में ही ट्यूशन पढ़ते थे। एक ट्यूटर एक या दो विषय पढ़ाया करता। एक विषय का पाँच से सात सौ रुपये मिलते थे। पैसे ट्यूशन ब्यूरो जाकर ही प्रतिमाह लेना पड़ता था। ब्यूरो ट्यूटर्स से सौ रुपये कमीशन काटकर शेष पैसे देती। उसका यह काम भी चल गया और हिन्दी सहित राजनीतिशास्त्र के दो ट्यूशन एक ही परिवार में मिल गये। इस तरह जो पैसे मिलते वे भरण-पोषण का काम चलाते। हफ्ते में एक दिन वह अङ्गबारों के दफ्तर जाया करता और एक-दो शामें नाटक देखने में बिताता। इस तरह उसके मन में धीरे-धीरे यह विश्वास आने लगा कि वह अपने उद्यम से जी सकता है और शायद कुछ पा भी सके। एम.फिल. में प्रवेश न होने की गहरी पीड़ा उसमें थी, पर उसका कोई उपाय न था। उसे तो अब प्रतीक्षा ही करनी थी और पुनः फॉर्म भरने से लेकर परीक्षा देने और इण्टरव्यू तक पहुँचने की प्रक्रिया से गुजरना था। उसे यह प्रतीक्षा स्वीकार थी; क्योंकि प्रवेश के बाद उसे हॉस्टल में कमरा

आसानी से मिल जाता और मेस में रियायती दर पर भोजन भी; इससे उसका संघर्ष आसान हो जाता। यह सुविधा ही उसके सन्तोष का कारण थी जिसके बारे में आश्वस्त होकर वह अपने को भावुक न होने देता।

इस बीच उसके कामकाज में रेडियो भी आ जुड़ा था। कुछ दिन पहले दिल्ली आकाशवाणी केन्द्र के एक कार्यक्रम अधिकारी से नाटक देखने के दौरान उसका परिचय हुआ जिससे वार्ता कार्यक्रम और साक्षात्कार लेने जैसे आयोजनों में उसे मौका मिलने लगा था। उसमें जाना उसे गौरव से भर देता। शुरू-शुरू में उसका उच्चारण बाधा बना, पर उसने अभ्यास करके उसे ठीक किया। उसने इस खाली वर्ष को रोटी-प्रबन्धन के साथ-साथ अपनी क्षमताओं के विकास में लगाया और उसका अनुकूल परिणाम पाकर प्रसन्नता पायी।

लेकिन यह प्रसन्नता अधिक दिनों तक न चल सकी। 13 अगस्त, 1990 को मण्डल कमीशन की सिफारिशें लागू करने की अधिसूचना जारी कर तत्कालीन प्रधानमन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने बड़ा जुआ खेल दिया था जिसकी प्रतिक्रिया धीरे-धीरे राष्ट्रव्यापी होने लगी थी। सितम्बर की उनीस तारीख को दिल्ली विश्वविद्यालय के एक छात्र एस.एस. चौहान ने आत्मदाह कर लिया। नौकरी और विश्वविद्यालय के नामांकनों में अन्य पिछड़ी जातियों के लिए सत्ताईस प्रतिशत के आरक्षण की व्यवस्था ने जन-जीवन को आन्दोलित कर दिया था। दिल्ली की सड़कें आन्दोलनकारियों की उपद्रवी भीड़ से पटी रहने लगीं। कहीं बसें जलतीं, कहीं दूसरी गाड़ियों में आग लगाया जाता। विद्यार्थियों ने कक्षाओं का बहिष्कार किया, जगह-जगह धरने, प्रदर्शन और हिंसा से लोग घरों में दुबके रहने को मजबूर हुए। इसी बीच दिल्ली विश्वविद्यालय के देशबन्धु कॉलेज के एक छात्र राजीव गोस्वामी ने अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के सामने ही आत्मदाह की कोशिश की। धीरे-धीरे नरमी बरतती पुलिस अब सख्त हुई तो स्थिति भयावह हो चली। सरकारी दबाव से छात्रों के आन्दोलन

को खत्म कराने की कोशिशों में कॉलेज और विश्वविद्यालय प्रशासन भी जुट गये। इसी बीच हरियाणा के किसानों ने आरक्षण के खिलाफ मोर्चा खोल दिया। किसानों के आन्दोलन में भी कई बार गोलियाँ चलीं और अनेक किसान मारे गये।

गरज यह कि देश के अशान्त होने के साथ-साथ दिल्ली दहक रही थी और यहाँ का जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। इसी दौरान भारतीय जनता पार्टी के नेता लालकृष्ण आडवाणी ने अयोध्या में बाबरी मस्जिद की जगह राम मन्दिर बनाने को लेकर रामरथ यात्रा निकालने की घोषणा कर दी। यह रथयात्रा विश्वहिन्दू परिषद् के समर्थन में घोषित हुई थी जो अयोध्या में राम मन्दिर निर्माण को लेकर आन्दोलन कर रही थी। राष्ट्रीय स्तर पर इस यात्रा को रोकने के प्रयास हुए, पर वे विफल रहे। आडवाणी ने 25 सितम्बर 1990 को गुजरात के सोमनाथ मन्दिर से अपनी रथयात्रा शुरू कर दी। इस यात्रा से देश में एक और राजनीतिक-धार्मिक उबाल आया तथा स्थिति बेहद डरावनी हो गयी। 30 अक्टूबर 1990 को आडवाणी को अयोध्या पहुँचना था जहाँ हजारों स्वयंसेवक उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, पर 23 अक्टूबर को ही बिहार के तत्कालीन मुख्यमन्त्री लालू प्रसाद यादव ने समस्तीपुर में उन्हें गिरफ्तार करवाकर रथयात्रा की मुहिम को रोक दिया था। फलतः देश में आरक्षण और मन्दिर समर्थन के दो सक्रिय धड़े तैयार हुए और देश की शान्ति में भूचाल आया। इधर आडवाणी की गिरफ्तारी के बाद भाजपा की समर्थन वापसी से विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ग्यारह महीने में ही गिर गयी।

कुल मिलाकर यह स्थितियाँ आने वाली भारतीय राजनीति के लिए ही नहीं, समूचे देश के लिए नये परिवर्तन का संकेतक थीं। इसमें क्या शुभ होना था, क्या अशुभ; इसे तो समय को तय करना था। पर प्रभाकर की पटरी पर लौटती ज़िंदगी फिर डाँवाडोल हो गयी थी। चारों तरफ उत्पात, नारेबाजी और हिंसा। ऐसे में लोग घरों में

दुबके रहने को विवश थे। बसें कम चला करतीं। लोगों को डर होता कि कहीं उपद्रवी बसें रोककर पत्थरबाजी न करने लगें, आगजनी न कर दें। आरक्षण में क्या अच्छा है, क्या बुरा है, तब वह ज्यादा नहीं समझ पाता था। इतना ही समझ पाता कि अब शैक्षणिक संस्थाओं में पिछड़े वर्गों के लिए प्रतिशत के अनुपात से सीटें सुरक्षित होंगी और ठीक इसी तरह नौकरियाँ भी आरक्षित होंगी। मतलब यह कि असंख्य सामान्य वर्ग के लोगों की तरह उसके लिए भी आगे की राह आसान न होगी। यही सोचकर तो छात्र भड़क उठे थे और जगह-जगह उपद्रव कर रहे थे। उस पर अयोध्या में बाबरी मस्जिद की जगह राम मन्दिर निर्माण का आन्दोलन, फिर रथयात्रा मानों राजनीति को धर्म के लबादे में लाकर देश को नये सिरे से आन्दोलित कर देने की कोशिश थी। समाज तब अगड़ा-पिछड़ा के साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम में भी बँटने लगा था। यह देखना भयावह था। जहाँ जाइये, वहाँ यही बहस का विषय था। क्या दफ्तर, क्या दुकान, क्या चौपाल, क्या अखबार, क्या स्कूल-कॉलेज; सब तरफ विघटन की मनहूस हवा बहती और वातावरण को विषाक्त किये रहती।

इस स्थिति के कारण महीनों वह घर में ही दुबका रहा। न ट्यूशन जा सका, न अखबारों के दफ्तर। जो थोड़े-बहुत पैसे मिले, उससे काम चल रहा था। अनिश्चितता के इस समय में वह स्वयं भी अनिश्चित ही था। जैसा जीवन अनिश्चित, वैसा ही वह स्वयं भी अनिश्चित। कल का कुछ पता नहीं; और अब जीवन की राह अधिक कठिन दिख रही थी। कठिन इसलिए कि अब गरीबी की जाति तय कर दी गयी थी। वह सोचता तो सोचता जाता और फिर लम्बी चुप्पी साथ लेता। जाने कब इस देश में ऐसे लोग हो सकेंगे जो असल समस्याओं को बोट से नहीं, सोच से सुलझाने का प्रयास करेंगे। उसकी समझ में जो भी आ पाता, वह उसमें प्रतिक्रिया जगाता, पर उसे वह अपना काम न मान वापस अपनी राह लौट आता। फिर तय करता कि उसे अपने गन्तव्य की चिन्ता करनी है। जो होना होगा,

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ , प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों

और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं,

तो हमारे विशेष ➡️  टेलीग्राम चैनल से जुड़ें

और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

 हमारे चैनल में आपको मिलेगा:

 अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)

 प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)

 धार्मिक ग्रंथ और किताबें

 विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य

 बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)

 और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खजाने

 कृपया "Join Now" बटन या लिंक पर Click करें!

HINDI BOOKS CHANNEL

[Join Now](#)  (धार्मिक, आजादी, इतिहास...से सबधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नई, पुरानी किताबों के लिए)

Join Now 

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

Join Now 

https://t.me/Google_Ebooks

Join Now 

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

Join Now 

<https://t.me/Hindilibrary>

होगा। उसका वह कर ही क्या सकता है जो उसके वश में नहीं।

स्थितियाँ थोड़ी अनुकूल हुई तो उसने एम.फिल. में प्रवेश के लिए निकले फॉर्म को भरा। यह सम्भवतः फरवरी का अन्तिम हफ्ता रहा होगा। उसके बाद एक पत्रकार मित्र की मदद से प्रभाकर ने एक वरिष्ठ लेखक से भेंट की जिनके पास पत्र-पत्रिकाओं, कार्ड्स, कैटलॉग्स आदि का जखीरा था। वे चाहते थे कि इनकी व्यवस्थित सूची बनायी जाए। वे एक पत्रिका भी निकालते थे जिसमें उन्हें सहायक की जरूरत थी। प्रभाकर इस तरह के कामों में निपुण था और ऐसे काम के लिए आवश्यक धैर्य भी उसमें था; इसलिए उसने इस काम को करना मंजूर कर लिया। एक छोटे-से कमरे में एक में एक सटी आलमारियों में ढूँसकर रखी सामग्री को फर्श पर बैठकर तरतीब देने का काम था और फिर उनकी सूची बनानी थी। काम बहुत कठिन, ऊबाऊ और थका देने वाला था। पुरानी सामग्री को झाड़ना, साफ करना तो और भी तकलीफदेह था; क्योंकि उससे जो धूल निकलती वह नाक से लेकर गले तक पहुँच जाती। तब लगातार छीकें आतीं और लगातार काम करने से बेदम होना पड़ता, पर उसने इस चुनौती को स्वीकार किया। यह काम उसने बहुत सोच-समझकर आधे दिन के लिए चुना था ताकि दूसरे कामों के लिए उसके पास समय रहे। इस एवज में उसका पारिश्रमिक डेढ़ हजार यानी पन्द्रह सौ रुपये महीना तय हुआ था, जो निश्चय ही ठीक-ठाक था और उसकी जरूरतें इससे पूरी हो सकती थीं। वह खुश था कि इसे वह कर सकेगा और इधर-उधर झाँकने से मुक्ति मिल सकेगी। अपनी मेहनत, धीरज, लगन और एकाग्रता पर भरोसा करके जो वह लगा तो काम चल निकला और उसका जीवन अब दिशा पाने की तरफ बढ़ा। उसने शीघ्र ही काम शुरू किया और आने-जाने का एक समय निर्धारित कर वहाँ आने-जाने लगा।

जब महीना लगा और हाथ में पन्द्रह सौ रुपये आए तो उसने

पहला काम गिरवी रखी घड़ी छुड़ाने का किया। लगभग साल हो आया था इसलिए ब्याज और मूल के एवज में उसने चार सौ तीस रुपये भरे तब कहीं जाकर घड़ी उसकी कलाई पर चढ़ पायी थी।

इस बीच एक अप्रत्याशित घटना घटी जिससे उसका काम ही प्रभावित न हुआ, उसे मानसिक यातना से भी गुजरना पड़ा। उसके एक मित्र थे सर्वेश। इण्टरमीडिएट तक साथ-साथ पढ़े थे। जब वह बी.ए. में गया तो वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में चले गये थे। घर से ठीक-ठाक थे। परिवार से खूब आर्थिक सहयोग मिलता था और उनके सपने भी इतने बड़े-बड़े थे कि सोचने में भी फिसल जाते। बनारस से एम.ए. करने के दौरान ही उन्हें एक अन्तर्राष्ट्रीय लड़की से प्रेम हो गया था। लड़की इतिहास की छात्रा थी और वे बन्धु हिन्दी साहित्य के। दोनों में परस्पर प्रेम का ऐसा भूत सवार हुआ कि वे क्षण भर भी दूरी बर्दाशत न कर पाते थे। इस व्यग्र-प्रेम का परिणाम यह निकला कि दोनों ने अपने-अपने परिवारों को अँधेरे में रखकर बनारस के किसी मन्दिर में शादी कर ली। फिर अपने-अपने हॉस्टल से मुक्ति लेकर वे किराये के मकान में साथ रहे।

सर्वेश को दिल्ली पढ़ने का शौक था, तो उसकी प्रेमिका; (चाहें तो उसे भाग्यवती कह लें) भाग्यवती को दिल्ली पसन्द न थी। यह तो बाद में जाकर खुल पाया था कि उसने बनारस में ही दो-तीन और मित्र बनाये थे। बहरहाल, भोले और महत्वाकांक्षी सर्वेश पढ़ने के लिए दिल्ली आए और उन्होंने यहाँ एम.फिल. में प्रवेश ले लिया; लेकिन उनका बनारस बार-बार आना-जाना होता। भाग्यवती ने एम.ए. कर लिया था और आगे पढ़ने का इरादा न था; फिर भी वह सर्वेश के साथ दिल्ली आकर रहने से कतराती थी। सर्वेश सीधे मन से आते-जाते और अधिक हील-हवाल न करते। कुछ दिनों बाद जब दोनों परिवारों को इनकी शादी की खबर मिली, तो तूफान खड़ा हुआ। भाग्यवती घर से मजबूत थी। उसके पिता रोबीले जर्मांदार और जेब से गरम थे जबकि सर्वेश के पिता एक मामूली नौकरी में थे। उनकी हेठी

इतनी ही थी कि वे ब्राह्मण थे जबकि भाग्यवती के पिता की जाति का दरजा एक ही सीढ़ी नीचे था।

लड़की प्रतिष्ठा का प्रश्न थी। वह कैसे अपनी जाति के बाहर शादी कर सकती थी। भाग्यवती के पिता को यह समझने की जरूरत ही न थी कि उनकी बेटी की इसमें सहमति है। उन्होंने सर्वेश के घर का पता लगाकर उनके पिता के साथ जो भी बन सका किया और कराया। इसके बाद वह बनारस आकर भाग्यवती से मिले तो उसने शादी को अफवाह बता दिया और उन्हें समझा-बुझाकर विदा कर दिया। उसके इस खेल से अनजान सर्वेश इस बार बनारस उसे साथ लेने गये। वह आ भी गयी। तब सर्वेश ने एक किराये का कमरा ले रखा था। संयोग की बात यह कि जिस दिन सर्वेश बनारस से भाग्यवती को लेकर लौटे थे उसी दिन प्रभाकर उनसे मिलने चला गया था। वहाँ गया तो भाग्यवती को देख अपने भाग्य पर लजा आया। वहाँ बनारस से कोई और साथ आया था, पूछने पर मालूम हुआ—मदन मोहन हैं; नामी फिल्म प्रोड्यूसर के साथ मुम्बई में काम करते हैं। वह चलने लगा तो सर्वेश ने रोक लिया, कहा—कल सुबह चले जाइये। आज रात यहीं गुजारिये। कमरा एक ही था, गनीमत थी कि उसकी छत खुली हुई थी। वह मदन मोहन के साथ छत पर गपशप में उलझा था कि नीचे से शोर हुआ—‘बचाओ, बचाओ।’ आवाज़ किसी स्त्री की ही थी। अभी रात के आठ ही बजे होंगे। खाना हुआ न था। नीचे देखने पर स्थिति विकट लगी। देखने में आया कि सर्वेश और भाग्यवती आपस में गुत्थमगुत्था थे। दोनों एक-दूसरे को पूरे जोर से धमाधम घूँसे मारे जा रहे थे। दोनों के कपड़े फटे हुए थे। इस नोंक-झोंक के साथ गालियों का आदान-प्रदान भी चल रहा था। प्रभाकर आगे बढ़कर झगड़े को छुड़ाना चाह रहा था, पर मदन मोहन तटस्थ भाव से खड़ा मानों इसमें मजा ले रहा था। वह ज्यों ही आगे बढ़ा, भाग्यवती ने उसे रोका—‘आप वहीं रहिये जी, इसे तो आज हम ठीक ही किये देंगे। साला हमेशा पति बनता रहता है। औकात तो दो कौड़ी

की भी नहीं है, पति बनने चला है।'

प्रभाकर के सामने सर्वेश को अपनी यह दशा असहनीय लग रही थी, वह रो रहा था और भाग्यवती बिना शर्म-लिहाज किये उसे जाने क्या-क्या बके जा रही थी। प्रभाकर को यह समझने में देर न लगी कि इन दोनों में इस तरह के विवाद अक्सर होते रहते होंगे। दिमाग पर ज़ोर देने से यह भी आभास हो रहा था कि मदन मोहन इस विवाद से दूर नहीं हो सकता। उसके हाव-भाव, व्यवहार यह बता रहे थे कि वह तटस्थ नहीं है। उसके चेहरे को पढ़ने से लग रहा था कि वह रोष में है। कभी-कभी वह सर्वेश को घूरता और अपने दाँत कटकटाता। प्रभाकर को यह समझते देर न लगी कि यदि वह न होता तो भाग्यवती और मदन मोहन दोनों मिलकर सर्वेश की दुर्गति करते। गनीमत थी कि वह है और उसे अभी रुकना ही चाहिए। जो भी हो, दोस्त तो है सर्वेश।

अभी नोंक-झोंक और कहा-सुनी का सिलसिला चल ही रहा था कि जाने कैसे वहाँ पुलिस आ पहुँची। उसकी समझ में कुछ न आया। हो सकता है कि ऐसी योजना बनी हो या बनायी गयी हो। पुलिस ने आते ही सर्वेश-सर्वेश का नाम पुकारा और पूछा कि तुम में से कौन है सर्वेश। सर्वेश ने अपने को आगे किया और तब पुलिस वाले उसके साथ-साथ मदन मोहन और प्रभाकर को भी जबर्दस्ती साथ लेकर थाने चले। पीछे-पीछे भाग्यवती भी थी। अकारण थाने में पेशी का यह पहला मामला था जो प्रभाकर के जीवन में घटा था। रास्ते भर पुलिस सर्वेश को गाली देती रही कि वह अपनी पत्नी पर जुर्म करता है, मारता-पीटता है और उसकी बात सुनता ही नहीं। सर्वेश रोते-कलपते इस आरोप को झूठ कहकर गिड़गिड़ाता।

थाने में दारोगा ने सर्वेश को दो-चार डण्डे मारे, गालियाँ दीं। भाग्यवती यह सब देख-सुनकर भी जैसे पत्थर थी। बोल फूटते न थे और चेहरे के भाव से लगता कि जो हो रहा है, वह अच्छा है। पुलिसवालों ने प्रभाकर को भी दोषी मानकर बुरा-भला कहने की

कोशिश की, पर उसने इसका प्रतिवाद कर बमुश्किल अपनी जान बचायी। देर रात तक थाने में पुलिस की हुज्जत चलती रही। अन्त में जब सर्वेश के एक जानकार थाने में आए तो मामला हल हुआ और सब लोग पुलिस की गिरफ्त से छूट पाये। तब बाज़ाप्ता एक काग़ज बना कि पति-पत्नी दोनों प्रेम से रहेंगे और सर्वेश आगे से कभी भाग्यवती को प्रताड़ित नहीं करेगा। जब काग़ज पर दस्तख़त की बारी आयी तो अपने को बाहरी बताकर मदन मोहन ने कन्नी काट ली। गवाह के नाम पर प्रभाकर विवश था कि हस्ताक्षर करे। सर्वेश की दुर्गति देखकर प्रभाकर ने बतौर गवाह उस बने काग़ज पर दस्तख़त कर नाम, पता लिखा और तब जाकर थाने से जान छूटी।

वह वहाँ से भाग जाना चाहता था, पर आधी रात को जाता भी तो कहाँ! मन मसोसकर वसन्त विहार के उस मुहल्ले में ही गया जहाँ सर्वेश का ठिकाना था। उस रात बिन कुछ खाये-पिये ही रात काटनी पड़ी। मन में कई बार आया कि वह सर्वेश से बात करे, पर इसके लिए न तो अवसर था न समय। वह जैसे-तैसे आकर छत पर पड़ा रहा और इन्तज़ार करता रहा कि सुबह हो तो भाग चले। नींद ऐसे में कैसे आ सकती थी जो आती। वह रात भर यही सोचता रहा कि यह कैसा प्रेम है कि तीन महीने की शादी में ही इस दशा को प्राप्त हो गया था। जो सर्वेश बड़े-बड़े सपने लेकर आया था, उसकी यह गति देख वह दहल उठा था। सोचता तो उसका कोई अन्त न होता। यह प्रेम था कि परस्पर महत्वाकांक्षाओं का गठबन्धन था या समझौता; या कि वासनापूर्ति का कोई तात्कालिक गठजोड़। किसी निष्कर्ष पर पहुँचना जल्दबाजी थी। इसकी जरूरत भी न थी, उसे यह सब सोचना भी क्यों था, यह बात भी थी। लेकिन मन उसका मानता न था। वह बार-बार अटक जाता और सोचने लग जाता। जितना वह सर्वेश को जानता था, उतना या कहें कि थोड़ा भी भाग्यवती को वह नहीं जानता था, पर इधर-उधर से मिली सूचनाओं से उसने यह अनुमान लगा लिया था कि यद्यपि प्रेम दोनों ने किया था और आपसी सहमति से शादी भी

की थी; लेकिन सर्वेश की प्रतिभा का लाभ उठाकर भाग्यवती कुछ मनचाहा करना चाहती थी। वह जो भी करना चाहती थी स्पष्ट तो न था, पर उसके अतिरिक्त औरों को पालकर वह यह तो ज़ाहिर कर ही रही थी कि सर्वेश से उसका चाहे जो हो, प्रेम तो नहीं है। और जब प्रेम नहीं है, तो फिर यह शादी? मतलब क्या है इसका? सर्वेश ने ऐसी मूर्खता क्यों की, क्या लाचारी थी उसकी। अपने घर-बार को भी असुरक्षा में डालकर आँखिर उसने यह क्यों किया?

रात बीतने के साथ जब पौ फटा तो प्रभाकर चलने को तैयार हुआ। साथ छोड़ने आए सर्वेश ने जब उसकी आशंकाओं को पुष्ट किया तब उसकी आँखें फटी रह गयी थीं, लेकिन वह क्या कर सकता था जो करता! इस फसाद की जड़ में मदन मोहन ही था जो भाग्यवती से चिपका हुआ था। भाग्यवती को सर्वेश से अधिक वही प्रिय था और शादी को वह भूल-चूक लेनी-देनी से अधिक समझने को तैयार न थी। मदन मोहन के अलावा दो अन्य शोहदे भी भाग्यवती के बेहद नजदीक थे। सर्वेश के सामने ही मदन मोहन बेशर्म की तरह उससे हँसी-ठिठोली करता और कभी-कभी उसके कन्धे पर बाँहें भी डाल देता। यह सब एक पति जैसे प्राणी को कैसे बर्दाश्त हो सकता था जो वह करता। इन्हीं सब झामेलों से बचने के लिए वह मजबूरन तैयार कर भाग्यवती को दिल्ली लाया था, लेकिन वह बेशर्म साथ-साथ यहाँ भी चला आया था और भाग्यवती ने उसे सहर्ष साथ ले लिया था।

प्रभाकर को सब कुछ शीशे की तरह साफ़ होता दिखा जिसमें सर्वेश फँस गया था। अपनी उन्मत वासना और दैहिक आकर्षण को उसने प्रेम समझकर जो निर्णय लिया था, उसकी कीमत तो उसे चुकानी ही थी—कोई दूसरा उसमें करता भी क्या। उसने सलाह भी दी कि वह उसे बनारस छोड़ आए। रहने दे जैसे वह चाहती है; और अगर उसने ऐसा न किया तो परिणाम भुगतने को तैयार रहे। इसमें कोई चाहकर भी उसकी मदद न कर सकेगा। राह बस यही है जो बदल ली जाए। साथ चल नहीं सकते तो राह ही बदल लें और उन्माद

में उठाये गये क़दम को प्रेम न कहें; क्योंकि जिसे हम जानते नहीं, जिसकी समझ हमें नहीं है, उसका नाम बदनाम हम करें भी तो क्यों; उफ्फ! लोग इसे ही प्रेम विवाह कहते हैं। यह विवाह है कि प्रेम, इसे कोई कहे भी तो क्या कहे। प्रभाकर ने जब सर्वेश से विदाई ली तो राहत महसूस की। पर एक अज्ञात भय उसके भीतर पैठ-सा गया था जो उसे आक्रान्त किये था। उसने तय किया कि अब वह दोबारा सर्वेश से मिलने नहीं आएगा। जब उसने पूछकर निर्णय न लिया तो वह अब इस हालत में उसका हमदर्द बने भी तो क्यों और कैसे? और यह भी कि क्या उसकी हालत ऐसी है जो वह दूसरों का दुख बाँटे? यह तो वही बात हुई कि घर में अपने जिमने का ठिकाना न हो और गाँव भर को जिमने का न्योता दिया जा रहा हो।

प्रभाकर दुखी मन से लौटा। अपने स्वभाव से परेशान वह जहाँ जाता, थोड़ा-थोड़ा वहीं छूट जाता। सोचता तो सोचता चला जाता। उसके भीतर से गाँव कहीं गया न था। वह सब कुछ पर अपनी ही तरह से सोचने का प्रयत्न करता जिससे बात सुलझने की बजाय उलझती चली जाती। वह बार-बार भाग्यवती पर जा टिकता और सर्वेश की रोनी सूरत उसकी आँखों के सामने नाचने लगती। वह भाग्यवती को दोषी मान जाने क्या-क्या सोचता, पर सर्वेश के बारे में कुछ भी सन्देह करने से बचता। ऐसा भी कहीं होता है कि ताली एक ही हाथ से बज जाए? सर्वेश को उससे प्रेम हुआ था, वह प्रेम करके ही तो आगे बढ़ा था; शादी की थी उसने! क्या पता, वह स्वयं भी भाग्यवती को ही कोई इस्तेमाल की चीज़ मान रहा हो? वह घर से मजबूत थी और शायद माँ-बाप की इकलौती बेटी भी; यह कारण भी तो हो सकता है सर्वेश के उसकी तरफ आकर्षण या झुकाव में! जो हो, वही प्रश्न बार-बार उमड़ता और उसे परेशान करता। यह दुनिया उसकी तरह नहीं हो सकती थी और न ऐसा होना बदले समय में मनुष्य की जखरत में था;

फिर भी वह अपनी ही तरह से सोचता और अपनी ही तरह से देखने का रोग पाले बैठा था।

उसे यह जानकारी थी कि सर्वेश कहने के लिए गाँव का था, शहरी ही था। जब वह इण्टरमीडिएट का छात्र था, तो सर्वेश कभी भी गँवई भोलेपन से नहीं मिलता था। उसमें हमेशा एक शहराती होशियारी दिखती और उसके बात-व्यवहार में नफे-नुकसान का हिसाब होता। वह कक्षा में भी अपनी निगाहें अध्यापक पर नहीं, सामने बैठी लड़कियों पर दौड़ता रहता था। इसी चक्कर में एक बार कुछ लड़कों से उसकी हाथापाई भी हुई थी। सर्वेश वही तो था, फिर वह बदल कैसे जाता! उसने याद किया तो ऐसे अनेक प्रसंग सामने आने लगे थे जिसमें सर्वेश हमेशा ही कुटिल जैसा दिखता था। बड़ी-बड़ी डींगे मारना, अपने लिए ही जीने में शान समझना, सम्बन्धों को एक मज़बूत सीढ़ी मानकर चढ़ना और फिर उसे किनारे लगा देना जैसी आदतें उसमें तब भी थीं। समय के साथ वह और पुरुष्ठा ही हुई होंगी, कमजोर नहीं। उसे पता ही क्या और कितना है कि इस पर निर्णय दे और सही-गलत तय करे।

रास्ते भर बस में बैठा प्रभाकर यही सब सोचता अपने ठिकाने पहुँचा था और अन्त में यह तय करके उससे छुट्टी ली थी कि जो जैसा करे वैसा भरे, उसमें वह क्या है जो पड़े और मरे। किसी ने उससे पूछकर तो यह सब न किया और यदि पूछा भी होता, तो वह कौन होता है जो सलाह दे। जीने में अपने ही मरने के इतने कारण हैं कि दूसरे में झाँकने का मतलब ही नहीं बनता। आज जियो और कल को भूले रहो। वर्तमान अपना है चाहे उसमें जो भी दुख-सुख हो—भविष्य का क्या भरोसा है कि वह क्या लेकर आएगा और किस तरह जीना होगा। सबका आसरा बनकर और सबमें जीते हुए अकेले रह जाने की नियति होती ही ऐसी है जो जीते जी ही निस्पन्द बना देती है। तब जीना महज जिम्मेवारी लगता है, खुशगवार अहसास नहीं।

दोपहर की उमस से भरे इस इतवार का आधा दिन प्रभाकर ने यूँ

ही थका कर बिता दिया था। सोच का सिलसिला थमा तो भीतर बैठे भय ने सिर उठाया। उसने जमानत देकर कागज पर दस्तख़त दिया है; कहीं कुछ हुआ तो वह धरा जाएगा। पता नहीं क्यों वह सर्वेश से मिलने चला गया था। उसके पास तो कोई आता नहीं, न हाल-खबर लेता है। उसी को क्यों ऐसी मूर्खताएँ सूझती हैं। वह कब तक ऐसा ही रहेगा। कब दुनियादार होगा। उफ़्फ़, करवट बदलता रहा। छत पर चर्च-चर्च करता पंखा चलता रहा और बीस गज के प्लॉट पर पुनर्वास कालोनी की पहली मंजिल की यह छत आग उगलती रही। एक आग भीतर भी दहक रही, एक आग बाहर। बस, जीवन भी क्या खूब है और बहुत खूब।

इसी भय और पछतावे में उसके कई दिन निकल गये थे। वह काम पर जाता और बुझे मन से ही लौटता। कोई पूछता तो भी स्पष्ट उत्तर देते न बनता। वह किसी से कहे भी तो क्या कहे। हीरालाल और नगेसर ने भी उसके बुझे चेहरे को ताड़कर परेशानी जानना चाहा था, पर उसकी समझ में कुछ न आया कि कह पाये। चुप ही रहा और अपनी फजीहत होने से कतराता रहा। शेष सब ठीक ही था। वह रोज़ काम पर जाता, पुस्तकों-पत्रिकाओं आदि की धूल झाड़ता, सूची बनाता और थका माँदा लौटता। काम भर के पैसे की व्यवस्था हो गयी थी इसलिए उसको लेकर कोई चिन्ता न थी। खर्चे भी उसके अधिक न थे। जैसे-तैसे दिन ही काटना होता। आना-जाना, रुखा-सूखा जो मिल जाए खाना और मन मारकर जीना उसने सीख लिया था। दो साल पहले जो उसने पन्द्रह रुपये में इस्तेमाल किये हुए जूते खरीदे थे, वे चल रहे थे। अभी पुराने कपड़े ही तन पर थे और वे फटे न थे इसलिए उनपर पैसे बर्बाद करने का कोई कारण न था। कुछ पैसे बचे रहे तो घर भेजकर जो खुशी मिलेगी, वह अपने को शहराती बना लेने से तो न मिल सकेगी। इसी उम्र में वह बूढ़ों की तरह सोचता; कहना चाहिए कि उसे ऐसा बना ही दिया गया था कि इससे अलग वह सोच भी न पाये। वैसे भी जिसके बीची-बच्चे अभाव का जीवन बसर कर

रहे हों और माँ-बाप उसके आसरे ही कल्पना के सुख में जी रहे हों, उसके लिए अपना जीवन भी क्या जीवन होता है। लोग ऐसे भी होते हैं जो इन चीज़ों की परवाह नहीं करते। अपना जीवन सर्वोपरि है; जैसे चाहो जिओ और उन्हें उसी हाल पर छोड़ दो। जिसकी जैसी नियति, वैसी ज़िंदगी। उसे इस शहर में ऐसे अनेक लोग मिले थे जिन्होंने गाँव छोड़ते ही शहर में अपनी नयी दुनिया बसा ली और बीवी-बच्चों को जीते जी मार डाला। छठे-छमासे कुछ पैसे और कपड़े घर भेजकर वे धन्य हो जाते और बीवियाँ इस दुर्भाग्य को अपनी नियति मान छठ-उपवास करके उनके यशस्वी होने की कामना किया करतीं। वह ऐसा नहीं हो सकता था, होना भी नहीं चाहता था; इसीलिए कुछ सहपाठी उसे गुजरे ज़माने का व्यक्ति बताकर ठिठोली किया करते थे और वह इसी में खुश हो रहता था। वह पुराना ही रहना चाहता था। नया बनकर क्या होगा। नया बनकर लोग जो जीवन जीते हैं, उसे नहीं जीना। इस नयेपन में वासना है, तात्कालिकता और अपने जीवन को क्षणों में जी लेने की पागल ललक है। वह इससे मुक्त रह सके वही अच्छा है। वह पुराना ही सही, ऐसा नया होकर अपने को मिटा डालना उसे स्वीकार्य नहीं।

इसी तरह के उथल-पुथल में घिरा प्रभाकर ढूब-उतरा रहा था और मन पर तारी अनेक छायाएँ उभरती जा रही थीं जिसमें एक छाया कुमुद की भी थी। बहुत अरसा बीत गया था उसकी कोई खबर नहीं मिल पायी थी। स्मृति में उसके उभर आने से वह थोड़ा विचलित भी हुआ। आँखें थकने लगीं। उसका उदास चेहरा उसके सामने से घूम गया। आँखों की भारी पलकें और थकी-थकी सी देह मानों उसे पुकार रही हो; जैसे एक गहरी तन्द्रा से उठा वह उसका मद्दिम स्वर सुन रहा हो जिसमें आर्त पुकार भी है तो हल्की ठिठोली भी; जाने वह कहाँ है, किस हाल में है। कोई माध्यम भी तो नहीं जिससे वह उसका कुशल-क्षेम जान सके। एक आह-सी निकली और लगा जैसे उस पर मनों बोझ पड़ गया हो। वह मिले तो कहाँ मिले, कैसे उसकी खबर

जाने वह। पत्र वह लिख नहीं सकता। घर की बात है, जाने किसके हाथ लग जाए। फोन तो है उसके घर, पर करे कैसे, जाने कौन उठा ले; फिर वह कहेगा क्या!

आज का यह खाली दिन बहुत बुरा दिन सिद्ध हो रहा था। एक पल को चैन नहीं। एक से मुक्त होता तो दूसरी चिन्ता घेर लेती। एक अकेला प्रभाकर—अपने को निपट अकेला बनाकर, सब में सबसे दूर और एकाकी कर जीता हुआ कभी-कभी पागलों की भाँति सिर झटकता और किसी गहरी पीड़ा से व्यथित हो उठता। तब उसे लगता जैसे सब ठीक ही कहते हैं, वह गुजरे जमाने का व्यक्ति है सचमुच का। उसका जीवन इसी तरह दुख-सुख के दोनों किनारों को छूता हुआ चलता रहा। कभी सन्ताप होता तो सह लेता, कभी कोई क्षणिक सुख होता तो विनम्रता से उसे जीकर धन्य होता। जीवन में कोई विशेष गति न थी। नियमित काम पर जाना और थका-माँदा लौटना उसकी दिनचर्या में शामिल था। उसे एम.फिल. में प्रवेश की प्रतीक्षा थी। परीक्षा अभी होनी थी। यथासमय वह उसकी तैयारी भी करता। इस बीच एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना ने उसको अशान्त ही न किया, ठिकाना बदल लेने को भी विवश किया। दुर्भाग्य उसका पीछा कभी छोड़ता ही न था। वह जब भी थोड़ा-सा चैन महसूस करता, कोई न कोई घटना हो जाती जो उसे अस्त-व्यस्त कर देती।

उन दिनों नेपाल से गांजा और अफीम लाकर दिल्ली में बेचने का धन्धा ज़ोरों पर था। दिल्ली की पुनर्वास कालोनियों और झोंपड़पट्टियों में बेकार और निठल्ले युवक गांजा और अफीम की लत के शिकार थे। इनका सेवन कर वे जहाँ-तहाँ पड़े रहते। नगरपालिका के उद्यानों में इनकी भरमार रहती। वे झुण्ड के झुण्ड इधर-उधर विचरते और वहीं सो जाया करते। पुलिस उनपर सख्त होने का जोखिम लेने से डरती थी। बहुधा ऐसे मामलों में पुलिस के हस्तक्षेप से अप्रिय स्थितियाँ पैदा हो जाती थीं। तब झुण्ड में चलते नशेबाज निठल्ले युवक पुलिस पर हमला करके उनका चेहरा बिगाड़ देते। उनके खौफ

का हाल यह था कि कोई भी भद्र व्यक्ति सार्वजनिक उद्यानों में जाने से घबराता। लड़कियाँ और स्त्रियाँ तो कभी उधर जाने को सोचती भी नहीं।

अशिक्षा और बेकारी के कारण बड़ी संख्या में हिन्दी पट्टी; खासकर उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल और बिहार के युवक इस नशे को बाँटने के धन्धे में आ जुटे थे। उन्हें इसमें काफी फायदा होता। 1990-91 का यह समय इस धन्धे की शुरूआत का था जो बाद में एक महामारी जैसा बना। बहरहाल, प्रभाकर का एक स्थानीय युवक इस धन्धे में उत्तरा था जिसकी जानकारी न उसके घरवालों को थी, न स्वयं प्रभाकर को। वह पिछले एक हफ्ते से उसी इलाके में जगह-जगह घूमकर नशेबाजों को गाँजा और अफीम के नमूने दिखाता और बेचता। इसी क्रम में वह एक दिन उसके कमरे पर भी मिलने की इच्छा से आया था, पर उससे भेंट न हो सकी थी। एक दिन पुलिस ने उसे बस स्टैण्ड पर सरेआम नमूना दिखाते पकड़ लिया। पकड़ में दो नशेबाज शोहदे भी आ गये। अब जब पुलिस ने उससे सख्ती बरतकर उसके आने-जाने के ठिकाने पूछे तो उसने प्रभाकर की रिहाइश का पता भी बता दिया। फिर क्या था, पुलिस आयी और कमरे की तलाशी ली। संयोग ही था कि उस समय प्रभाकर वहाँ न था; पर पुलिस ने तलाशी में कुछ न पाकर भी हीरालाल और नगेसर को परेशान किया, अभद्र बातें कहीं और उन्हें डरा-धमकाकर कुछ पैसे भी ऐंठ लिये। प्रभाकर जब लौटा और इस वाकये से परिचित हुआ, तो उसके होश उड़ गये। भय ने उसे सिहरा दिया। उसने दोनों जनों के प्रति अपनी सहानुभूति का इज़हार किया। गहरा अफ़सोस भी ज़ाहिर किया, पर वह क्या करे, यह समझ में नहीं आ रहा था। वहाँ अब उसे एक पल भी चैन नहीं आता था और न रहना ठीक लग रहा था। उसकी मनोदशा को देखकर हीरालाल ने कहा—‘परेशान न होइये। जो अपने हाथ में नहीं है, उसका आप क्या कर सकते हैं। एक बात यह जरूर है कि यह पता अब अकारण सन्देह में आ गया है।’

‘तो फिर क्या हो ?’

प्रभाकर ने पूछा और अपनी भी चिन्ता ज़ाहिर की। हीरालाल पसीने-पसीने हो रहे थे और चिन्तित मुद्रा में नगेसर भी था। सकुचाते हुए वे बोले—

‘हम चाहते हैं कमरा बदल लें। मकान मालिक भी डर गया है और वह जानता है कि पुलिस की दबिश सन्देह पर है। लेकिन पुलिस को सन्देह का ही तो लाभ मिलता है। वही उसकी कमाई है; और जिनकी कोई हैसियत नहीं, वे ही तो उसके ग्रास बनते हैं।’

प्रभाकर अपने सामने खड़े नये संकट से चिन्तित कुछ बोल पाने की हालत में न था। हीरालाल ने उसके असमंजस को तोड़ते हुए जो कहा, उससे उसकी आँखें छलछला गयीं और मन हुआ कि वह हीरालाल को अंक में लेकर खूब रोये और उन्हें हृदय से लगा ले। हीरालाल ने कहा था—

‘हम मजदूर लोग हैं, किसी के कुछ कहने-सुनने से फ़र्क नहीं पड़ता। गालियाँ भी सुन लेते हैं और मार भी सह लेते हैं। न पीठ को दिक्कत होती है, न दिल बुरा मानता है। आँखें पत्थर बन गयी हैं, अब आँसू इसमें बचे नहीं हैं जो बहें। पर आपका मनोबल टूट जाएगा। पढ़ने-लिखने वाले आदमी हैं और अभी जीवन शुरू होना है आपका। कोई आकर आपको उल्टा-सुल्टा बोले, वह बर्दाशत न होगा। आप पण्डित जी, हमलोगों के भी आसरा हैं, कुछ बन गये तो बाल-बच्चों का जीवन सुधर जाएगा।’

झर-झर आँसुओं में झूबते प्रभाकर के कन्धे को झिंझोड़कर हीरालाल ने भावुक होकर उसे देखा। शब्द जम-से गये थे। उसका यहाँ काम न था। वह क्षण ठहर-सा गया था। जब चेत आया तो नगेसर ने कहा—‘सोचे हैं कि हमलोग अपने काम वाले इलाके में ही रहें। कम किराये में भी रहने की जगह निकल आएंगी। रात को सोना ही तो होता है। सोने में कितनी जगह लगती है। बाबू ठीक कह रहा है, आप आज ही कहीं और निकल जाओ, इतनी पहचान है आपकी;

कोई न कोई जगह निकल जाएगी रहने की। यहाँ रहना खतरनाक है और मालिक भी नहीं चाहता रहने देना।'

प्रभाकर को तो खुद यहाँ रहने से भय लग रहा था। अब जब सारी बातें साफ हो गयीं तो यहाँ से निकलना ही था। उसने झटपट अपने कपड़े और किताबें बाँधीं और चलना तय किया। सहमति इसी बात पर बनी कि वे दोनों भी आज शाम तक ही यह कमरा छोड़ देंगे। बाद में वह उनसे मिलकर हिसाब-किताब समझ लेगा और जहाँ भी रहेगा, मिलता रहेगा। सामान के नाम पर उसके पास कुछ खास था ही नहीं जो कहीं ले जाने में दिक्कत बनता। चार कपड़े, आठ-दस किताबें और ओढ़ने-बिछाने की चादर। कम्बल हीरालाल की थी, तो चारपाई नगेसर की। बर्तन-बासन, स्टोव आदि की यहाँ जरूरत ही न थी; इसलिए उसे हैदरपुर ही छोड़ आया था। चला तो पैर उठते न थे। नगेसर ने उसका बैग सँभाल रखा था। हीरालाल से दुआ-सलाम करके वह आगे बढ़ा तो आँखें बरसने लगीं। सड़क, कमरे की सीढ़ियाँ, कमरा, गली, लोग सब जो परिचित थे—छूट रहे थे। अब यहाँ आना न होगा। भय था कि कोई देखे नहीं, कोई भेदिया न हो, कोई पुलिस को खबर न कर दें। बेकसूर होने पर भी सन्देह में घिर जाने पर जैसा भय होता है, वैसा अपराध करने पर न होता होगा। चलते समय सड़क में एकाध पुलिस वाले दिखे तो डर के मारे खून सूखने लगा। नगेसर ने हौसला दिया, चलते रहिये, इधर-उधर देखने का काम नहीं। और वह बस स्टैण्ड पर आ गया। नगेसर ने रुँधे गले से हाथ जोड़कर राम-राम कहा और उल्टे पाँव हो लिया था।

अब यह बड़ा सवाल था कि वह जाए कहाँ। कोई ऐसा नहीं जो पहचान का रह गया है और वह उसके पास नहीं गया है। संकट बड़ा है और उसकी हैसियत ऐसी नहीं कि किराये का कमरा लेकर रहने का जोखिम ले सके। सामान साथ है, कहीं जाना ही है, पर पता नहीं कि जाना कहाँ है। इतने में रमाकान्त की याद उसे आयी जो कुछ दिनों पहले एक अखबार के दफ्तर में मिले थे। बता रहे थे, बाल-बच्चों

के साथ रहते हैं और स्वतन्त्र लेखन कर गुजर-बसर करते हैं। उन्होंने उसे घर का पता भी किसी कागज पर लिखकर दिया था। इधर-उधर जेब की खोज-खाज करने पर वह अधकटा कागज उसे मिल गया था। उसकी जान में जान आयी, लगा कि डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। सोचा, साथ रह लेंगे या कहेंगे कि किसी के साथ रखवाने में मदद कर दें। उसकी बोली-बानी के व्यक्ति हैं, इतना तो जरूर कर देना चाहिए उनको। उसने देर किये बिना ठूसमठूस भरी दक्षिण दिल्ली जाने वाली बस में जगह बनायी और अन्दर हो लिया। बैग को कण्डकटर-सीट के नीचे डाल एक सीट के पास खड़ा हो गया और बस चल पड़ी।

उसकी आँखें नम थीं। अन्दर हूक-सी उठ रही थी। नयी जगह जाने का भय उसे न था, इस जगह के छूटने की गहरी वेदना थी। हीरालाल और नगेसर जैसे आत्मीयों से बिछोह का दुख उसे था जो परिजन की तरह उसके दुख-सुख के साथी थे। कभी किसी बात की चिन्ता जिन्होंने न करने दी। हमेशा उसके लिए तकलीफ उठाये, जब तक साथ रहे। हँसी-ठिठोली, निश्च्छल व्यवहार और सहज आत्मीयता से भरे वे दोनों उसकी जिंदगी में आए देवदूत की तरह थे। वह जगह कितनी अपनी थी, कितना अपना-सा सब कुछ था; पर अफसोस, वे लोग ही नहीं, वह जगह भी छूट गयी जिसके नाम भर से भय व्याप जाता। जाने उसे क्या-क्या भुगतना है, क्या-क्या और झेलना बदा है; उसे नहीं मालूम। यह भी तो नहीं मालूम कि यह सब झेलते-भोगते उसे कुछ हासिल भी होगा, या दिशाहीन यात्रा करते थक कर वह टूट ही जाएगा; कुछ भी तो नहीं पता कि होगा भी क्या!

दस

रमाकान्त के घर का पता उसके पास था, इसलिए उन तक पहुँचने में उसे कोई खास दिक्कत न हुई। थका-माँदा जैसे-तैसे वह तंग गलियों से गुजरते हुए उनके घर तक पहुँचा था। गनीमत थी कि वे घर पर ही थे। उसे सामान सहित देखकर उनके चेहरे का हाव-भाव बदल गया था और माथे पर लकीरें खिच आयी थीं। यह स्वाभाविक भी था कि उनसे उसकी सिर्फ एक मुलाकात थी और कभी साथ रहने की बात भी न हुई थी। पर उनको सहज होने में समय न लगा और घर में आदर सहित बुलाते वे बोले—

‘आइये प्रभाकर जी, कहीं जा रहे हैं या आ रहे हैं, यह तो कहिये।’

प्रभाकर उनकी चारपाई के पायताने बैठकर बोला—

‘नहीं-नहीं, कहीं जा नहीं रहे। आपके पास ही आए हैं।’

‘ओह, तो आपने यह बताया न था कि रहने के विचार से आपको आना है।’ रमाकान्त ने पसीने से तरबतर प्रभाकर को बिना सन्तुलित हुए ही पूछ लिया।

प्रभाकर ने उसी तरह तत्काल उत्तर भी दिया—‘परिस्थिति ही ऐसी आ गयी रमाकान्त जी, कि जहाँ था वहाँ से निकलने के अलावा कोई उपाय नहीं रह गया था। फुर्सत में आपको बताएँगे। फिलहाल तो आप यह मदद कीजिये कि एक खाट भर की जगह का इन्तजाम कर दीजिये जहाँ कुछ महीने रहने का बन्दोबस्त निकल आए। रुखा-

सूखा जो खाते होंगे, उसमें मेरा भी काम चल जाए तो इस संकट से छुटकारा मिले।'

रमाकान्त को समझते देर न लगी कि मामला गम्भीर है और ऐसे में उनको प्रभाकर की मदद करनी चाहिए। रमाकान्त के कमरे के ऊपर एक कमरा था जिसमें एक लड़का किसी प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी करता था। उन्होंने उससे बात की, तो वह सहजता से तैयार हो गया। ओढ़ने-बिछाने की चादरें और तकिये का प्रबन्ध उसने स्वयं किया और कमरे की फर्श पर अपना बिछावन जमा लिया। भोजन का प्रबन्ध रमाकान्त के घर ही तय हो गया, तो वह चिन्ता मुक्त हुआ। कमरे का किराया अधिक था जो हिस्सेदारी में थोड़ा कम हो गया और भोजन-व्यय मासिक खर्च के हिसाब से देना मंजूर हुआ। दो-चार दिन उसे अटपटापन लगा, पर वह जल्दी ही यहाँ से भी परिचित हो गया और मन लगाने की जुगत में लग गया।

फिर एक दिन फुर्सत में रमाकान्त को वहाँ का प्रसंग बताया तो वे उसकी स्थिति से परिचित होते हुए चिन्तित भी हुए। चिन्ता का एक कारण यह भी था कि कहीं पुलिस यहाँ भी दबिश न देने लगे। लेकिन इस आशंका का कोई आधार न था। वह तो उसी जगह की चिन्ता थी और वह भी इसलिए कि वह गरीब लोगों की बस्ती थी जहाँ अकारण भी पुलिस आती रहती और लोगों से बिना बात भी पैसे ऐंठ कर परेशान करती। खैर, बात आयी-गयी हो गयी थी। धीरे-धीरे स्थिति सामान्य हुई, तो प्रभाकर अपनी पुरानी दिनचर्या में लौट आया। काम पर जाना-आना और कुछ पढ़ना-लिखना। कभी-कभी रमाकान्त से वह साहित्यिक-वैचारिक विषयों पर बातचीत भी करता और अपने को थोड़ा समझने-समझाने का प्रयास भी। यह जगह इस मायने में बेहतर थी कि मानसिक स्तर पर उसे समृद्ध होने का अवसर मिलता। वह खुश ही था क्योंकि दुखी होने से कुछ हासिल होना न था।

रमाकान्त हिन्दी से एम.ए. थे और आन्दोलनधर्मी व्यक्ति थे। छात्र-जीवन से ही वे एक बड़े स्वप्नदर्शी विचार से जुड़ गये थे और

उसके लिए काम करते हुए प्रतिबद्ध हुए थे कि वे कोई सरकारी नौकरी नहीं करेंगे। धर्म, सम्प्रदाय, जाति-बिरादरी जैसे चौखटों से बाहर रहते रमाकान्त अपने वैचारिक मूल्यों को जीते और लिख-पढ़कर जो पैसे मिलते, उससे घर चलाते और कुछ सांगठनिक चन्दा भी देते। गाँव से वे अनाज लाया करते थे ताकि यहाँ खरीदकर खाने से बचाव हो जाए। साथ में पत्नी थीं और दो बच्चियाँ। उन्हें आदर्शों से चिढ़ थी और जिस यथार्थ को वे जीते थे, उसे ही मानते भी थे। उनकी सबसे बड़ी खासियत यह थी कि वे धर्म-कर्म चाहे न मानें, पर दूसरे की आस्था और विश्वास का सम्मान करते। प्रभाकर कोई कर्मकाण्डी न था, पर आस्तिक व्यक्ति था। इससे उनको असुविधा न थी और वे अपना विचार उस पर थोपते भी न थे। हाँ, यह जरूर होता कि वे धर्म को सामन्तवाद और पुरोहितवाद का संस्थापक मानते तथा वर्तमान तन्त्र को पूँजीवादी विस्तार का प्रतिफल कहते। कभी-कभी प्रभाकर को उनकी बातें समझ में न आतीं या कभी किसी बात पर उनके तर्क-वितर्क से चोट भी पहुँचती; पर जैसे ही इसका अहसास उन्हें होता, वे खेद व्यक्त करते। अपने एकान्त में वह सोचता कि यदि समाजवाद लाने वाले लोग रमाकान्त जैसे हो जाते, तो देश में कोई विराग पैदा न होता, न किसी से किसी को कोई कटुता ही होती। पर दुखद सच्चाई तो यही है कि समाज को समतावादी दर्शन देने वाले लोग सत्ता-लिप्सा और सुविधाओं के दास होकर ही रह गये हैं और जिस राजनीति को वे बुर्जुआजी कहते हैं, उसी से चिपक कर अपना स्वार्थ साधा करते हैं। रमाकान्त जैसे लोग तो नींव की ईट हैं जिन्होंने अपनी कुर्बानी देकर एक उम्मीद की किरण जिलाये रखी है, पर आखिर कब तक यह किरण भी जीवित रहेगी और कैसे इन लोगों का भी मोहभंग न होगा?

कभी-कभी वह रमाकान्त से इस विषय पर बात करता तो वे उदास हो जाते और उनकी पूरी देह स्याह पड़ जाती। सच था कि यह दर्शन ज़मीनी सच्चाइयों से दूर हो गया था, पर उसकी राह बुरी न थी,

न सपना, न संकल्प; और स्वयं रमाकान्त का अपना चुनाव। यहाँ से बहुत-सी राहें फूटती थीं, प्रलोभन भी बहुत थे, अब भी सुखी और सम्पन्न जीवन के छलावे थे, अवसर भी; पर रमाकान्त ने जो एक बार तय कर लिया था, उससे डिगना उन्हें अपनी मौत लगता। रमाकान्त का यह व्यक्तित्व उसे बड़ा प्यारा लगता और प्रेरक भी।

इसी तरह कुछ महीने और बीते। वह काम करता तो खर्च भर के पैसे निकल आते। जैसे-तैसे गुजारा करना उसका स्वभाव बन गया था; इसलिए कोई कठिनाई भी आती तो उसे सँभाल लेता, परेशान न होता। रमाकान्त से ठीक-ठाक निबाह हो रहा था, कोई खट-पट जैसी बात न थी। इसी बीच एम.फिल. की प्रवेश परीक्षा हुई और वह उत्तीर्ण हो गया। खुश हुआ कि अब जीवन पटरी पर लौटेगा। रहने-खाने का एक चिन्तामुक्त ठिकाना बनेगा और एक अनुकूल वातावरण भी मिलेगा जिससे शायद उसका विषाद कम हो। फिर साक्षात्कार का समय आया, उसने शोध का विषय तय कर उस पर सिनोप्सिस तैयार की और अपनी क्षमता के अनुसार साक्षात्कार दिया। दो-तीन हफ्तों के बाद उसके चुने जाने का परिणाम आया। खुशी हुई, एक स्वप्न पूरा हुआ; आगे पढ़ पाने की एक जिद भी पूरी हुई। इस तरह एक साल का नष्ट हुआ समय नयी रंगत में लौट आया था। रमाकान्त को सूचना मिली, तो वे भी प्रसन्न हुए, उनके बच्चे और पत्नी कमला भी। यह एक नयी शुरुआत थी। नामांकन में कुछ पैसे घटे तो रमाकान्त ने मदद की थी, पास में कुछ पैसे थे भी, सो कोई दिक्कत न हुई और वह जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एम.फिल. का छात्र बन गया था। छात्रावास मिलने में एक-दो महीने का विलम्ब हुआ था, पर इससे उसको कोई दिक्कत न हुई, ठिकाना था और मन को चैन भी।

कुछ समय बाद उसे एक छात्रावास में कमरा मिल गया जिसमें पहले से एक और छात्र रहता था। एम.फिल. में एक कमरे में दो छात्रों के

रहने की व्यवस्था थी। पी-एच.डी. के छात्रों को ही अकेला कमरा मिलता। उसका रहवासी यानी रूमेट ओड़िया छात्र था जो हिन्दी बोल समझ लेता था। वह राजनीति विभाग में अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध पर काम कर रहा था। राजनीतिक समझ और चातुर्य में वह वाकपटु था, पर पूजा-पाठ में भक्ति रखता और श्रद्धावनत इतना कि भोजन ईश्वर को समर्पित किये बिना ग्रहण न करता। प्रभाकर से उसकी निभने लगी और उसकी आशंका दूर हुई कि कोई ऐसा छात्र न आ जाए कि उसके नियम-धर्म को अपवित्र कर दे।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का तब भी बड़ा नाम था; हालाँकि लोग कहते कि उसमें पहले से गिरावट आ गयी है। देश के बच्चों का सपना होता कि वे उसमें पढ़ें; किन्तु उसमें प्रवेश की प्रक्रिया इतनी जटिल थी कि नामांकन आसान न होता। हो जाने पर निश्चय ही कम पैसे में अच्छी सुविधा के साथ पढ़ना और अनुकूल वातावरण पाना वहाँ सम्भव था। वहाँ का पाठ्यक्रम, अध्यापकों के पढ़ाने का ढंग, छात्रों को लिखने और बोलने में दक्ष बनाने की शैक्षणिक पद्धतियाँ ऐसी थीं जो किसी भी दूसरे विश्वविद्यालय से उसे अलग और नायाब बनातीं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसा भी था जो प्रभाकर को रास न आता था और उसे कुण्ठित करता। वहाँ प्रायः अधिकतर छात्र अँग्रेज़ी ही बोलते। हिन्दी के छात्र भी उनकी नक्ल का प्रयास करते और उसी ढब में जीने का प्रयास करते जैसे सब रहते। देर रात तक जगना, दस-ग्यारह बजे दिन तक सोना और मनचाही आजादी के साथ जीना जैसे अधिकार छात्रों का शगल हो। लड़कों के साथ लड़कियों का अबाध विचरना, छात्रावासों में उनका बेरोकटोक आना-जाना और लिबास में ली गयी उनकी स्वतन्त्रता उसकी पिछड़ी मानसिकता को नहीं भाती; इसलिए उसके सहपाठी उसे पुराने ज़माने का दरियानूस कहकर चिढ़ाते और कुछ ने तो उसे बाबा कहकर भी पुकारना शुरू कर दिया था।

वह किसी बात का बुरा नहीं मानता। उसके लिए यह सब नया

था। वह जब गाँवों से आयी हुई लड़कियों को जींस पहने देखता, उनके कटे बाल और लड़कों की तरह उनके रंग-ढंग देखता तो कुछता। वह अपनी इस कुछता का क्या करे। वह तो पिछड़ी सोच का है ही, समझ और दुनिया को जानने के मामले में भी वह भोला ही है। तब वह अपने संस्कार को ही दोष देता और मान लेता कि वह सचमुच पुराना ही है। ख्याल भी पुराने तो जीने के ढंग भी पुराने। उसे रंगीन सपनों में उतरने का अवसर ही न मिला तो वह क्या करे। जिसके लिए दो रोटी जुटाना जीवन का ध्येय हो, वह उन्मुक्त जीवन का सपना भी देखे तो कैसे! विश्वविद्यालय के छात्र तरह-तरह की प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करते, बड़े-बड़े अफसर बनने की बहसों में उलझे रहते और वह बसर कर सकने लायक काम के सपने देखता। वैसे भी उसे ऐसे ख्यालों में उलझे रहने की फुर्सत न होती। उसने अपने काम का समय बदल लिया था। दस बजे से एक बजे तक कक्षाएँ होतीं। उसके बाद वह तुरन्त काम पर निकल जाता और शाम के सात बजे के बाद ही लौटता। इस तरह न तो वह दिल्ली विश्वविद्यालय में ही पूर्णकालिक छात्र रहा, न यहाँ। उसके पास अधिक सपने भी न थे जिन्हें वह देखता और उसी में जीता।

बेशक वह मेस में या परिसर के ढाबों पर चलने वाली उन बहसों से झल्लाता जिसमें तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश और सोवियत संघ के विघटन के बाद बने रूस के राष्ट्रपति बोरिस येलिसन को लेकर होती। रंगीन सपने और अन्तरराष्ट्रीय चिन्ताएँ उसे सुहाती नहीं। शायद ही कोई अपने देश की राजनीति और समस्याओं पर बात करता। तब सिगरेट पीना सरेआम था। लड़के उसके धुएँ के कश में बुश या येलिसन को ऐसे उड़ाते जैसे फूँक से तितलियाँ उड़ा दी जाती हैं। परिसर में अनेक छात्र संगठन सक्रिय थे जिनमें वाममार्गी संगठनों का बाहुल्य था। नवागत छात्र कुछ दिन तक अचकचाये फिरते और जब उन्हें लगता कि वामवार्गी संगठन उन्हें न केवल प्रगतिशील होने का प्रमाण पत्र दे देंगे, वरन्, वे अध्यापकों के कृपा

पात्र भी हो जाएँगे, तो वे देर न करते और अपनी मूढ़ मगजी उतार फेंकते। इन संगठनों में शामिल होते ही वे अपने को मार्क्स, एंगेल्स, गांधी या सुकरात से कम न समझते। संसार की हर समस्या का समाधान उनकी मुट्ठी में होता। वे बड़े-बड़े जुमले बोलने लग जाते। हर पारम्परिक चीज़ बुरी लगने लगती; वह भाषा भी, जिसे वे जन्म के साथ ही पाये होते। फिर तो जुलूसों में, धरना-प्रदर्शनों में वे 'मार्च ऑन' का ऐसा सिंहनाद करते कि धरती दहल जाती और आकाश का सीना फटने लगता। वे अपनी प्रगतिशीलता सिद्ध करने के लिए अपने आचरण और जीवन-व्यवहार से उस हर चीज़ को निकाल बाहर करते जिससे पुरानेपन की बू आती।

प्रभाकर भोला और मूढ़ मगज था, उसे यह प्रगतिशीलता समझ में नहीं आती; इसीलिए वह न वाममार्गी संगठनों का हिस्सा बन पाया, न दक्षिणमार्गी संगठन का। एक मध्यमार्गी संगठन भी वहाँ सक्रिय था जिसे काँग्रेसी छात्र निकाय कहते थे। उसका काम बटखरे का ही था जो तौल में दोनों पलड़ों को सन्तुलित किये रहता था। सभी संगठन नवागत छात्रों पर झपट्टा मारते, उन्हें अपने पाले में करने के लिए तरह-तरह के प्रलोभन देते और जब बात आसानी से न बनती तो बताते कि अमुक विभाग में उसकी विचारधारा के कितने अध्यापक हैं और इससे उन्हें क्या फर्क पड़ने वाला है। केन्द्र में सरकार चाहे जिसकी हो, यहाँ का तन्त्र उनकी ही मुट्ठी में था। उन्होंने विश्वविद्यालय को एक ऐसे द्वीप में बदल दिया था जो सबसे अलग पर सबसे नायाब था। देश और दुनिया की राजनीति यहाँ तय होती और सबके सुनहले भविष्य के ऐसे रंगीन सपने बँटते कि किसी को कोई दुख व्यापना ही न था। क्या लड़के, क्या लड़कियाँ इस रंगीन सपने में ऐसे खोये रहते कि उन्हें यथार्थ का बोध ही न होता। किसी को समाजवाद मिलता, किसी को हिन्दूराज, तो किसी को सुराज। इसमें कोई उसका राज न था इसलिए वह अपने काम में लगा रहता। उसे फुर्सत ही कहाँ थी कि इन रंगीन सपनों में खोये और जीवन की वास्तविकता को कहीं

फेंक आए। इनकी असलियत उसे पता था और अपने भोलेपन में भी वह इतना जानता था कि कर्म किये बिना कुछ भी हासिल नहीं होता। सुनहरे सपने देखना बुरा नहीं, उन्हें ही असलियत मान लेना बुरा है। उसके लिए रोटी का टुकड़ा सूरज से कम न होता जिसे वह अपने परिश्रम से पाता और सबमें, सबके साथ जीते हुए एक-एक दिन के लिए उस ईश्वर को धन्यवाद देता जिसने उस अपढ़ माँ-बाप की सन्तान को इतना साहस दिया कि बिना गिरे-झुके वह जी रहा है और तनकर खड़ा है।

इस वातावरण में ऐसे बहुत से छात्र थे जो दिन-रात परिश्रम करते और देखे सपने को जमीन पर ला पटकने की जुगत में लगे रहते। वे अपने एक-एक क्षण का उपयोग करते और नयी-नयी सफलताओं की इबारतें लिखते। वह सोचता तो सही पाता कि ऐसे ही कर्मनिष्ठ और स्वाध्यायी छात्रों से इस विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा है जिनके परिश्रम से इसे अब्बल दर्जा हासिल है, उनसे तो हर्गिज नहीं जो राह चलते क्रान्ति करते हैं और जीवन के यथार्थ का सामना होते ही सूखे बाँस की तरह टूटकर बिखर जाते हैं। प्रभाकर इसी तरह सोचता, खीझता और फिर काम में लग जाता। उसके अपने जैसे कुछ छात्र मित्र हो चले थे जो गाहे-बगाहे उसका दुख बाँटते और दिलाशा देते रहते। अपनी दिनचर्या में पक्का प्रभाकर कक्षाएँ करता और काम पर निकल जाता। उसके लिए सिर्फ रविवार का अवकाश नीयत था जिस दिन वह अपने कपड़े धोता और खूब सोता।

इसी बीच यहाँ भी वह एक दुर्घटना का शिकार हुआ जिससे वह बहुत संघर्ष करके निकल पाया था। जुलाई 1992 की कोई तारीख रही होगी जब एक लड़की को लेकर बड़ा फसाद हो गया था। एक लड़का, जो अक्सर उसके यहाँ आया करता था, वह एक लड़की से एकतरफा प्यार करता था। उस लड़की को यह मालूम था भी कि नहीं, यह उसे पता न था। पर वह उसके भाइयों के सम्पर्क में था और इस जुगत में रहता कि वह उन्हें प्रभावित कर उससे रिश्ता बनाये।

लड़की सम्पन्न घर की थी, उसके पिता की कई फैक्ट्रियाँ थीं, सो उसकी नज़र उनके माल-असबाब पर भी थी। लड़की प्रभाकर की सहपाठी थी और यदा-कदा उससे मिलने आया करती थी; इसलिए भी वह लड़का उसके पास आया करता। प्रभाकर को यह सब कुछ मालूम न था। लड़की एक अन्य लड़के से प्रेम करती थी जिसका पता बाद में चला। उस एकतरफा प्रेमी ने षड्यन्त्र करके उसके भाइयों को बुलाकर उसे सरेआम पिटवाया और उसकी जान लेने की भरसक कोशिश की। बवाल हुआ तो वह भागा-भागा प्रभाकर के कमरे में घुस आया जैसे कुछ हुआ ही न हो। प्रभाकर के पूछने पर उसने मामूली कहासुनी की कथा सुना डाली; जबकि सच्चाई यह न थी। उसके पीछे से भीड़ और भीड़ का शोर सुनकर वह उसकी बालकनी से कूदकर जो भागा, फिर वापस न लौटा। भीड़ में शामिल छात्र संगठनों ने निरीह प्रभाकर को इस घटना का सूत्रधार बनाकर उसे बहुत परेशान किया। मामला विश्वविद्यालय के चीफ प्रॉफेटर तक गया। मारे दहशत और भय के प्रभाकर का कमरे से निकलना दुश्वार हो गया। इस सच को सब जानते थे कि प्रभाकर का इस घटना से कोई लेना-देना नहीं है, पर उसे संगठनों से तटस्थता का पुरस्कार मिल रहा था और यह जतलाने की कोशिश हो रही थी कि यहाँ रहते हुए तटस्थ रहने की कोई गुंजाइश नहीं है। बहरहाल, उसके समर्थन में भी छात्र उतरे, मामले की जाँच और सुनवाइयाँ हुईं। इस बीच घायल छात्र ठीक होकर अस्पताल से लौटा और उसने प्रभाकर पर लगाये गये आरोप को खारिज करते हुए बयान दिया, तब कहीं जाकर उसकी जान बची थी। बाद में पता चला कि इस घटना का सूत्रधार वह सर्वेश था जिसके प्रति प्रभाकर के मन में सहानुभूति थी और भाग्यवती से उसके विवाद को वह सर्वेश पर उसके अत्याचार के रूप में देखता था। सर्वेश ने उस लड़के को इस साजिश से होने वाले फायदे बताकर इस घृणित काम की सलाह दी थी। मंशा लड़की के साथ-साथ उसकी सम्पत्ति में भागीदारी की भी थी। सच्चाई से परदा उठने पर सर्वेश सहित उस

एकतरफा प्रेमी को विश्वविद्यालय प्रशासन ने निलम्बित कर दिया था और इस तरह प्रभाकर बलि का बकरा होने से बच पाया था।

इस घटना ने उसे बुरी तरह तोड़ दिया था। जहाँ जाता, साया की तरह वह घटना उसका पीछा करती। वह सहज नहीं रह पाता। वे छात्र उसे डरावने लगते जो उसके विरुद्ध षड्यन्त्र में शामिल थे; किन्तु उनके लिए यह एक मामूली बात थी। इसमें नैतिकता-अनैतिकता का कोई प्रश्न न था, बस सबक देना था और मंशा विश्वविद्यालय से बाहर करा देने की थी। वह सीधा-सादा इतना था कि किसी के छल छद्म पर भी उसे यकीन न होता। वह जानता ही न था कि दो चेहरा रखे बिना अब गुजारा सम्भव नहीं। सीधे जो आता, बेलाग बोल जाता, इससे उसने शत्रुओं की जमात खड़ी कर ली थी। उसके इस स्पष्टवादी व्यवहार से अध्यापक भी उससे कटे रहते। वह इसका क्या करता। उससे व्यर्थ की प्रशंसा न होती, चापलूसी वह जानता न था और इतना समय भी उसके पास न था कि जी हूजूरी करके वह लोगों को खुश रखे। जिसे जैसा रहना हो रहे, वह इसका क्या करे। जो किस्मत में होगा, होगा; व्यर्थ की चिन्ता करने से भी क्या लाभ होना था। उसकी सोच ऐसी ही थी। कई बार उसके कुछ हित-चिन्तक छात्र उसे समझाते—

‘समय ही ऐसा है। थोड़ा झुक कर रहने में कोई हर्ज़ नहीं; और झुकना अपने को गिराना तो होता नहीं।’

वह नाराज़ होकर कहता—

‘तो फिर क्या होता है? जीना जब अपने पैरों पर खड़ा होकर सीख लिया जाता है, तो दुनियादारी ओछी लगती है और खुदारी ही जीवन का ध्येय बन जाती है।’

उसने अब तक जो जीवन जिया था, उसमें इसकी जगह न थी। एक-एक कर वह चेहरे भी बेपर्द हो रहे थे जिन पर वह अविश्वास तो नहीं ही कर सकता था। सर्वेश का षड्यन्त्र ताजा उदाहरण था और क्या पता उसने भी प्रभाकर को सन्देह में डाला हो और भीड़

को समझा दिया हो। सर्वेश भी एक क्रान्तिकारी छात्र संगठन का सक्रिय सदस्य था और वह भी उन्हीं सपनों को जीता था जिस सपने में रातोंरात अमीर हुआ जाता था। यह सपना ठगी से ही आ सकता था जिसका उदाहरण वह स्वयं था और भाग्यवती से शादी का प्रकरण सामने था। बाद में यह रहस्य भी उजागर हुआ था कि वह भाग्यवती पर अक्सर दबाव डालता था कि वह अपने पिता से दो-चार लाख रुपये माँगे ताकि वह कुछ चमत्कारिक काम कर अचानक अमीर हो जाने का स्वप्न पूरा कर ले। भाग्यवती इसका विरोध करती, तो विवाद होता और नौबत मारपीट तक जा पहुँचती। उसने मदन मोहन से ही प्यार किया था, पर सर्वेश ने उसे जाने क्या कहकर विवश करके शादी की थी; यह तो वही जाने या भाग्यवती जाने। उसे तो बस इतना ही समझ आया कि ऐसे सम्बन्ध धोखे की तरह होते हैं जिनमें स्वार्थ ऊपर रहता हो। कभी इनसे पाला न पड़े यही कामना करनी चाहिए। उसके पास गँवाने को कुछ नहीं था, था तो अपना स्वाभिमान; जिसकी रक्षा करना वह जानता था। उसे लुटाकर उसे कुछ भी न चाहिए था; इसलिए उसकी कोशिश यही होती कि वह अपने काम से काम रखे। किसी के पास व्यर्थ में न जाए। किसी की व्यर्थ प्रशंसा न करे और सब कुछ भवितव्य पर छोड़ दे। जो होगा अच्छा होगा, न हुआ तो भी फँक्के नहीं पड़ता था। अब तक तो जो फँक्के पड़ा था; उससे वह यही सबक ले पाया था।

प्रभाकर का मन अब नहीं लगता था। कितने सपने पाले वह यहाँ आया था, सोचा था, यहाँ के वातावरण से उसके थके-हारे मन को सांत्वना मिलेगी, अपने पर भरोसा बढ़ेगा और अपने गँव के कथित पिछड़े मूल्यों को छोड़ वह कुछ नया और सम्भान्त बन जाएगा। पर ऐसा कुछ भी तो नहीं हुआ। बेशक उसे यहाँ आकर लगा कि वह जहाँ है और जिस तरह जीता है, दरअसल वही जीने का असल ढंग है; क्योंकि उसमें सच्चाई है, फरेब नहीं। उसे वे लोग याद आते, जो पढ़े-लिखे नहीं कहे जा सकते। जो मज़दूरी करके अपना और परिवार

का पेट भरते हैं। पास में कुछ नहीं, पर हृदय उनका इतना उदार है कि उसमें जो भी आ जाए, गुजारा हो जाता है। वे निश्चल और आत्मीय हैं, प्रेम और श्रद्धा से भरे हुए वे सपने नहीं यथार्थ को जीते हैं। उनके पास जबान नहीं, आत्मा है। चेहरे पर कान्ति चाहे न हो, मुस्करा भले न पाते हों, पर आँखें हैं जिनमें भरे-पूरे आँसुओं का संसार है। वह उनकी दया और करुणा का सोता सूखने नहीं देतीं। छल वहाँ है नहीं, छझ वे जानते नहीं। ऐसे ही लोगों ने उसे आसरा दिया था और जीने का भरसक उत्साह भी।

टूटते विश्वास के धागे को जोड़कर एक बार फिर जीने का संकल्प लेकर प्रभाकर अपनी दिनचर्या में जुटा। जिसे भूल नहीं सकता था, उसे भूलने की कोशिश शुरू की। धीरे-धीरे स्थितियाँ सामान्य हुईं, भ्रम के बादल छँटे। विगत को नियति मान वह वर्तमान में लौटा, तो उसके सामने अनेक उदास चेहरे आए और गुजर गये। अपने में अनेक ज़िंदगियों को पाकर वह खड़ा हुआ और इस तरह उसकी यह परीक्षा पूरी हुई।

1992 का यह साल अनेक उथल-पुथल भरी घटनाओं का साक्षी रहा। उसके निजी जीवन में तो कई तरह की दिक्कतें आयीं हीं, सार्वजनिक जीवन भी भयावह अँधेरे में दाखिल हुआ। एक तरफ मण्डल आयोग की सिफारिशों के लागू होने के बाद विभाजित हो रहा भारतीय समाज उद्भेदित हो रहा था तो दूसरी तरफ विश्व हिन्दू परिषद् द्वारा चलाये जा रहे मन्दिर आन्दोलन और लालकृष्ण आडवाणी की रामरथ यात्रा के प्रभाव से उग्र हिन्दू जागरण का ऐसा शोर था कि हमेशा भय बना रहता कि आगे क्या होने वाला है। आडवाणी की रथयात्रा भले ही रोक दी गयी हो, पर परिषद् की रथयात्राएँ गाँव-गाँव, शहर-शहर चला करतीं। इन यात्राओं में हर तबके के लोग शामिल होते। लोग यात्रा में शामिल साधु-सन्तों को घर में जिमाते और रथ पर विराजती राम-सीता की युगल मूर्ति पर न्योछावर हो जाते। ‘जयश्री राम’ और ‘जय बजरंग बली’ के जयकारे से आकाश गूँज उठता।

औरतें वर्षों के सहेजे रूपये-पैसे चढ़ावा में देकर निहाल हो जातीं। यह स्थिति बिहार और उत्तर प्रदेश में चरम पर थी। तनाव भरे वातावरण में मुस्लिम बस्तियाँ वीरान रहतीं।

आन्दोलन और तदन्तर रथयात्रा ने बहुत बड़े जन-समुदाय को आन्दोलित कर दिया था। इसी बीच परिषद् के कार सेवकों ने बड़ी संख्या में जुटकर बाबरी मस्जिद का विध्वंस कर दिया। इस तरह बलवाइयों ने 6 दिसम्बर 1992 को 1528-29 में बनी मस्जिद के ढाँचे का विध्वंस कर ऐसा प्रदर्शन किया जैसे उसने पूरी दुनिया जीत ली हो। इसकी पूरे देश में तीखी प्रतिक्रिया हुई। देश भर में धरने-प्रदर्शन हुए और जुलूस निकले। सब तरफ तनाव और विद्वेष पसरा था।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एक धड़ा उत्सव में डूबा था, वहीं अधिकतर छात्र संगठन प्रदर्शनों के माध्यम से विरोध कर रहे थे। हालत यह हुई कि दिल्ली हफ्ते-दस दिन के लिए लगभग बन्द-सी हो गयी। जगह-जगह पुलिस और विरोध-प्रदर्शन। परिसर तो युद्ध-स्थल बना था। हर तरफ विरोध, कक्षाओं का बहिष्कार और दूसरे धड़े से हाथापाई। सब तरफ अशान्ति और उपद्रव का महौल था।

देश में पहले विश्वनाथ प्रताप सिंह की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के पतन और फिर चन्द्रशेखर के उससे अलग होकर सरकार बनाने और फिर त्यागपत्र देने, राजीव गांधी की हत्या आदि से जो परिस्थिति बनी थी, वह देश को अस्त-व्यस्त करने वाली थी। उसमें अब नरसिंह राव के नेतृत्व में चल रही काँग्रेसी सरकार के ढुलमुल रवैये ने देश की साम्प्रदायिक एकता को ढाँचे पर लगा दिया था। हर तरफ सवाल ही सवाल थे और मस्जिद का ढाँचा गिराये जाने को लेकर केन्द्र सरकार रक्षात्मक थी। वह उत्तर प्रदेश की कल्याण सिंह सरकार को बर्खास्त कर अपनी पीठ थपाथपा रही थी, पर इससे होना क्या था, जो होता। सवाल था कि अन्देशे के बावजूद केन्द्र सरकार ने इतनी डिलाई क्यों बरती; उसने कैसे यह न माना कि हजारों लोगों की उपद्रवी भीड़ शान्ति बनाये नहीं रख सकती थी और राज्य सरकार का पूरा तन्त्र

उनका परोक्ष समर्थन कर रहा था। सवाल यह भी था कि काँग्रेस ने विवादित स्थल का ताला खुलवाकर वहाँ पूजा-अर्चना की अनुमति क्यों दी और कैसे दी। देश उफन रहा था, सब तरफ अशान्ति और उपद्रव था। ऐसे में सरकार रक्षात्मक थी और माहौल को शान्त करने के प्रयास चल रहे थे। इस अनिश्चितता के कारण रोजी-रोजगार, कारोबार सब प्रभावित हो रहे थे और सरकार ऐसी जुगत में थी कि वह कुछ ऐसा करे जिससे अचानक सब शान्त हो जाए।

नरसिंह राव सरकार 24 जुलाई 1991 के बजट से देश में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत कर चुकी थी। यह उदारीकरण आर्थिक सुधार के नाम पर था जिसमें सरकारी स्वामित्व घटाकर निजी भागीदारी को बढ़ावा दिया जा रहा था। विदेशी कम्पनियों के लिए भारतीय बाज़ार खोले जा रहे थे। इस घटना के बाद सरकारी कर्ज़ की उपलब्धता को आसान बनाने और देश को एक ऐसे सपने में ले जाने की कोशिश हुई जिसमें घर, कार, उपभोक्ता सामान और विलासी वस्तुओं की खरीद के लिए बैंकों से ब्याज पर कर्ज़ देने की व्यवस्था थी। योजना अमल में आयी तो सरकार जिस चमत्कार की उम्मीद लगाये बैठी थी, वह फलित होती दिखी। अब लोग कर्ज़ लेकर अमीर होने की भीड़ में शामिल हुए और धीरे-धीरे एक खामोशी तारी होने लगी। कहते हैं कि इसी दौर में सरकारी संस्थाओं में पदों की कटौतियाँ शुरू हुईं। सरप्लस यानी अतिरिक्त की पहचान कर सार्वजनिक क्षेत्रों की संस्थाओं का सर्वे कर सरकार ने दबाव बनाकर बड़े पैमाने पर नौकरियाँ खत्म करने का सिलसिला शुरू किया और कम वेतनमान पर अनुबन्धित कर्मचारियों की नियुक्ति की शुरुआत की। अपने राजनीतिक लाभ और सत्तालिप्सा में चूर रहने वाला विपक्ष इस पर चुप ही रहा और धीरे-धीरे यह सिलसिला आगे बढ़ता रहा, जो बाद में सभी सरकारों की पहली प्राथमिकता में शामिल हो गया। कृषि क्षेत्र को देश की अर्थ-व्यवस्था का आधार मानने वाली मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की विदाई हो चली थी और नेहरू युग का मॉडल

बनाम नरसिंह-मनमोहन का उदारीकरण का मॉडल बहस में था। निजीकरण की शुरुआत और विदेशी कम्पनियों के लिए भारतीय बाजार को खोल देने से खस्ताहाल लघु और कुटीर उद्योग बैठने लगे। वैश्विक दौड़ में शामिल होने की इस शुरुआत में विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का दबाव तो था ही, विश्व अर्थ-व्यवस्था को नियन्त्रित करने वाले देशों का भी दबाव था जो अब पूरी दुनिया को विश्वग्राम बनाने का झुनझुना थमा रहे थे।

एक तरफ साम्प्रदायिक विद्वेष, तो दूसरी तरफ आरक्षण के लागू होने से ऊभ-चूभ हो रहे देश में रंगीन सपने बाँटने की यह मुहिम राजनीतिक सौदेबाजी भी साथ लायी जिसमें चुने हुए प्रतिनिधि मोटी रकम पाकर अपना पाला बदल ले रहे थे। जुलाई 1993 में नरसिंह राव सरकार के विरुद्ध संसद में अविश्वास प्रस्ताव आया। पर सरकार बचाने के लिए झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के चार सांसदों सहित दस अन्य सांसदों को रिश्वत दी गयी जिससे सरकार ने विश्वास मत हासिल कर लिया था। इस कार्य में तत्कालीन गृहमन्त्री बूटा सिंह ने मध्यस्थ की भूमिका अदा की थी और सभी चौदह सांसदों को अपने पक्ष में समर्थन देने के लिए तीस-तीस लाख रुपये दिये गये थे। जब बवाल बढ़ा तो झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के सांसद शैलेन्द्र महतो ने इसकी पुष्टि की जिसके बाद यह मामला सर्वोच्च न्यायालय में गया था। न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद-105 का हवाला देते हुए सांसदों को किसी भी कार्रवाई से बरी करते हुए यह व्यवस्था दी थी कि उक्त अनुच्छेद में सांसदों को विशेष रियायत प्राप्त है कि वे पार्टी लाइन से अलग होकर भाषण दे सकते हैं या किसी को भी अपना समर्थन दे सकते हैं।

देश में आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण के साथ-साथ छल-छझ और अनैतिक गठजोड़ों के साथ सरकार बनाने और बचाने का सिलसिला इसी दौर में शुरू हुआ। देश अब एक नये युग में था। अब पुराने मूल्यों का कोई काम न था। नीति, ईमानदारी, निष्ठा और कर्तव्य की अब नयी परिभाषाएँ गढ़ी जा रही थीं। सपने थे, इच्छाएँ

अनन्त थीं, देश जवान हो रहा था और उसकी उमंगों के पर लहरा उठे थे। सब कुछ इस तरह हो रहा था जैसे कोई रंगीन दृश्य आँखों के सामने लगातार बदलता जाता है। साँसों के साथ बदलते इस दृश्य में जो अभागे थे, उन्हें कुछ दिख नहीं रहा था—उन्हें सिर्फ काले धब्बे दिखते जिसमें उनका चेहरा धब्बों से पटा पड़ा महसूस होता।

उधर नरसिंह राव ने सांसदों की खरीद से अपनी सरकार बचायी, तो ठीक उसी जुलाई के 1993 में प्रभाकर ने जैसे-तैसे अपनी एम.फिल. का प्रबन्ध जमा किया और पी-एच.डी. में जाने की राह आसान की। दिनचर्या वही थी। नियमित काम पर जाना और पन्द्रह सौ के पगार से अपना जीवन चलाना। न कोई उत्साह, न कोई उमंग; बस जीवन कट जाए इसकी जुगत। मन में भारी असन्तोष और वित्तष्टा का जीवन जीता वह अकेला था। घर-परिवार, समाज सबसे जूझता, लगातार भागता नितान्त अकेला। इसी बीच उसके घर से एक चिट्ठी आयी जिसने उसे परेशान कर दिया। घर में माँ बीमार, सूखे में फसलें बर्बाद और फरीकों के झगड़े में मुकदमेबाजी। घर में फूटी कौड़ी नहीं। उस पर मुसीबत यह कि जर्जर घर की छत कब बैठ जाए, कोई ठिकाना नहीं। वह कुछ करे, कुछ सोचे नहीं तो अनर्थ हुआ समझे। चिट्ठी पढ़कर प्रभाकर की देह सूख गयी। चिन्ता के मारे परेशान प्रभाकर ने इधर-उधर काफी कोशिश की। जहाँ काम करता था वहाँ से कुछ अग्रिम लिया। कुछ पैसे पास रखे थे उसे जोड़ा, कुछ सहपाठियों से लिए और जब पन्द्रह हजार के क़रीब रुपये जमा हो गये तो उसे भेजने की बजाय कुछ दिनों के लिए गाँव जाना ही तय किया। मन उसका लगता न था, जहाँ बैठता वहीं गाँव की चिन्ता सिर पर बैठी रहती। उपाय यही था कि वह घर जाए और जो भी है, उसे आँखों से देखकर उसका निदान करे। किन्तु परिस्थिति ऐसी बनी कि वह जा न सका और पैसे मनीऑर्डर से भेजकर ही सन्तोष करना पड़ा। हुआ यह था कि उसके एम.फिल. के साक्षात्कार की तिथि निश्चित हो गयी थी इसलिए सम्भव ही न था कि गाँव जा पाता। पैसे

भेजे तो जो सम्भव था, हुआ। माँ का इलाज, अनाज की खरीद, बच्चों की फीस और छत की मरम्मत। जीवन में पहली बार उसने एकमुश्त इतना पैसा गाँव भेजा था; इसका उसे गहरा सन्तोष था और क्षणिक गर्व भी। पर जब आगे का सोचता तो देह सिहर उठती। लिए गये पैसे कैसे चुकता होंगे; और कैसे उसका काम चलेगा। जाने कब उसके दिन लौटेंगे। वह मन ही रोता-कलपता और अपने जीवन को कोसता।

समय का पहिया थोड़ा और बढ़ा, एम.फिल. का साक्षात्कार हुआ। अब कक्षा जाने की लाचारी खत्म हुई तो उसने अपने काम को आठ घण्टे में बदल दिया, इससे उसका पारिश्रमिक डेढ़ से तीन हजार हो गया और इस तरह आगे के कुछ महीनों में उसने लिए हुए कर्ज़ से मुक्ति पायी। अब वह जहाँ काम करता था, उसे एक ट्रस्ट का रूप दे दिया गया था। उसके अलावा वहाँ कई लोग आ गये थे और काम की जगह बदल गयी थी। एक बड़े मकान में चल रहा यह ट्रस्ट धीरे-धीरे साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाने लगा था।

* * *

वह अब पी-एच.डी. में था। पढ़ता-लिखता, पर उसे लेकर कोई उत्साह न होता। वह जानता था कि डिग्री एक शोभा से अधिक कुछ नहीं है। न रिश्तेदार कोई ऐसा है, न कोई सहारा देने वाला आका। चापलूसी उसे आती नहीं, पार्टीबन्दी से उसे चिढ़ है; ऐसे में किस्मत ही एकमात्र सहारा हो सकती है। किन्तु उसे मालूम था कि किस्मत भी उसकी कैसी है। प्रतीक्षा लम्बी हो गयी थी जिससे सबकुछ तहस-नहस हो रहा था। वह किसी को पसन्द नहीं; क्योंकि वह बेलाग है और आगा-पीछा करने वाला स्वभाव भी नहीं। खुद मुख्तारी की यह अक्खड़ता कई बार आत्मघाती भी बनाती है, ऐसा उसे देखकर लगता रहता। वह किसी की बुराई न करता, पर अनावश्यक समर्थन करे, यह नहीं हो पाता। यही कारण था कि वह किसी की पसन्दगी में न था। लोग उसका नाम सुनकर मुँह बिजका लेते और उसपर कटुकियाँ

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ , प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों

और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं,

तो हमारे विशेष ➡️  टेलीग्राम चैनल से जुड़ें

और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

 हमारे चैनल में आपको मिलेगा:

 अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)

 प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)

 धार्मिक ग्रंथ और किताबें

 विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य

 बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)

 और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खजाने

 कृपया "Join Now" बटन या लिंक पर Click करें!

HINDI BOOKS CHANNEL

[Join Now](#)  (धार्मिक, आजादी, इतिहास...से सबधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नई, पुरानी किताबों के लिए)

Join Now 

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

Join Now 

https://t.me/Google_Ebooks

Join Now 

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

Join Now 

<https://t.me/Hindilibrary>

करते। ऐसे बहुत कम थे जो उससे सहानुभूति रखते और उसे समझ पाने का प्रयास करते। वह जैसा था, वैसा ही था; वह किसी की शिकायत करे, यह न कभी देखा गया न सुना। फिर भी वह इतना तो बुरा नहीं कि कोई उसे इतना हेय समझे और उसके प्रति तनिक भी लगाव न रखे।

वह अराजक तो नहीं है। न चोर, ठग, बटमार। सच को सच कहना और अपने स्वाभिमान के साथ जीना क्या इतना बुरा होता है? क्या झूठे सपनों का खब्त पालकर बनावटी बनकर जीना इतना ही अच्छा होता है? होता होगा, उसे इसका क्या करना है। वह जैसा है, वैसा ही ठीक है।

रविवार की एक दोपहर रही होगी। वह उदास और अपनी चिन्ताओं में खोया कमरे की बालकनी में बैठा था। उसे अब एक पूरा कमरा मिल गया था और उसकी बालकनी से कुतुबमीनार सीधा दिखाई देता रहता था। दुमंजिले कमरे की बालकनी के नीचे ज़मीन पर फैली कँटीली झाड़ियाँ थीं, जो जाने कैसी थीं कि उनमें हमेशा ज़ंगली फूल लगे रहते थे। दूर से देखने पर वे बड़े मोहक और दर्शनीय लगते, पर पास जाने पर उनसे कोई गन्ध न आती। ज़ंगल के पार एक सड़क थी जो आँखों पर बल देने से दिखती। अचानक उसे एक कमसिन औरत दिखी जो शादी का जोड़ा पहने दिखाई दे रही थी। वह उसके हॉस्टल की तरफ आ रही थी कि कहीं और जा रही थी, यह सोचने का कोई मतलब न था, किन्तु पता नहीं क्यों उस पर बार-बार उसका ध्यान जाता और वह परेशान हो जाता। कुछ क्षण इसी उधेड़बुन में वहीं बैठा रहा। सोचा, होगा कोई; उसका उसे करना क्या है? ठीक इसी समय उसके दरवाजे पर दस्तक हुई, उसने दरवाजा खोला, तो आवाक् रह गया। सामने लाल जोड़े में चूड़ियों से भरी बाँहों के साथ कुमुद ही थी जिसका लम्बे समय से कोई अता-पता न था।

‘कुमुद, तुम? कहाँ से, कैसे?’ न जाने कितने प्रश्न प्रभाकर ने एकसाथ किये और वह भी दरवाजे पर खड़े-खड़े।

कुमुद उसके व्यवहार से अचकचाई, कुछ नाराज़ भी हुई और बोली—‘तुम यार सब कुछ खड़े-खड़े ही पूछ लोगे ? अन्दर तो आने दो ।’

‘हाँ, हाँ, आओ, आओ’ कहकर प्रभाकर ने उसे अन्दर आने दिया और दरवाज़ा बन्द किया ।

कुमुद को बिठाकर उसने एक गिलास पानी दिया और कहा—‘बोलो, यह क्या देख रहा हूँ । शादी भी हो गयी ? कहाँ थी अब तक ? यहाँ कैसे आ गयी ? किसने बताया कि यहाँ हूँ ?’

प्रभाकर असहज लग रहा था और औचक कुमुद के आने से अधिक दोपहर के समय उसके कमरे में होने से डर रहा था ।

‘शान्त बाबा, थोड़ा स्थिर होने दो, बताती हूँ ।’ कुमुद ने पानी का घूँट लेते हुए कहा और उसे इस तरह निहारने लगी जैसे कोई जादू कर रही हो । प्रभाकर का गला सूखा जा रहा था और अज्ञीब-सा महसूस हो रहा था । अचानक उसने नज़र नीचे की । फर्श पर झुकी नज़र अब थिर थी । खुले बाल कन्धों पर फैल गये थे ।

‘कैसे हो ? पता है, कितने बरस बीत गये ? तुम्हें तो हमारी याद तक नहीं आयी । बड़ी-बड़ी बातें । दोस्त । याद है तुमने क्या-क्या कहा था जब पिछली बार मिले थे ?’

‘दोस्त तो तुम अब भी हो और रहोगी । कैसे पता करता, बोलो । तुम्हारे घर जा नहीं सकता था । फोन करना या चिट्ठी लिखना खतरे से खाली न था । पता चलता भी तो कैसे तुम्हारा ? याद करता रहा, कभी न भूल पाया; भरोसा करो ।’

‘हूँ हूँ’ कहते और सिर हिलाते वह बोली—‘इसी भरोसे पर तो आयी हूँ । बहुत माथा-पच्ची की तो तुम्हारे साथ पढ़ने वाली एक लड़की से भेंट हुई थी, नाम है—मधु; वह बी.ए. में मेरे साथ थी । उसी ने बताया था कि तुम यहाँ हो । पता चला तो प्रतीक्षा करना भारी लगा और चली आयी; पास ही तो हूँ बेर सराय में । कुछ दिन और रहना है फिर चले जाएँगे, जहाँ जाना होगा ।’

‘ओह, इतनी पास हो ? और शादी कब की, कोई खबर न मिली ?’

‘शादी के छह महीने हो गये यार। यह लाल जोड़ा, चूड़ियाँ, सब साल भर तक पहनना होता है न, इसलिए नया-नया लग रहा है, लेकिन मैं नयी नहीं रही।’ कहकर वह दोनों हाथों से अपना चेहरा ढाँपकर सुबकने लगी थी। आँखों से झार-झार गिरते आँसुओं की बूँदें फर्श पर टपकने लगीं। उसने उसके कन्धे पर थपकी दी। अपने हाथों से चेहरा ढके हाथों को अलग किया। सांत्वना दी, तब वह सहज हुई और बोली—‘एम.ए. की परीक्षा देने के बाद मुझ पर कहीं निकलने पर पाबन्दी लगा दी गयी थी। बीच-बीच में शादी के लिए प्रयास होते रहते थे। मैं विवश थी। इतना साहस न था कि प्रतिकार करती। और करती भी तो किसलिए और किसके लिए। यह तो होना ही था। काफी दौड़-धूप के बाद एक लड़का मिला, जो कारोबारी है। उसके माँ-बाप उत्तर प्रदेश के जालौन में रहते हैं। वह दिल्ली में रहता है और महीने में पन्द्रह दिन अलग-अलग शहरों में आता-जाता रहता है। शेष समय वह साथ रहता है। बहुत मन का नहीं है, व्यापारी है, कोई रस नहीं, बस पैसा और पैसे की धुन में रहता है। कहता है, पैसे लो, घूमो-फिरो, सिनेमा है, क्लब है, जाया करो। जब साथ होंगे तो साथ हुआ करेंगे।’

‘अच्छा, घर-बार ठीक है ? मानने-जानने वाला तो है, दुख तो नहीं देता न ?’ प्रभाकर के इस भोले प्रश्न पर कुमुद का उदास चेहरा भी खिल गया और वह कुछ अटपटाती हुई बोली—‘अगर इसे ठीक समझते हो, तो ठीक ही मानो। अच्छा घर है। पीछे सुन्दर-सा लॉन। लॉन में झूला है। खिले हुए फूल हैं। काम करने वाली एक दाई है। घर में चार बड़े कमरे हैं। पास में पैसा है। फूलों को देखो, झूला झूलो, पैसे उड़ाओ और भूल जाओ कि तुम मनुष्य हो, तुम्हारा कोई जीवन है और मन भी है जो नेह-छोह चाहता है।’

‘ओह, समझा।’ प्रभाकर ने गम्भीर होते हुए कहा। थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला—‘उपाय क्या है और इसके सिवाय। जीना तो पड़ेगा

ही। आखिर किया भी क्या जा सकता है इसमें?’

‘किया तो जा सकता है बहुत कुछ। पर मैं अभी कुछ करने की हालत में नहीं। लेकिन लम्बे समय तक इसी तरह जीना सम्भव नहीं होगा।’

कुमुद की बातों से प्रभाकर भयभीत हो गया। यह स्थिति कोई प्रिय न थी। वह अभी उलझन में ही पड़ा था कि क्या बोले तब तक कुमुद बोल पड़ी—

‘प्रभाकर बाबू, इसे लेकर तुम परेशान न हो। तुम्हें तो सिर्फ बताया, साथ न माँगा। वैसे भी अब तुम एक दोस्त हो, और कुछ नहीं जो हम साथ चाहेंगे। याद करो, यही कहा था न दोस्त।’

प्रभाकर को कुमुद की चुभती हुई बातें काट रही थीं, पर वह कहता क्या। चुप ही रहा। इस बीच कई बार उसके दरवाजे पर दस्तक हुई और वह उन छात्रों को लौटाता रहा जो कमरे में आने को बेचैन थे और जब-तब दरवाजा पिट दिया करते थे। प्रभाकर की असहज स्थिति का अन्दाजा कर कुमुद भी अनमनी हो रही थी। इस तरह चुप थी जैसे उसे कुछ न बोलना हो। कुछ क्षण इसी तरह की चुप्पी रही।

प्रभाकर देख रहा था, अचानक कुमुद की आँखें सजल हो गयीं। वह भरसक अपने पर काबू करने की कोशिश कर रही थी, फिर कोशिश बेकार हो गयी। वह फफक पड़ी और दोनों हाथों से उसके कन्धों को झिझोड़ते हुए बोली—

‘मैंने तुम्हारे वचन को निभाया। कभी नहीं चाहा कि तुम्हारी राह का काँटा बनूँ। पर तुमने हमेशा अपने से दूर रखा। कभी जी को इतनी भी राहत न दे सके कि रीता मन तनिक भी चैन पा सके। सदा गैरों की तरह बर्ताव किया। अब भी तो ऐसा न करो। ऐसा कुछ भी कहाँ चाहती हूँ जिससे डरते हो।’

प्रभाकर की सूझ-बूझ चूक रही थी। वह क्या कहे, न कहे। यह कुछ समझती क्यों नहीं। ऐसी बातें क्या अब इसके मुँह से शोभा देती हैं? व्याहता है। विवाह का अपना एक धर्म है और उसकी एक

मर्यादा। इस तरह तो यह अपने जीवन में आग लगा लेगी—और उसे भी झुलसा डालेगी। वह अपना संकोच तोड़ते हुए बोला—

‘क्या कुमुद, पढ़ी-लिखी हो। अनजान की तरह बर्ताव न करो। बिना सोचे-समझे यह क्या बोल रही हो? ब्याहता हो, अपनी मर्यादा का विचार तो रखो?’

‘हूँ तुम्हारे पास मर्यादा का पाठ पढ़ने नहीं आयी। समझ रही हूँ कि यही सोच रहे थे बोलने को। मुझ पर तीर न मारो, बहुत छलनी हो चुके हम। ब्याह क्या इन जोड़ों से होता है? या कि इन चूड़ियों से। या कि माँग में भरे सिन्दूर से। नहीं न? मैं एक सामान की तरह किसी के घर में डाल दी गयी और वह ब्याह हो गया। अरे, जिसे सौंपी गयी, कम से कम वह तो इतना भी समझे कि मुझ में जीवन भी है? न समझे तो साथ यूँ ही पड़ी रहूँ या जान दे दूँ। क्या करूँ बताओ? क्या इस विवाह की मर्यादा केवल स्त्रियों के लिए बनी है, पुरुषों के लिए नहीं?’

प्रभाकर के पास उसके प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं था। इस लम्बी नोंक-झोक में समय का पता भी न चला। शाम होने को आयी। वह चुप था, यह उसकी समझ से बाहर था कि क्या बोले। यह कोई कचहरी न थी कि बोलना जरूरी ही था। वह उठा और कुमुद को कुर्सी से उठाया। समझाया कि शाम हो गयी है, उसे घर जाना चाहिए। इस पर बात करेंगे, सोचेंगे। वह यह न समझे कि साथ छूट गया है।

कुमुद उसके सहारे उठी। रूमाल से अपने चेहरे को पोंछा। मेज पर रखे गिलास को उठाकर दो धूँट पानी पिया और बोली—‘मुझे घर तक छोड़ दो। देख लोगे तो कभी आ सकोगे। मैं यहाँ बार-बार नहीं आ सकती, न आना चाहिए।’

उसके पास साथ जाने के अलावा कोई चारा न था। शिष्टता यह थी भी नहीं कि वह उसे अकेले छोड़ दे। वह तैयार होकर साथ निकला। पीछे की वही सड़क उपयुक्त मालूम हुई जिससे वह आयी थी। उसी सड़क पर कुछ दूर चलने के बाद एक जंगल आता था

जिसके बीचबीच एक पगडण्डीनुमा सड़क थी जो सीधे बेर सराय की सड़क से जुड़ जाती थी। दोनों सबसे बचते-बचाते उसी पगडण्डी से बेर सराय पहुँचे थे। कुमुद को इस चोर सड़क का पता न था। घर पहुँचकर कुमुद ने प्रभाकर को रोकने की चेष्टा की। वह थोड़ी देर रुका भी, पर जल्दी लौटने की जिद करने लगा। वह ज्यादा कुछ न कहकर इस आश्वासन पर सहमत हुई थी कि वह उससे जल्दी मिलेगा।

वहाँ से लौटने के बाद प्रभाकर चिन्तित था। कुमुद को लेकर उसे उतनी चिन्ता न थी; थी पर इतनी नहीं कि उसकी नींद उड़ा दे। चिन्ता का कारण अब भी उससे उसका गहरा जुड़ाव था जिसका खुलासा वह करके गयी थी। वह जितनी सहज दिखती थी, उतनी थी भी नहीं; और उसमें भी वैवाहिक असन्तोष उसके भीतर आग की तरह दहक रहा था। वह आग अगर भड़की, तो उसकी जद में वह स्वयं आएगा, जिसके लिए न वह पहले तैयार था न अब है उसकी छोटी-सी चादर में कोई चिंगारी भी चिपट जाए तो वह झुलस जाएगा, आग तो खैर उसे खाक ही कर देगी।

उसे इस तरह असन्तोष नहीं दिखाना चाहिए। विवाह अन्ततः एक समझौता है, इसे वह क्यों नहीं समझना चाहती। सुविधाएँ तो हैं, पति का भरोसा भी; मन भी मिल जाएगा, थोड़ा समय तो ले। छह महीने होते ही कितने हैं जो किसी सम्बन्ध को परखने में कारगर हो सकें। यह सब तो ठीक है, उसे समझाया जा सकता है; पर वह अपने को कहाँ छुपाकर ले जाएगा, असल सवाल तो यही था। उसके सामने वह क्यों इतना भीरू बन जाता है कि साफ़-साफ़ कह नहीं पाता कुछ; और वह उसे लिये-दिये घूम रही है। उसे भय है कि कहीं वह अपने लगाव को सार्वजनिक न कर दे। अगर ऐसा हुआ तो सब कुछ नष्ट हो जाएगा, बचेगा कुछ नहीं।

आप समझते होंगे, वह भीरू है, कापुरुष और हृदयहीन भी है। यही कारण है कि वह उससे भाग रहा है। उन प्रश्नों से भाग रहा है जो अनिवार्य हैं और बोझ की तरह कुमुद पर लदे हैं। उनका उत्तर चाहिए, समाधान चाहिए और उसे पाने के लिए कुमुद को उसका समर्थन-सहयोग भी चाहिए। वह उसका मित्र है, वह उससे प्रेम करती है जिससे वह भी इनकार नहीं करता, न अनजान है। ऐसे में उसकी यह भीरूता तो चालाकी और खुदगर्जी में भी बदलती दिखती है। यह तो मित्रता और प्रेम की ऐसी परिभाषा है जो मनुष्यता को कलंकित करने वाली है और यह प्रभाकर। उफ्फ! क्या कर रहा है? नहीं। वह ऐसा नहीं है, जैसा दिखता है। पर वह करे क्या? इसी उम्र में ज़िंदगी ने जो रंग दिखाये और जिन परिस्थितियों में वह है, उसमें इससे अधिक उससे उम्मीद करना उसे या तो नहीं समझना है या उसपर ज्यादती करना है। वह अकेला है, पर अनेक ज़िंदगियों को लादे चूर है। उसे सिर्फ दर्जन भर आँखें दिखती हैं जो उसकी तरफ टकटकी लगाये देखती रहती हैं जिनसे गिरे आँसुओं को वह पढ़ता रहता है। उनके आँसू पोंछने के अलावा उसका कोई लक्ष्य ही नहीं, न जीवन में कोई उमंग ही शेष है; इसीलिए वह डरता है और उन स्थितियों से दूर भागता जाता है जिनमें फँसकर उसे अपना अस्तित्व ही खतरे में पड़ा दिखता है।

उसके पास देह है, मन है, लालसाएँ भी। अनगिनत अतृप्त कामनाएँ भी हैं जिसे वह अपने सीने में दबाये खाक हो जाएगा। इसे वह जानता है। वह जी लेने की तात्कालिकता से इसीलिए परहेज करता है और ऐसी प्रवृत्तियों से चिढ़ता भी है। वह क्षणजीवी नहीं, न किसी की विवशता का अनुचित लाभ लेना स्वीकार करता है। वह मन के वेग के साथ उड़ना नहीं चाहता, उसकी वास्तविकता समझता है। जीना एक स्वप्न भले हो, उसमें ही उसे चैन है और यही चैन उसे अपने कर्तव्यों की याद दिलाता रहता है। अगर वह ऐसा न होता तो कुमुद बिना उस पर बोझ बने उसकी हो रहती और वह अपनी अतृप्त

कामनाओं की बंजरभूमि को सींचता रहता। किन्तु वह ऐसा नहीं हो सकता था। इसी तरह वह बहुत कुछ हो सकता था, पर नहीं हुआ; क्योंकि न ऐसा वह होना चाहता और न हो ही सकता था।

उस रात वह अपने से लड़ता रहा। अनेक चिन्ताओं के साथ कुमुद की चिन्ता भी आ जुड़ी थी जो उसे उट्टिग्न बना रही थी और पल भर चैन न पड़ता। वह उसके बारे में सोचता तो सोचता चला जाता। इसमें वह अपने को भी शामिल कर पछताता और स्वयं को कोसता। कोसता कि वह क्यों उससे मिली, क्यों वह उसके निकट गया, गया तो कैसे वह उससे दूर भागता रहा और उसके मन में फिर भी वह क्यों उतर गया। इस क्यों का कोई उत्तर न था। बस धुँधली छायाएँ थीं जो उसे डरातीं। जाने आगे क्या होगा, जाने क्या लिखा-बदा है। वह बार-बार ऐसी कठिन परीक्षाओं में क्यों डाल दिया जाता है। यही सोचते-सोचते और बार-बार खुद से लड़ते हुए उसे नींद आयी थी, लेकिन रात ढलने में अधिक देर न थी।

सुबह उठा तो देह टूट रही थी। आँखें जल रही थीं और सिर बहुत भारी हो चला था। अनमने भाव से मेस से चाय लेकर लौटते समय कोने की बड़ी मेज पर बिखरी हुई चिट्ठियाँ दिखीं। उसके कदम उस तरफ बढ़ चले। जाने क्यों उसे घर की चिट्ठी की प्रतीक्षा हो चली थी; जबकि अक्सर आती चिट्ठियाँ डरावनी ही होतीं और उसका दिल बैठ जाया करता। कभी कोई बीमार, कोई विवाद, कोई जरूरत कभी तंगी का रुदन, कभी देर सी शिकायतें। कभी उसकी कुशल-क्षेम की जिज्ञासा न दिखती, बस अपना-अपना रुदन होता जिसे पढ़कर वह भी रोता ही और आगे के कई दिन खराब हो जाते। चिट्ठी होती ही ऐसी है जो कभी खुशी नहीं देती। किसी और के लिए उसका जो भी मतलब हो, उसके लिए चिट्ठी का मतलब दुख ही होता और कागज पर खुदे बेतरतीब ढंग के अक्षर चीत्कार करते उसे डराते प्रतीत होते।

चिट्ठी आई थी; जाने उसे अब तक क्यों न मिली थी। अन्तर्देशीय पत्र पर लिखी चिट्ठी दस दिन पहले की थी। हड़बड़ी में खोलते हुए उसका एक हिस्सा फट गया, पर पढ़ने में आ रहा था। पिता को अल्सर हो गया था। अल्सर पेट का था इसलिए असहनीय पीड़ा होने लगी थी। पीड़ा होती तो वे बेहोश हो जाते। एक दिन खेत में काम करते पीड़ा उठी तो वहीं गिरकर मूर्छित हो गये। आसपास के लोगों ने उन्हें टाँगकर घर पहुँचाया। हालत खराब थी; इसलिए लोगों ने ऑपरेशन की सलाह दी। घर में पैसे न थे, कहाँ से होते जो लगते। ऊँचास का खेत बीस हजार में बन्धक रखकर अकलू भगत से पैसे लिए गए तो उन्हें गोरखपुर ले जाया गया। ऑपरेशन हुआ है, न होता तो अल्सर फट गया होता, जान न बचती। अब भी क्या भरोसा है। होश में नहीं आए हैं। ऑपरेशन के समय खून की जरूरत पड़ी। आधीरात का समय और बारिश; शहर भर में बिजली नहीं। उसी में बेतिया हाता के ब्लड बैंक से आया खून उनके ग्रुप का न होते हुए चढ़ाया गया। होश में आ जाएँ तो उसका रास्ता निकलेगा। ऐसा मेडिकल कॉलेज का डॉक्टर बोला था। बाकी सब ठीक है। पत्र को तार समझो, जो समझ में आए करो।

चिट्ठी उसकी माँ ने किसी से लिखवाया था। वह भीतर से चीत्कार कर उठा। क्या करे वह। अब तक कोई खबर नहीं। जाने क्या हुआ हो। उसने आनन-फानन में तैयारी की और ट्रस्ट को सूचित कर दोपहर तक निकलने की योजना बनाई। कुछ पास में पैसे थे और कुछ उधारी कर स्टेशन पहुँचा तो जो ट्रेन उपलब्ध हो सकी, उसे लेकर रवाना हुआ। वह ट्रेन लेट लतीफ थी, उसे जल्दी पहुँचना था। एक-एक क्षण उसे काटते। अन्दर आग-सी कुछ दहकती और लगता कि सीना फट जाएगा। दहशत के मारे गला बार-बार सूखता। पूरी देह में तपन-सी हो गई थी। वह बार-बार भगवान को गुहारता कि उसके पिता को ठीक कर दें। जाने क्या हुआ होगा। उसे गुस्सा आता कि क्यों नहीं तत्काल ही किसी ने उसे तार दे दिया। ट्रंक कॉल भी

हो जाता गोरखपुर से। जल्दी खबर तो मिल गई होती उसे। पैसेन्जर डिब्बे में लोग पर लोग चढ़े थे। बैठने की कहीं कोई गुंजाइश न थी। एक व्यक्ति ने ज़रा-सी जगह देकर उसको पैर टिकाने भर की दया की थी जिसके सहारे वह एक कोने में खड़ा हो पाया था। शाम हुई, फिर रात। ट्रेन की रफ्तार के साथ वह अपनी साँसों की लय में झूब-उतर रहा था। फिर थोड़ी-सी जगह मिली, तो बैठकर रात काटा, सुबह गोरखपुर पहुँचा।

गोरखपुर मेडिकल कॉलेज की अव्यवस्था से वह अनभिज्ञ न था। वहाँ गम्भीर बीमारियों के मरीज आते तो सही सलामत लौट न पाते। जिनका ऑपरेशन होता, वे तो निश्चय ही ईश्वर की शरण जाते। पर लोग उसी पर भरोसा करके आते। अभी यह खबर न थी कि उसके पिता अभी यहाँ हैं कि लौट गए हैं कि...।

सोचता तो सीना चाक हो जाता और आँखें बरस पड़तीं। उसने अपने विवेक से मेडिकल कॉलेज ही जाना तय किया। जाने पर गेट के सामने ही उसका भाई मिल गया जो इस बात का सबूत था कि स्थिति चाहे जो हो, उसके पिता यहाँ हैं। उसे देखकर वह लिपट गया और फफकते हुए बोला—‘भैया, बाबूजी की हालत बहुत खराब थी, अब होश में आए हैं। पर डॉक्टरों ने कहा है कि खतरा अभी टला नहीं है।’

उसने उसे साथ लिया और कबाड़ खाने की शक्ल में तब्दील हो चुके आई.सी.यू. वार्ड में दाखिल हुआ। चारों तरफ कराहते-चीखते मरीजों की भीड़ के बीच एक बेड पर उसके पिता पड़े थे। नाक-मुँह सब तरह-तरह की नलियों से पटे थे। बाँह की नस से ग्लूकोज चढ़ रहा था। माँ कुछ दूर बैठी सिसक रही थी और कुछ नजदीकी रिश्तेदार अपने किसी जरूरी प्रसंग पर बहस में व्यस्त थे। पिता ने उसे पहचाना था। चेहरे पर हल्का स्मित भाव प्रकट हुआ था जिससे उसके उद्धिग्न मन को थोड़ी तसल्ली मिली थी।

उसने जरूरी भाग-दौड़ की। डॉक्टरों से मिलकर स्थिति को समझा और स्थानीय परिचितों की मदद से उन पर दबाव बनवाया

कि उनकी देख-रेख ठीक हो सके। ऑपरेशन के समय गलत खून के चढ़ने से संशय गहरा था और इस तरह की असावधानी यहाँ अक्सर हुआ करती थी। इस पर बहस या विवाद करना कोई हल न था। अब तो जो स्थिति थी उसमें सुधार हो जाए और फिलहाल उनकी जान बच जाए, इसी की जरूरत थी। उसने भरसक प्रयत्न कर डॉक्टरों की लगातार मदद ली, हर सम्भव इन्तजाम किये; जिसके नतीजे में उसके पिता की चेतना पूरी तरह लौटी और वे जनरल वार्ड में लाये गये।

लगातार पन्द्रह दिन वहाँ रहने के बाद उनकी छुट्टी हो पायी थी। डॉक्टर उनकी सेहत को लेकर आशंकित थे और यही अन्देशा जाहिर कर रहे थे कि वे ज्यादा दिन चल न पाएँगे। उन्होंने जरूरी एहतियात के साथ उन्हें विदा किया और कलेजे पर पत्थर रखकर प्रभाकर बीमार पिता को लेकर गाँव लौटा था।

घर में मातमी सन्नाटा पसरा था। गाँव में भी किसी को उम्मीद न थी कि वे जी पाएँगे। किन्तु बचे रह गये तो चमत्कार ही था। घर की विपन्नता, रेहन पर ज़मीन, नाउम्मीदी में बरसती आँखें और पिता की अब-तब वाली ज़िंदगी ने उसे झकझोर दिया था। वह क्या कहे, किससे कहे और क्या करे। संकट चारों तरफ था, सहारा कहीं न था। वह घर का सहारा मान लिया गया था, लेकिन उसका सहारा तो कोई न था।

वह आगे के दस दिन तक घर पर रहा। समय पर दवा देना, खाने-पीने की व्यवस्था आदि देखना जरूरी था। इससे फ़र्क पड़ा और वे चलने-फिरने की हालत में आ गये, तो साँस में साँस आयी। लगा कि नयी सुबह हो गयी। उम्मीद ने मानों अपनी बाँहे लहराई और उसे भरोसा हुआ कि पिता कुछ बरस और जी लेंगे तो वह शायद इस लायक बन सके कि जिम्मेदारियाँ उठा सके। अपने बाल-बच्चों को भी देख सके। उस पत्नी को उसका आंशिक अधिकार भी दे सके जो वर्षों से दाई की तरह खटती अपने को भी भूल चुकी है। अभाव और अवशता ने उसकी स्त्री को हर लिया है और मन के कोने-अँतरे में

कहीं रची-बसी उमंगों ने भी अपना बसेरा बदल लिया है।

अनाथ से लगते बच्चे, दीन पत्नी, सपनों से दूर हुए भाई-बहन और पति की दशा से त्रस्त लाचार माँ—यह उसका परिवार था जिसका सबसे निकट का परिजन दुख था जो समय चक्र को रोके हुए था। लगता न था कि दुख कभी जाएगा और सुख के पाँव कभी उसके द्वार पर पड़ेंगे।

वह यह सब देखता तो कलेजा फटता। यही जीवन जीकर वह परदेश गया है। वहाँ भी इसे ही जीता है वह। नियति नहीं बदलती, कहीं कुछ नज़र नहीं आता। सब तरफ दुख है, अवसाद है, निराशा और अपने पर रोती हुई आँखें हैं। उसे यही मिला है जीने को और इसी में उसे खप जाना है; इसे वह जानता है और इसके लिए तैयार भी है। उसे अब लौटना होगा, यह सोचकर दुखी मन से उसने पिता से बात की। वे बोले—‘जाओ, जाना तो होगा लेकिन जल्दी कुछ करो नहीं तो पूरा घर सड़क पर होगा। मेरा क्या भरोसा। आज हूँ, कल न रहूँ।’ कहते हुए उनकी आँखें भर आयीं।

उसने भरे मन से उन्हें सांत्वना दी—‘ऐसा न कहिए, आप ठीक हो जाएँगे। अपना ध्यान रखिए। देह केवल खड़ी हुई है। अब इस पर ज्यादती कर मेहनत करेंगे, तो मुश्किल होगी।’

‘यह तो ठीक है लेकिन काम नहीं होगा तो जिएँगे कैसे, घर कैसे चलेगा?’

उनका प्रश्न अपनी जगह ठीक था। किन्तु शरीर की यह हालत न थी कि उससे काम लिया जाए। शरीर थका तो दिक्रियत होगी। डॉक्टरों ने चेतावनी दी है। कुदाल चलाना, साइकिल चलाना, अधिक चलना, वजन उठाना जैसे काम न रोके गये तो समस्या गम्भीर हो जाएगी। उसने समझाया और भविष्य की चिन्ता न करने की सलाह दी। वे बोले—

‘बेटा होता ही वही है जो पिता की सभी जिम्मेदारियाँ सिर पर ले लेता है। जानते हो, वह बाप बहुत खुशनसीब होता है जिसका बेटा

उसके जीते जी सब कुछ अपने सिर पर लेकर यह भरोसा देता है कि अब उसके बिना भी घर चल जाएगा। उम्मीद है कि तुम ऐसा करोगे, कर ही रहे हो।'

वर्षों बाद पिता से उसका यह संवाद हुआ था। वह उससे ज्यादा बोलते न थे और उस पर भरोसा कम करते थे। उसका पढ़ना-लिखना और खेती-गृहस्थी से अरुचि उन्हें पसन्द न थी। यही कारण था कि वह उससे अनमने रहते। अनमने न भी रहते तो यह उनके वश के बाहर की बात थी कि उसकी पढ़ाई का खर्च देते।

दूसरे दिन उसे निकलना था। मन दुखी था। लौटने की इच्छा नहीं हो रही थी पर विवशता थी। माँ को पता चला तो वह फूट पड़ी—‘किसके सहारे छोड़कर जाओगे। कौन है जो देखेगा। छोटे भाई-बहन इस लायक कहाँ हैं जो दिलासा भी दे सकें। कुछ हो जाएगा, तो हम क्या करेंगे?’

‘कुछ न होगा। बस उन पर सख्ती रहे। काम-धन्धा नहीं छोड़ेंगे तो दिक्कत है। उन पर नज़र रखो।’ प्रभाकर ने समझाया था।

‘उन पर भला कौन सख्ती करेगा। वह कभी मेरी बात मानते हैं जो मानेंगे? अधिक कोशिश होगी तो बिगड़ कर अनाप-शनाप बोलेंगे। अब तो भगवान का ही आसरा है कि उन्हें सद्बिद्ध दें।’ कहते-कहते माँ रो पड़ी थी और आँसू रोकने में असमर्थ पल्लू भी भींग गया था।

उसके अभी लौटने के निर्णय से सब दुखी थे, पर सबको यह भी पता था कि न लौटे तो थोड़ी-बहुत सहायता का एक अवलम्ब भी टूट जाएगा। उसने माँ को समझाया, कोई जरूरी खबर हो तो तार भिजवा दे, चिट्ठी नहीं। कोई कर सके तो फोन भी कर सकता है डाकखाने से। उसके हॉस्टल में फोन है, तुरन्त खबर मिल जाएगी, भगवान न करे कि ऐसी नौबत आए, फिर भी। शाम गयी, रात बीती। सुबह पौ फटने के पहले प्रभाकर घर से निकल पड़ा था। ट्रेन पकड़ने के लिए लगभग सौ किलोमीटर की दूरी उसने बस से पूरी की। फिर ट्रेन ली

और भरे मन से अपनी धरती को विदा कहा।

इस बार भी उसकी पोटली में दुख ही दुख थे। दुख का पारावार नहीं। किस्म-किस्म के दुख और उनके बीच उसके हौसले की एक छोटी-सी उम्मीद। यही उम्मीद उसे जिला रही थी। वह लड़ रहा था। थक जाता, निराश भी होता, पर हारता नहीं, उम्मीद का दामन न छोड़ता। मन के कोने में आशा का एक दीप दिपदिपाता रहता जो आश्वस्त देता कि कुछ होगा, अच्छा ही होगा। अब वह अकेला न था। कई ज़िंदगियों को जीते हुए व्यक्ति को यह अधिकार भी नहीं होता कि वह अपने को तोड़े। टूट जाए तो भी कोशिश करे कि फिर तन कर खुद को खड़ा कर सके। वह यही करता आ रहा था और ज़िंदगी के एक-एक दिन, एक-एक पल का हिसाब चुकाता कभी अपने में नहीं रह पाता था। ज़िंदगी थी और प्रभाकर था। दोनों एक-दूसरे से जुदा, पर एक-दूसरे के लिए जीने को विवश।

अन्दर से बहुत उखड़ा और अस्त-व्यस्त प्रभाकर ने काम शुरू किया। इस बीच उस पर कर्ज भी बहुत हो गये थे, घर की हालत और पिता के स्वास्थ्य की चिन्ता से बेहतरह परेशान उसका मन कहीं न लगता। पी-एच.डी. का काम भी सिर पर सवार था। उसमें भी यथासम्भव समय देता और इधर-उधर सन्दर्भ जुटाने में लगा रहता। अब चिन्ता उसे ऐसे किसी काम की थी जो मिले तो वह कुछ कर सकने लायक हो। अधिक प्रतीक्षा करने की दशा में न था।

ठीक इसी बीच संस्कृति प्रतिष्ठान में नौकरी की एक जगह निकली। प्रतिष्ठान सरकारी था और वेतनमान भी सन्तोषप्रद था। जीवन शुरू करने के लिहाज से नौकरी ठीक थी। बाद में नौकरी बदल लेने से भला कौन रोकता। लेकिन नौकरी मिलना आसान तो था नहीं। उन दिनों उस संस्कृति प्रतिष्ठान में घमासान मचा था। आए दिन वह विवादों में रहता। कुछ लोगों ने उसमें जाने से रोकते हुए सलाह भी दी कि वहाँ जीवन बर्बाद हो जाएगा। काम करने की जगह ठीक नहीं वह। किन्तु इन सबसे विमुख उसकी इच्छा वहाँ लग जाने की थी

जिससे उसे राहत मिल सके।

संयोग अनुकूल हुआ और वहाँ उसकी नौकरी हो गयी। खुशी सँभाले न सँभलती। उसने ईश्वर को धन्यवाद दिया और बड़ी राहत महसूस की। घर सूचना देकर उसने धन्यता का अनुभव किया, मानों उसने एक बड़ी लड़ाई जीत ली। आगे के दो-तीन महीनों में देनदारियों से मुक्त होकर उसने अनेक योजनाएँ बनायीं, फिर सोचा, उसमें फिर-फिर संशोधन किये। अब दुनिया बदली हुई दिखने लगी, लगा सब कुछ पटरी पर लौट आएगा।

इधर पी-एच.डी. पूरी कर उसने अपने बाल-बच्चों को बुलाने की योजना बनायी। हॉस्टल छोड़कर दिल्ली के दूसरे इलाके में छोटा-सा घर लेकर उसमें अपना ठिकाना बनाया। गाँव की देनदारियाँ, रेहन पर खेत, पिता का स्वास्थ्य, तंगहाल घर—सबकी चिन्ता जहाँ थी, वहाँ थी ही। कोई रास्ता न सूझता कि क्या करे, कैसे करे। उसने घर एक चिट्ठी लिखी। चिट्ठी में अपनी पत्नी सहित बच्चों को ले आने की बात थी। उसे उम्मीद थी कि घर में सहमति बनेगी। बच्चे हैं, तो उन्हें पढ़ने-लिखने का अवसर मिलना चाहिए। पत्नी है तो उसे जीवन का हक्क भी मिले; और वह स्वयं भी तो अकेला है। खुद ही हाथ जलाकर चूल्हा-चौका करना, नौकरी बजाना अब भारी पड़ता है। ऐसे में सेहत बिगड़ेगी, दिक्कत बढ़ जाएगी।

लम्बा समय बीत गया, पत्र का कोई उत्तर न आया। इस बीच वह अपने काम में व्यस्त रहा। संस्कृति प्रतिष्ठान का विवाद शिखर पर था। पुरस्कारों की बन्दरबाँट, सरकारी धन का दुरुपयोग, कर्मचारियों की प्रताड़ना और अध्यक्ष की नादिरशाही असहनीय हो चली। कुछ दिन की मिली खुशी अब तनाव में बदल गयी। लोग ठीक ही कहते थे, उसे यहाँ नहीं आना था। पर वह क्या करता, कैसे एक अवसर छोड़ देता। वह क्या जानता था कि आकर फँस ही जाएगा। उस पर काम का इतना बोझ होता कि दम निकलने लगता। नयी नौकरी थी, मना करता तो मुश्किल आती। क्या सोचकर आया था, क्या होने

लगा। सब किस्मत का फेर है, कर्म ही उल्टा-पुल्टा है, आदि बातें वह सोचता और कुढ़ता रहता। अब क्या हो, जो हो। कोल्हू के बैल की तरह नथकर तेल की तरह जीवन को पेरना ही नियति बनी थी, सो उसमें कोई करता भी क्या और हो भी क्या सकता था।

इसी बीच कुमुद और उसके कारोबारी पति कुलवन्त के बीच तनाव बढ़ गया। जैसे-तैसे कुमुद उसके साथ निर्वाह का प्रयत्न कर रही थी, लेकिन वह सुधरने-सँभलने का नाम ही न लेता। पहले तो वह महीने में पन्द्रह दिन बाहर रहता था, अब दो-दो महीने गायब रहता। कुमुद घर में अकेली दीवारों से जूझती या मन हेर-फेर करने दो-चार दिन के लिए मायके चली जाया करती। लेकिन यह उसकी समस्या का कोई निदान न था। वह अपनी व्यथा सुनाती तो माँ-बाप इसे ईश्वर की इच्छा मानकर जीने की सीख देते। प्रभाकर भी जब-तब मिलकर यही सलाह देता। वह जीवन से ऊबने लगी थी। संयोग ही था कि उसको कोई बाल-बच्चा न था वरना जीवन नारकीय यातना में बदल गया होता।

इसी में एक दिन ऐसा हुआ कि उसके धैर्य का बाँध टूट गया। ठीक दो महीने बाद देर रात को लौटा कुलवन्त आया तो उसके साथ एक अन्य व्यक्ति भी था। दोनों नशे में धुत् थे। दरवाजे की घण्टी बजी तो कुमुद ने जैसे-तैसे अलसाई दशा में उसे खोला था। दोनों के अन्दर आते ही शराब की गन्ध से उसका माथा चकरा गया। वह भन्ना उठी—

‘यह समय तो नहीं घर आने का; और उसमें भी इतना पीकर?’

कुलवन्त को उसका कहा हथौड़े की तरह लगा। वह लड़खड़ाता हुआ बोला—‘मुझे तो लगा था कि तुम महीनों बाद पति से मिलकर खुश होगी पर यह बेहूदा सवाल करने लगी। अपने घर में आने के लिए समय देखूँगा मैं?’

‘और जो यह पी रखे हो; यह क्या शोभा की बात है?’

कुमुद के कहे पर कुलवन्त आपे से बाहर हो गया। वह उसकी

तरफ लपका। उसके साथ आए व्यक्ति ने न सँभाला होता तो कुलवन्त हाथापाई कर बैठा होता। कुमुद बिलखती हुई अपने कमरे में जाकर रोने-कलपने लगी थी। लेकिन बात को यहीं खत्म नहीं होना था। वह बढ़ी तो इतनी भयावह हो गयी कि सँभालना कठिन हो गया।

कुलवन्त और उसके साथ आए व्यक्ति देर तक रसोई में खटर-पटर करते रहे। जो बन पाया, बनाया खाया और रात बैठक में सोफे पर सोकर काटा। सुबह देर तक सोये रहने के बाद कुलवन्त ने उठकर कुमुद को पुकारा। कुमुद ने रात को आँखों में ही काटा था। गुस्सा और अपमान में वह अब तक जल रही थी। उसके सामने आने पर बोला—

‘देखो, हर चीज़ की सीमा होती है। अब नहीं लगता कि हम साथ रह सकेंगे।’ कुमुद केवल ‘हूँ’ बोल सकी। वह बोलता रहा—‘मेरा काम ही यह है कि कब कहीं जाऊँ, लौटूँ, इसका कोई पता नहीं होता। तुम नाहक घर में पड़े-पड़े कुढ़ती रहती हो। अब इसका कोई हल निकालना चाहिए।’

कुमुद का सिर चकरा रहा था और कुलवन्त के इस व्यवहार से विचलित हो रही थी। वह बोली—

‘इसका क्या हल है, तुम्हीं बताओ। क्या सोचे हो, जरूर कहो’

‘यही हल है कि हम अलग हो जाएँ। न साथ रहेंगे और न यह विवाद होगा।’

‘अच्छा, तो तुम सोच लिए हो कि जैसे हो, वैसे ही रहोगे, बदल नहीं सकते?’

कुमुद के कहे पर वह उत्तेजित हो उठा—‘मैं ऐसा ही था जब तुम्हारे पिता ने खोजा था मुझे। आज भी वैसा ही हूँ और कल भी इसी तरह रहूँगा। मेरा काम-धन्धा जैसा है, उसमें इसी तरह होकर जीना पड़ता है। मंजूर नहीं, तुम्हें तो मुझे आज्ञाद कर दो।’

‘मतलब?’ कुमुद ने अचकचाकर कहा।

‘इतनी तो पढ़ी-लिखी हो। आज्ञादी का मतलब नहीं समझती?

मुझे अब माफ करो और अकेले ही रहने को छोड़ दो।' कुलवन्त ने नाटकीय मुद्रा में हाथ जोड़कर कहा था।

कुछ पल की खामोशी रही। कुलवन्त का साथी दूसरी तरफ बैठा बिस्कुट कुतर रहा था और इस तरह लग रहा था मानों इस घटना से उसका कोई वास्ता ही न हो।

कुमुद अचानक उठ खड़ी हुई और बोली—‘आज्ञाद कर दूँ? आज्ञादी चाहिए तुम्हें? पर कैसी आज्ञादी?’ इसमें ज्यादा समझने को क्या है? तुम मुझे छोड़ दो। मैं तुम्हें छोड़ दूँ। एक-दूसरे से हम दोनों आज्ञाद हो जाएँ।’

‘वही तो पूछ रही हूँ किस तरह?’ कुमुद का स्वर तीखा हो गया था।

उत्तेजित कुलवन्त व्यंग्यभरी मुस्कान के साथ बोला—

‘तुम जहाँ चाहो, जिसके साथ रहना पसन्द करो, रहो। ऐसा न कर सको तो मायके चली जाओ और मेरा घर छोड़ दो। यही तरीका है आज्ञादी का।’

कुमुद को काटो तो खून नहीं। वह उसकी बातें सुनकर सुन्न हो गयी। यह उसका पति था। अग्नि के समक्ष सात फेरे लेने वाला पति परमेश्वर। सात जन्मों तक साथ निभाने का संकल्प लेने वाला पति; जिसके साक्षी उसके परिवार थे, पुरखे थे और अदृश्य देवी-देवता थे। कितनी सहजता से उसने ऐसी घृणित बातें कह दीं, सोचा तक नहीं कि वह कह क्या रहा है। यह कहते उसकी जीभ क्यों नहीं गिर गयी। कुमार्गी और पली को एक दासी की तरह इस्तेमाल करने वाला यह पतित ऐसा भी निकलेगा, उसने सपने में भी न सोचा था। उसकी बुद्धि चकरा रही थी। कुछ भी सोचने में न आ रहा था। अचानक यह घर एक भयानक जंगल में बदल गया था, जहाँ की हर चीज़ डरावनी बन गयी थी और उसकी स्वयं की देह भी अपनी नहीं लग रही थी जिसे जाने कितनी बार इस पतित ने नोचा-खसोटा था। अब उसे यह समझते देर न लगी कि केवल पीने और धन्धे में ढूबे रहने

का अभिनय करने वाला यह कुलवन्त निश्चय ही चरित्रभृष्ट भी होगा और इसलिए भी आज्ञादी चाहता होगा कि उसमें वह बाधा न बन सके। वह चुप रही। अधिक बोलना या उसका प्रतिवाद करना खतरे से खाली न था। वे दो थे और वह अकेली। आस-पड़ोस में भी सब के सब वैसे ही थे। हर औरत गुड़िया थी जिसे मर्द खेल समझता था। घर, दौलत और बेहिसाब ऐशो-आराम के बीच चलने वाले तमाशे को वह जानती थी। कुलवन्त अकेला हो, ऐसा नहीं था। पर कुमुद उन औरतों की तरह नहीं हो सकती थी जो अपने जीवन को नियति का प्रसाद मानकर जी रही थीं।

देश में जब से आर्थिक उदारीकरण आया था तब से बेहिसाब बैंकों के कर्ज सुलभ थे। मकान, दुकान, उद्योग, कार और सब कुछ के लिए किश्तों पर कर्ज की व्यवस्था ने अद्याशी बढ़ायी। अचानक अमीर दिखने और हो सकने की लालसा ने मध्यवर्गीय समाज को जिन सपनों में डाल दिया था, उसमें चाहने के अलावा कुछ न था। शराब और वासना तो जैसे हर उस व्यक्ति में घुल गयी थीं जो तत्काल को जीकर अपने को धन्य मान रहा था। अब ऐसे लोगों के लिए मूल्यों का कोई मतलब न था, वे पुराने हो चुके थे और वे नये मूल्य बनाने में लगे थे। नये मूल्य इसी तरह बन रहे थे। शराब, बेहिसाब अद्याशी, विवाहेतर सम्बन्ध, मनचाहा जी लेने की आतुरता और आज्ञाद-खयाली। किसी को कोई बन्धन नहीं चाहिए, न सम्बन्ध, न कर्तव्य, न भाव, बस, जी सको जितना, उतना जी लो। जो बाधा बने, उसे रास्ते से हटा दो। यह कर्ज से अमीर बनते और अवैध रास्तों से पैसा उगाही करने वालों का एक मात्र ध्येय था। समाज का ढाँचा बदल रहा था। इस बदलाव में पुरुषों के साथ जो स्त्रियाँ बदल रही थीं उनके लिए कोई कठिनाई न थी। जो सम्बन्धों और उनके मूल्यों के साथ अपने अधिकारों के प्रति सचेत थीं, उनके लिए जीना कठिन हो रहा था। कुमुद ऐसी ही थी और वह वैसी नहीं हो सकती थी, जैसा कुलवन्त उसे बनाना चाहता था।

‘तो मैं यह घर छोड़ दूँ? पता है, यह तुम क्या कह रहे हो? यह घर क्या केवल तुम्हारा ही है।’ वह देर तक चुप्पी के बाद बोली थी।

‘अच्छा तो यह बात है। तुम यह सब पत्नी के अधिकार से बोल रही हो। सीधे मन से झुक कर कहती तो जीने-खाने के लिए कुछ देता भी रहता। कहीं किसी जगह पड़ी रहकर जी लेती। पर अब तो कुछ भी न दूँगा। अदालत से ही जाकर अपना हक्क लेना। देखेंगे कि कैसे ले पाती हो।’ कुलवन्त बिहँसते हुए बेशर्मी से बोला। उसका साथी भी कुटिल मुस्कान के साथ कुमुद को देख रहा था।

अब कुछ न बचा था जो संवाद के दायरे में हो। कुलवन्त के अचानक बदले तेवर से स्पष्ट था कि उसने योजना बनाकर ही यह चाल चली थी और वही तरीका अपनाया था जिससे कुमुद आहत हो। अपने साथ एक-दूसरे व्यक्ति को लाना उसके षड्यन्त्र का ही हिस्सा था ताकि कुमुद अपमानित हो और संवाद का कोई सिलसिला ही न बन सके। उसे कुमुद का स्वभाव मालूम था और पहले अनेक बार वह कुमुद की लताड़ को झेल चुका था। कुमुद तत्काल प्रतिरोध की स्थिति में न थी। उसने जल्दी-जल्दी में अपने कुछ जरूरी कपड़े और जेवर एक सूटकेस में रखा और बाहर निकलने को हुई। उसे निकलता देख कुलवन्त ने कहा—

‘एक बार फिर सोच लो। जैसे रहती रही, उसी तरह रह सको तो ठीक है। अब भी रह सकती हो।’

कुमुद ने कोई उत्तर न दिया और वह रोती हुई तेज क़दमों से बाहर आ गयी। कुछ दूर चलने पर सड़क आ गयी थी जहाँ उसने एक ऑटो लेकर अपने मायके का रुख किया।

दुख था और अपने जीवन के इस अभिशाप पर बहुत क्षोभ भी, पर कोई रास्ता न था। रास्ता सिर्फ संघर्ष का ही था और उसमें जो झेलना था उसके लिए तैयार होना था। प्रश्न सिर्फ इस दुख और क्षोभ का ही नहीं था, जीवन के नरक बन जाने का भी था। वह एक ऐसी नाव पर सवार थी जो तूफान में डाल दी गयी थी। उसका गन्तव्य पर

पहुँचना तो मुश्किल था ही, जीवन का बच पाना भी कठिन था। इतना लम्बा जीवन और यह मुश्किल समय। विवाहिता होकर परित्यक्ता बनकर मायके रहना, माँ-बाप के आश्रय पर जीना किसी-विपत्ति से कम नहीं होता। पास-पड़ोस, समाज इसमें तरह-तरह के अर्थ खोजकर उपालम्भ देते हैं। वे चैन से जीने नहीं देते। उसमें भी आखिर कब तक वह उनके आश्रय में रह सकेगी। कभी सोच भी न पायी और इसका अवसर भी न बन पाया कि वह अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ हो। उसे लड़की और घर की प्रतिष्ठा का मूढ़ पाठ पढ़ाकर माँ-बाप ने इस तरह बनने ही न दिया कि अपना निर्णय कर सके। अब उसकी लड़ाई लम्बी है, साथ किसी का भी नहीं। माँ-बाप कितना साथ देंगे, कहना कठिन है। कैसे होगा यह सब। इन अनेक प्रश्नों का उत्तर मुश्किल था और वे सभी प्रश्न उसे बेध रहे थे। आँखों से झरते आँसू और भीतर उठे तूफान से लड़ती हुई कुमुद मायके पहुँची थी। अब वही उसका घर था। जिसे घर बनाया गया था, वह छूट चुका था। घर और घर के बीच लम्बा फासला था। आँसू थे, दुख था, क्षोभ था, पर पछतावा न था। यही उसकी असल ताकत थी। जान बच गयी तो अपना हक्क भी ले सकेगी। जरूर लेगी, यह विश्वास तो था। शेष जीवन जिस तरह कटेगा, कटेगा; लेकिन वह इस अभिशाप से लड़ेगी; और इसी संकल्प के साथ उसे जीना था।



इन दिनों प्रभाकर संस्कृति प्रतिष्ठान में चल रहे विवादों के बीच बुरी तरह लाद दिये गये कामों से परेशान तो था ही, उठे विवादों पर झूठे जवाब बनाकर अखबारों में भेजने के दायित्व से भी परेशान था। उसका मन बार-बार प्रतिरोध करता और वह खुद से ही जूझता। प्रतिष्ठान के तत्कालीन अध्यक्ष विवादास्पद थे। उन पर लगातार आरोप लगते रहते। कभी किसी परिचित को पुरस्कार देना, कभी किसी अयोग्य व्यक्ति को पैसे लेकर विदेश भेजना और प्रतिष्ठान के

कार्यक्रमों की राशि को निजी कामों में इस्तेमाल करना उनका शगल था। इस काम में प्रतिष्ठान के कुछ भ्रष्ट अधिकारी उनके साथ थे। जो विरोध करता, उसे वे निलम्बित कर देते या तरह-तरह की प्रशासनिक यातनाएँ देते। इससे वहाँ एक मजबूत कर्मचारी संघ अस्तित्व में आ गया था जो उनके इस नादिरशाही कामकाज का लगातार विरोध कर रहा था। प्रभाकर अभी नया था और समझ नहीं पा रहा था कि क्या करे। इसी बीच जब एक पुरस्कृत कलाकार के बयान सहित अखबार में एक खबर छपी, तो प्रभाकर की चेतना जगी। बयान में कलाकार ने आरोप लगाया था कि पुरस्कार की राशि अग्रिम लेकर उसे पुरस्कृत किया गया है और ऐसे अनेक लोग हैं जिनके साथ वर्षों से यही होता आ रहा है। अखबार ने सरकार से आग्रह किया था कि वह इस संगीन मामले की जाँच कर उक्त विवादास्पद अध्यक्ष को हटाये और प्रतिष्ठान का अधिग्रहण कर ले।

इस पर संस्कृति समाज में प्रतिष्ठान का मजाक बन रहा था और कर्मचारी संघ धरने-प्रदर्शन आयोजित कर तत्कालीन प्रशासन के विरुद्ध संघर्ष तेज कर दिया था। अनेक अखबारों ने इस मुहिम को हवा दी। मामला लोकसभा तक जा पहुँचा। संस्कृति मन्त्रालय हरकत में आया और प्रतिष्ठान का अधिग्रहण कर विवादास्पद अध्यक्ष को हटाने के साथ-साथ पूरी कार्य-परिषद् को तत्काल प्रभाव से भंग कर दिया गया। वहाँ अब प्रशासक नियुक्त कर दिया गया था जिसके जिम्मे अब तक हुई अनियमितताओं की जाँच और प्रतिष्ठान की विश्वसनीयता को बहाल करने का काम था।

यह उस प्रतिष्ठान का हाल था जो देश की संस्कृति के विकास और उसके संरक्षण के दायित्व से बँधा था। बड़े-बड़े सपनों के साथ मिली आजादी को 50वें वर्ष ही बिखर जाना था, तो उसे बचाता कौन! सब तरफ लूट, मक्कारी, झूठ और कदाचार का राज था जिसमें जीते हुए दम घुटता था। प्रभाकर अपनी दयनीय स्थिति से विवश होकर इस नौकरी में आया था; और उसे पहले से मालूम था कि वह

किसी शान्त और सुखी जगह-नहीं जा रहा है। पर वह इतना ही बुरा है, इससे अनजान था। पहले तो इस तन्त्र से बाहर था तो तरह-तरह की बातें चला करतीं। बड़े-बड़े दफ्तर, विभाग, उनके नाम-यश, पद-पुरस्कार उसे लुभाते और कल्पना में वह जाने क्या-क्या सोचा करता। विश्वविद्यालयों में पढ़ते नजदीक से उन्हें भी देख चुका था। अब इस प्रतिष्ठान में रहकर समझ पा रहा था कि यह बड़े-बड़े नामों के वह स्मारक हैं जहाँ चारागाही संस्कृति आबाद है। प्रतिभा, मूल्य, गुणवत्ता, जैसी चीजें मतलब की नहीं, सम्पर्क, रिश्ता और अवसर को समझ पाने की काबिलियत ही वह चीजें हैं जिनसे आप जो चाहे पा सकते हैं। यहाँ काम करते हैं तो तन्त्र जैसा चाहे, वैसा चलें। आप उसके अधिनायकवाद को चुनौती देंगे, तो फेंक दिये जाएँगे या आपको ऐसी यन्त्रणाओं से गुजरना होगा जिससे आजिज आकर नौकरी छोड़ देंगे या अवसाद में जिएँगे।

नौकरी के दो साल उसने प्रतिष्ठान को सीखने-समझने में ही लगा दिया था। अभी ऐसा अवसर कम ही आया था जिसमें वह अधिक परेशान होता; आता इसके पहले प्रतिष्ठान का अधिग्रहण हो गया और नये तन्त्र ने सारे काम-काज रोक कर जैसे कार्यालय को केवल आने-जाने और वेतन लेने भर तक सीमित कर दिया था; इसलिए घुटन भरे माहौल से मानों निजात मिल गयी थी।

वह ढलते दिन का कोई समय रहा होगा, जब कुमुद थकी-हारी दशा में उसके कार्यालय में आयी थी। उसकी हालत देख प्रभाकर चौंक गया, पूछने पर उसने अपना वृत्तान्त कह सुनाया। सुनकर प्रभाकर चिन्तित हुआ, बोला—

‘यह तो बहुत बुरा हुआ। यह होना न था।’

मैंने नहीं किया यह सब। वह यही चाहता था और ऐसे ही किसी मौके की तलाश में था।’

कुमुद का थकी आवाज में जवाब था।

‘इसका क्या हल निकाला जाए। उपाय क्या है?’

‘अदालत के अलावा रास्ता क्या है। तुम किसी वकील से बात करो। उस अय्याश को सज्जा देना जरूरी है और अपना हक्क भी लेना।’

‘तुम्हारा मतलब तलाक से है और मिलने वाले अपने नियमित खर्च से?’

प्रभाकर ने कुमुद से पूछा था।

कुमुद ने सहमति में सिर हिलाया था और अपने उत्पीड़न के सवाल को भी उठाने की बात की जिससे वह किसी के भी साथ भविष्य में दोबारा करने की हिम्मत न कर सके।

प्रभाकर को इस संघर्ष में उसका साथ देना था। वह कटिबद्ध था कि उसका सहारा बने। कहीं न कहीं वह अपने को अपराधी भी मानकर चल रहा था; क्योंकि यदि वह उसे अपना सका होता तो उसके साथ ऐसा दुर्भाग्य घटित न हुआ रहता। उसके अलावा भी यदि कोई और उसके जीवन में आया होता, तो भी इस यातना में वह न पड़ी होती। वह प्रभाकर ही था जिसके मोह में कुमुद कोई और राह न देख सकी थी। समस्या विकट थी, कठिनाइयाँ थीं और सब तरफ उदासी का पसारा। प्रभाकर इस सच से भी अनजान न था कि अदालतें किस तरह से काम करती हैं। वकील करना और उसकी फीस भरते रहना कोई मामूली झंझट का काम न था। किन्तु दूसरा कोई रास्ता भी न था।

कोशिश करके प्रभाकर ने एक परिचित के मार्फत एक वकील से बात की। उसने गम्भीरता से मामले को समझकर मुकदमा दायर करने की सलाह दी। जरूरी कागजात मुहैया कर, जैसे-तैसे पैसे जुटाकर मुकदमा दायर हुआ, तो उसने राहत की साँस ली।

अब यह भी उसके दायित्व में आ जुड़ा था। कुमुद मायके में भी भारी तनाव से गुजर रही थी। माँ रोती रहतीं और पिता उसे चारों तरफ भद पिट रही कथित प्रतिष्ठा का ताना देते। छोटा भाई इस चिन्ता से दुबला हो रहा था कि परित्यक्ता बहन के घर में रहते उसकी शादी नहीं हो पाएगी। रिश्तेदार कुमुद में ही खोट निकालकर उसके चले

आने की उसकी चारित्रिक विफलता मानते। कुमुद घर के एक कमरे में दुबकी रहती और अपनी किस्मत पर आँसू बहाती। लेकिन वह कमजोर न थी। हौसला था और अपनी जीत का भरोसा भी। कभी-कभी जब वह तानों से परेशान हो जाती, तो घर से निकल जाने को कहती और चीख पड़ती—

‘यह मेरी लड़ाई है। लड़ना और जीतकर दिखाना हमें आता है। हमें कोई कुछ न कहे, हम अपने को गिरवी रखकर नहीं जी सकते। अगर यहाँ रहने देना भी मंजूर न हो, तो निकल जाएँगे। पर यह रोज-रोज का ताना नहीं सुनेंगे।’ उसके कोप से सन्नाटा पसर जाता। फिर कोई कई दिनों तक कुछ नहीं कहता। प्रभाकर उसका सम्बल था और उसे यह जानकर सन्तोष हो रहा था कि अरसे बाद मिलने पर भी वह उसके प्रति सहानुभूतिशील है और उसके संघर्ष का साथी भी। उसका इतना साथ और भरोसा भी मिलता रहे, तो उसे कुछ न चाहिए।

गतिरह

लम्बे समय तक घर से पत्र न आने के कारण प्रभाकर चिन्तित था। घर का कोई हालचाल मिल नहीं रहा था। पिता की सेहत की चिन्ता अलग थी। भली-बुरी नौकरी हो गयी थी; अब उसे अपनी जवाबदेही की याद आ रही थी। पत्नी और बच्चे आ सकें तो उनके पढ़ने-लिखने का एक माहौल मिले। कोल्हू के बैल की तरह यातना झेल रही पत्नी को भी थोड़ी राहत मिल सके। पत्नी का ध्यान आते ही वह उदास हो गया और अपने को अपराधी मान जाने क्या-क्या सोचता रहा। वह भीतर से तड़प उठा। वह क्या करे, यह सूझता न था। कार्यस्थल का विवाद, कुमुद का तनाव जो था; वह अपनी जगह एक बड़ी परेशानी का कारण था। उसने तय किया कि उसे दो-चार दिन के लिए गाँव जाना चाहिए। कोशिश की तो एक हफ्ते की छुट्टी मिल गयी। जैसे-तैसे उसने गाँव की राह ली थी।

गाँव पहुँचा तो स्वभावतः सब खुश हुए और उसे देखकर अच्छा लगा कि कुल मिलाकर चिन्ता की कोई बात नहीं है। पर उसकी चिट्ठी का जवाब क्यों न भेजा गया, यह सवाल उसके मन में था और यदि वह मिला होता तो उसके आने की जरूरत न थी। कई तरह के काम थे, फुर्सत नहीं थी कि वह आ पाता। पर कारण क्या है? कारण थोड़ा-बहुत वह खुद जानता था लेकिन भरोसा था कि अब भी दृढ़ धर्मिता टूटेगी, लोग उसका भी हित-अहित समझेंगे; पर बेकार, उस सोच में कोई परिवर्तन नहीं आया था। पिता अब अधिक बोलते न थे,

देह अधिक साथ नहीं देती थी। थोड़ा चल देते तो पेट में असहनीय दर्द उभर जाता। वे उदास रहते और आने वाले दिनों की आहट भाँपकर कभी-कभी भावुक भी हो जाते थे। जवाब के लिए माँ तैयार थी, बोली—‘माँ-बाप पढ़ा-लिखाकर बेटे को लायक बनाते हैं। नाना तरह के दुख उठाते हैं; क्या इसीलिए कि वह जब अपने पैरों पर खड़ा हो जाए तो अपनी मेहरी को पहचान ले, अपने बच्चों को जान-समझ ले और जहाँ जन्म-करम हुआ, उस धरती को पराया कर दे?’

प्रभाकर अपनी माँ के इस जवाब से हक्का-बक्का हो गया था। उसे पता चल गया था कि उसकी भेजी चिट्ठी से घर में तनाव फैल गया था और उसकी पत्नी को इसका दोषी बनाकर लांछित किया गया था। कहा गया था कि उसने चुपके से बुला लेने का सन्देशा भिजवाया होगा। वह रोती-कलपती इस बात से इनकार करती रही थी, पर किसी ने उसकी बात नहीं सुनी थी।

‘वह तो ठीक है माँ, पर किसी के पढ़ने-लिखने और कमाने का क्या मतलब है जब वह अपने बाल-बच्चों को साथ रखकर पढ़ा-लिखा न सके और अपनी पत्नी को जी सकने लायक सुख भी न दे सके। इससे अपनी धरती पराई कैसे हो जाती है? मैं किसी को छोड़ तो नहीं रहा, जो लगता है, वह करता हूँ और आगे भी करता रहूँगा। फिर इसमें हर्ज़ क्या है?’

प्रभाकर के कहे पर माँ की तीखी प्रतिक्रिया हुई और वह आगे कुछ न बोल सका। वे बोलीं—

‘सब यही कहते हैं, पर परिवार साथ हो, तो भूलकर भी पीछे मुड़कर नहीं देखते। तुम्हारे तो पिता बीमार हैं, आगे क्या हो, कुछ पता नहीं। जवान बहनें हैं, बेकार भाई हैं, सब कुछ बिखरा-उजड़ा है। ऐसे में परिवार ले जाकर इस लायक बचोगे भी कि घर की तरफ देख सको? मुझे जो कहना था कह दिया, आगे क्या कहना। परिवार तुम्हारा है, जब चाहो ले जाओ, कोई क्यों रोकेगा।’

भाई-बहन की टकटकी और पिता की आँखों से झरते आँसुओं

के बीच गाँव की दो-चार महिलाएँ आकर कलियुग के आने की मुनादी करने लगीं—‘कलियुग इहे तो है भउजी। बेटा मेहरी ना चीन्हे तो कलयुग कैसा। ई त एतना पढ़े-लिखे हैं, जवन कम पढ़ा- लिखा हो, ऊ का करे आगे, ई समझने में अब मुस्किल नाहीं।’

प्रभाकर चुप था और देख रहा था कि घड़ी भर में भीड़-सी जमा हो गयी। लोग तरह-तरह की बातें करते आनन्द लेते और इसे घोर कलियुग करार देकर प्रभाकर पर व्यंग्य-वाण छोड़ते। जब बहुत कहा-सुनी हो गयी और बर्दाश्त करने योग्य न रहा तो बीमार पिता बाहर आए। उन्होंने प्रभाकर की माँ को फटकार लगाई और लोगों को अपनी राह लेने की नसीहत दी। उन्होंने माँ को डाँटते हुए कहा था—‘बेटा तुम्हारा है। इसके बच्चे भी तुम्हारे ही हैं। कुछ पढ़-लिखकर लायक बनेंगे, तो कठिनाई क्या है? तुम्हारी बहू क्या जीवन-भर घर की दाई ही बनी रहेगी; क्या उसे अपने पति के साथ रहने का हक्क नहीं? यह सब न करो, बहुत तकलीफ होती है।’

प्रभाकर तो बना ही इसलिए था कि सबको लेकर जिए, सबको लेकर मरे। संघर्ष नियति में था, सबके साथ, पर सबसे अकेले जीने की यन्त्रणा भी उसी के हिस्से थी। वह किस-किस से लड़े और क्या करे। सामने जब माँ-पिता ही हों और वह कुछ समझने को तैयार न हों, तो उपाय क्या बचता है। बीमार पिता का स्वभाव पहले से बहुत बदल गया था लेकिन माँ के व्यवहार की रुक्षता गयी न थी। प्रभाकर की इस पर कोई आपत्ति न थी कि वह जीवन-पर्यन्त अपने माँ-पिता सहित भाई-बहनों को भी देखे, जो हो सके करे, पर उसके लिए अपनी पत्नी और बच्चों को गाँव छोड़ना उसे उचित नहीं लग रहा था। इसके बावजूद वह विवश था। वह माँ को दुखी नहीं कर सकता था।

जिसकी कोख से वह जन्मा था। वह न होती तो वह इस लायक भी कहाँ हो पाता कि गाँव की सरहद छोड़कर दिल्ली पढ़ पाने का सपना भी देख पाता। इसमें उस माँ का भी क्या दोष, कि वह उसे ग़लत ठहरा सके। यहाँ का यही रिवाज है। घर-घर में इसी तरह बलि

चढ़ने के लिए एक से दो लोग होते हैं जो जीवन भर गृहस्थी ढोते हैं और अन्त में इसी धरती में राख हो जाते हैं। इसमें पढ़े-लिखे या अनपढ़ का कोई भेद नहीं है।

वह यही सब सोच रहा था कि उसकी माँ पास आकर बोलीं— ‘तुम तो यहीं के सरकारी स्कूल में पढ़े हो न, बच्चे भी पढ़ सकते हैं। मेरे दूसरे बेटे-बेटी दिल्ली तो नहीं गये न पढ़ने ? हाँ, अगर घर से कट ही जाना चाहो, तो ले जाओ परिवार, हम क्यों रोकेंगे ?’

प्रभाकर उन्हें समझा नहीं सकता था, समझाना भी नहीं चाहता था। उसने कुछ न कहा। तय कर लिया कि उसे अकेले लौटना है। वह सबको दुख देकर विरोध करके परिवार नहीं ले जा सकता, नहीं ले जाना चाहिए। पत्नी कुछ न बोली, बच्चे बोल नहीं सकते थे। पिता भी चुप थे। भाई-बहन चुपचाप घर में पसरे तनाव को भाँप रहे थे। यह मुश्किल स्थिति थी और घर में जैसे सब इससे जूझ रहे थे। उस रात वह बहुत उद्धिग्न था और अपने आने को लेकर पछता रहा था। सुबह उठा तो द्वार पर जमा लोगों की भीड़ से परेशान हो उठा। उसके पिता की स्थिति बिगड़ गयी थी। पेट में असहनीय दर्द से वह बार-बार बेहोश हुए जाते। वह उनकी इस हालत को देखकर बहुत घबराया, दहशत से साँसे बेतरतीब हो गयीं। लोगों ने तसल्ली दी और तात्कालिक दवा से पिता की चेतना लौटी तो उसे राहत मिली। वह समझ गया था कि आगे क्या होने वाला है और यह भी जान गया था कि उसके आने का असल कारण यही था, कर्तव्य की बेदी पर अपने उत्सर्ग का समय आ गया था। उसने देर न की। उसी दिन वह अपनी माँ को तैयार कर पिता को लेकर दिल्ली के लिए निकल गया था।

उसने बहुत मिहनत की। तरह-तरह की जाँच, दवा-इलाज और सेवा-सुश्रुषा। पर निकला वही जो अन्देशा था। कुछ वर्ष पहले हुए पेट के ऑपरेशन के समय चढ़ गये गलत खून ने लीवर में कैंसर की जगह बना ली थी जिसके कारण उनको बचाया न जा सका। वे गये तो युद्ध का एक बड़ा मोर्चा तैयार कर गये जहाँ वर्षों से घात लगाये

फरीक बैठे थे जो सौ वर्ष पहले के बँटवारे में अपना खो गया हिस्सा पाने को आतुर थे। वे कभी फसल काट लेते तो कभी खेत जोत लेते। मुकदमा कचहरी, पुलिस, उपद्रव और पिता का साया उठ जाने से बेलगाम परिवार। सबके बीच जूझता प्रभाकर संस्कृति प्रतिष्ठान की यातनाभरी नौकरी से लड़ता, तो कुमुद के न्याय के लिए कुलवन्त की तिकड़म का जवाब देता। अन्त कहीं न था, सब में लम्बी प्रतीक्षा थी और पागलों की भाँति भागते-दौड़ते हुए फिर भी एक उम्मीद के आसरे जीना था जिसका कोई पता न था, न कोई ओर-छोर।

अन्तिम बार कब उससे भेंट हुई थी, उसकी भी याद नहीं। पर अब जब खबर मिली है कि प्रभाकर गम्भीर रूप से बीमार है, दिल बैठ-बैठ जा रहा है। वह दिल्ली में होता तो निश्चय ही मिलने की कोशिश करता, पर अब तो वह लखनऊ के किसी अस्पताल में पड़ा है। बताते हैं कि संस्कृति प्रतिष्ठान के निदेशक की अवैध कारगुजारियों के विरुद्ध उसने आवाज़ उठायी तो उसे लखनऊ भेज दिया गया। बीमार होने के बावजूद उसे फौरन चले जाने का फ़रमान जारी कर दिया गया। उसने इस गलत तबादले को रुकवाने की कोशिश की, पर किसी ने भी उसकी परेशानी को न समझा। वहाँ गया तो जाते ही स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि अस्पताल में दाखिल कराना पड़ा। जाने उसे कौन-सा रोग है जिसमें वह बार-बार अचेत हो जाता है। चेतना आती है, तो कभी पिता-का नाम लेकर पुकारता है, तो कभी कुमुद को यादकर उसे सांत्वना देता है ‘तुम जीतोगी, धीरज रखो। साथ समझना।’ कभी गाँव में पड़ी पत्नी को याद कर सुबक पड़ता है, तो कभी माँ को सम्बोधित कर कहता है—‘मैं हूँ, चिन्ता न करना। हर अत्याचार का अन्त होता है, जल्दी आऊँगा, बिल्कुल आऊँगा।’

एक साथ इतने मोर्चों पर लड़ते हुए वह अकेला है। कोई उसके साथ नहीं। डॉक्टर उम्मीद जताते हैं कि वह ठीक हो जाएगा लेकिन ठीक होने के बाद उसे तनाव से बचाना होगा। चालीसवें वर्ष के

आसपास की उसकी देह इतना कुछ एकसाथ झेल नहीं सकती। समय विकट है, सब तरफ निराशा है और घात लगाये बैठे हुए शत्रु हैं। पर उम्मीद है, वह फिर उठ खड़ा होगा। अब तक तो वह अकेले ही लड़ा है, अब भी अकेले ही लड़ेगा। यह उसका प्रारब्ध है या भवितव्य, या कि सबमें अपने को बाँटकर जीने की परिणति; नहीं कह सकते, लेकिन इतना तो कह ही सकते हैं कि सब में होते हुए उसका यह अकेला होना उसका अजीब होना नहीं है। तो क्या है अजीब, कभी हमने विचार किया? कभी सोच भी पाये कि आखिर प्रभाकर क्यों इस दशा को प्राप्त हुआ? आप यह न समझें कि हम इसके लिए आपको जिम्मेवार ठहरा रहे हैं। जिम्मेवार तो वह परिस्थितियाँ रहीं, पर परिस्थितियाँ? जाने भी दें। भरोसा रखें और कामना करें कि वह उठकर खड़ा हो जाए और फिर लड़ सके। बात जीत-हार की नहीं, लड़ने की है और समय की रेत पर चलते हुए भी वह अवश्य लड़ेगा, तब तक, जब तक साँस टूटने से इनकार करती रहेगी।

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

यदि आप दुर्लभ , प्रेरणादायक पुस्तकों, धार्मिक ग्रंथों

और अनुवादित साहित्य की खोज में हैं,

तो हमारे विशेष ➡️  टेलीग्राम चैनल से जुड़ें

और अनमोल साहित्य का आनंद लें।

 हमारे चैनल में आपको मिलेगा:

 अद्वितीय और दुर्लभ उपन्यास (Novels)

 प्रेरणादायक पुस्तकें (Motivational Books)

 धार्मिक ग्रंथ और किताबें

 विभिन्न भाषाओं में अनुवादित साहित्य

 बेहतरीन पत्रिकाएं (Magazines)

 और अन्य दुर्लभ साहित्यिक खजाने

 कृपया "Join Now" बटन या लिंक पर Click करें!

HINDI BOOKS CHANNEL

[Join Now](#)  (धार्मिक, आजादी, इतिहास...से सबधित)

https://t.me/Hindi_Books_Library

साहित्य प्रेमियों के लिए खास पेशकश!

(नई, पुरानी किताबों के लिए)

Join Now 

https://t.me/Book_Hindi

ENGLISH BOOKS CHANNEL

Join Now 

https://t.me/Google_Ebooks

Join Now 

https://t.me/English_Library_Books

(ALL CHANNEL LINKS)

Join Now 

<https://t.me/Hindilibrary>